CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१·१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

११

श्रीअभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

श्रीकैलासविद्यालोकस्य सप्तविंशः सोपानः

शुक्लयजुर्वेदकाण्वशाखीया

ईशावास्योपनिषद्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्योपेता

टिप्पणकारः

अनन्तश्रीविभूषितमहामण्डलेश्वरविद्यावाचस्पतिः

श्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिः

राष्ट्रभाषाव्याख्याकारः

श्रीकैलासपीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वर-

श्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री कैलासविद्यालोकस्य सप्तविंशः सोपानः ।

शुक्लयजुर्वेदकाण्वशाखीया

ईशावास्योपनिषद्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्योपेता

गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणीपरिष्कर्ता

विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर अनन्त श्री

स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि जी महाराज

राष्ट्रभाषाव्याख्याता :

कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर अनन्त श्री

स्वामी विद्यानन्दगिरि जी महाराज

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य,

सम्पादक :

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री, स्वामी केशवानन्द सरस्वती

ब्र० रामानन्द शास्त्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशक :
श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति,
ऋषिकेश, (उ. प्र.)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण २२००, सन् १९७८

★ पुस्तक प्राप्ति स्थान ★

- श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१ (उ. प्र.)
- श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१५३ (उ. प्र.)
- श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार
- श्री दक्षिणामूर्ति सं. म. विद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१००१
- श्री चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
- श्री चौखम्बा विश्व भारती, चौक, वाराणसी-२२१००१
- श्री मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक—श्री कैलास विद्या प्रेस, श्री ब्रह्मानन्द आश्रम, मुनि-की-रेती, ऋषिकेश (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूमिका

संसार के सभी धर्मावलम्बी अपने २ धर्मग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, तो फिर वेद को ही ईश्वरीय ज्ञान मानना उससे भिन्न ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान न मानना इसमें क्या विनिगमक हो सकता है ? उत्तर यह है कि इतिहास तथा आधुनिक अन्वेषण भी इस विषय में प्रमाण हैं। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर से लेकर वेद के सम्बन्ध में अन्वेषण करने वाले भारतीय श्री लोकमान्यतिलक पर्य्यन्त विद्वानों ने भी वेदों को सबसे पुराना ग्रन्थ माना है।

हमारे विचार से वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुष के बनाए हुए नहीं हैं —

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु० ३१।७)

(उसी सर्वज्ञ परमेश्वर से ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद उत्पन्न हुए) इस वेद मन्त्र में परमेश्वर से वेद की उत्पत्ति बतलाई गयी है; फिर भी सृष्टि के प्रारंभ में "धाता यथापूर्वमकल्पयत" के अनुसार पूर्वकल्पानुपूर्विक ही वर्णतः स्वरतः तथा मन्त्रतः भी वेदों का परमेश्वर से प्रादुर्भाव श्वास-निःश्वास की भाँति हुआ है। सामान्य व्यक्ति से लेकर ऋषि पर्यन्त किसी ने भी वेदों की रचना नहीं की है। शाखाओं के प्रवर्त्तक होने से कठशाखा इत्यादि नाम पड़ गए हैं; वे वेद कर्म, उपासना और ज्ञान ऐसे तीन भाग में विभक्त हैं। पहले के दो भागों में विहित कर्म और उपासना के अनुष्ठान से विशुद्धान्तःकरण वाले पुरुष केलिए ही ज्ञान का विधान किया गया है। इसी ज्ञानकाण्ड में प्रतिपादित विद्या को ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या कहते हैं। इसप्रकार उपनिषदों की 'प्रामाणिकता न केवल' वैदिक धर्मावलम्वियों की दृष्टि में है, अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनका महत्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, बहुत से निष्पक्ष विचारशील पाश्चात्य विद्वानों ने औपनिषद सिद्धान्त को अपने जीवन में आत्मसात् भी किया है। संहिता भाग मात्र को वेद मानने वाले व्यक्ति भी ईशावास्योपनिषद् की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं करेंगे; क्योंकि यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय रूप है। प्रथम मन्त्र के प्रतीक को लेकर ही इसका नाम ईशावास्योपनिषद् पड़ गया है।

इस समय उपलब्ध उपनिषदों में से प्रायशः ईशादि दश उपनिषदों पर आचार्यों का भाष्य मिलता है। अतः इनकी प्रामाणिकता में किञ्चित् सन्देह नहीं हो सकता। आचार्य भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्य जी ने ईशावास्यादि दश उपनिषदों पर भाष्य लिखकर वेदान्तमार्ग को प्रशस्त बना दिया; जो अद्वैतवाद का प्रतिपादक श्रौतसिद्धान्त का अनुपम ग्रन्थ है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने उस पर धूलि प्रक्षेप का असफल प्रयत्न किया है, तथापि निष्पक्ष विवेक-शील व्यक्ति को अद्वैत ही श्रौत सिद्धान्त प्रतीत हुआ है और आज भी हो रहा है। श्रुतियों का ही समन्वय ब्रह्मसूत्र में है और तात्पर्यरूप श्रीमद्भगवद्गीता है। इसीलिए इन्हें प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं—इनके ऊपर प्रातः स्मरणीय आचार्यभगवत्पाद का शांकर भाष्य लोक विख्यात है। भाष्य का तात्पर्य अद्वैत वेदान्त आचार्य के मुख से अध्ययन कर के ही जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं। "संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्" इस वाक्य के अनुसार वेदान्त श्रवण और विचार के मुख्य अधिकारी चतुर्थाश्रमी यति ही माने गए हैं। "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" के अनुसार आचार्य मुख से ही वेदान्त श्रवण का आदेश श्रुति देती है। स्वातन्त्र्येण वेदान्त विचार से न केवल अपूर्व लाभ से वञ्चित होना पड़ेगा, अपितु तदर्थ ज्ञान में विपर्यय भी हो जाता है। अतः अद्वैत वेदान्त के आचार्यमुख से ही वेदान्त का श्रवण कर अनुशीलन से श्रुति एवं तद्भाष्य के रहस्यमय अर्थ को जान कर उसे अपने जीवन में आत्मसात् करना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा की ईशावास्योपनिषद् के ऊपर अन्य उपनिषदों की अपेक्षा सर्वाधिक भाष्य एवं टीकाएँ उपलब्ध हैं, सभी ने अपने विचारों को श्रुति सम्मत बनाने के लिए अथक परिश्रम किया है। हमने भी इसके अनेक भाष्य व टीकाएँ देखीं, किन्तु आचार्य भगवत्पाद विरचित शाङ्कर भाष्य ही समीचीन प्रतीत हुआ। अतएव इसके रहस्य को समझाने के लिये एक लघु प्रयत्न हमने किया है। इसकी सफलता के विषय में पाठक ही प्रमाण होंगे।

शांकर भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिए आनन्दगिरि टीका एक मात्र साधन है किन्तु संस्कृत में होने के कारण वह हिन्दी भाषा भाषियों के लिए उपयुक्त नहीं है अतः यह आवश्यक था, कि हिन्दी भाषा के माध्यम से उपनिषदों एवं उनके शाङ्करभाष्य का रहस्य उद्घाटन किया जाय। यद्यपि सम्प्रति कुछ उपनिषद् शाङ्करभाष्य के अनुवाद उपलब्ध भी हैं फिर भी हिन्दी भाषी पाठकों की ओर से सदा यह शिकायत रही, कि लोक विख्यात उपनिषद् शाङ्कर भाष्य का मर्म स्पर्शी कोई अनुवाद व टीका हिन्दी में ऐसी नहीं है, जिसके आधार पर उसका रहस्य समझा जावे, जैसे के तैसे शब्द रख देने से न हिन्दी भाषा भाषियों के लिए उपयुक्त हैं और न संस्कृत भाषाभाषियों के लिए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये शाङ्कर भाष्य की भाष्यार्थदीपिका नामक हिन्दी टीका हमने इस पर लिखी है। इसमें जो अच्छी बात है, वह गुरुजनों की है और जो त्रुटि है वह हमारी। यदि हमारा यह प्रयत्न उपनिषद् शाङ्करभाष्य को समझाने के लिये कुछ उपयुक्त सिद्ध हुआ, तो क्रमशः सभी उपनिषद् शाङ्कर भाष्य पर भाष्यार्थ-दीपिका लिखी जा सकेगी।

भारत के सुप्रसिद्ध ऋषिकेशस्थ कैलासआश्रम में विशुद्ध शाङ्करी परम्परा के अनुसार अद्यावधि अध्ययन अध्यापन हो रहे हैं। कैलासाश्रम के मनीषियों ने आनन्द गिरि टीकासहित प्रस्थानत्रयी शाङ्कर भाष्य पर गम्भीर चिन्तन के बाद टिप्पण लिख रखे हैं, जो ग्रन्थ लगाने में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसके विना ग्रन्थ का लगना दुःशक्य है। कैलासाश्रम में आने पर सर्वप्रथम इस धरोहर की ओर हमारा ध्यान गया। अतः इस प्रकाशन में उसे भी सम्मिलित कर लिया गया। गोविन्द प्रसादिनी टिप्पणी, आनन्दगिरि टीका एवं भाष्यार्थ दीपिका के सहित ईशावास्योपनिषद् का यह संस्करण अपूर्व होगा। कैलासआश्रम शताब्दी समारोह उपलक्ष्य में कैलासाश्रम शताब्दी समारोह महासमिति ने अपनी अनेकधा माङ्गलिक प्रवृत्तियों में प्रकाशन कार्य का भी निश्चय किया है। एतदर्थ श्रीकैलास विद्या प्रेस की स्थापना की गयी। जिसमें इसका प्रकाशन हुआ है। गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी की प्रेस कापी करने में हमारे प्रिय श्री ब्र. विष्णु चैतन्य जी ने अथक परिश्रम किया है। शोध्यपत्र के संशोधन में श्री डा० उमेशानन्द जी शास्त्री, ब्र. रामानन्दजी शास्त्री तथा श्री स्वामी केशवानन्द सरस्वती जी का प्रयत्न श्लाघनीय है। ये सभी पुण्यात्मा भगवत्कृपा के पात्र हैं एवं हम इनकी मंगल कामना करते हैं।

अन्त में हम पाठकों से पुनर्निवेदन कर देना चाहते हैं कि अद्वैत वेदान्त के आकर ग्रन्थ उपनिषद् शाङ्कर भाष्य के तात्पर्य को बतलाने वाली उसकी भाष्यार्थ दीपिका तथा टिप्पणी का अनुशीलन कर यदि हमें आप इस सम्बन्ध में कुछ संकेत करेंगे, तो यथासम्भव इसके अग्रिम संस्करण में एवं विशेष रूप से अन्य उपनिषदों की भाष्यार्थ दीपिका में उसका परिमार्जन किया जायेगा। इत्यों शम्।

मिति अक्षयतृतीया वि० २०३५

भगवत्पादीय

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि

कैलास आश्रम मुनि की रेती

ऋषिकेश (उ० प्र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राक्कथन

भारत आज एक मोड़ पर खड़ा है एवं इसे निर्णय करना है कि प्राचीन ऋषिपूत संस्कृति के आधार पर नैतिक अर्हाओं का समन्वय करना है अथवा अर्वाचीन विदेशी संस्कृति के आधार पर। प्रश्न जटिल है, दुर्भाग्य से विदेशी ग्रन्थों की सुलभता आर्ष ग्रन्थों की दुर्लभता के समान ही है। शिक्षित समाज आर्ष दर्शनों को भी या तो विदेशी उपनेत्रों से देखता है और या वर्तमान अश्रद्धेय मान्यताओं में उसे प्रतिबद्ध करने का प्रयास करता है। यदि दैवतसंस्कृति का पुनः प्रतिस्थापन करना है तो इन दोनों दृष्टियों का परित्याग करके आर्ष दृष्टि समझनी व समझानी होगी। एतदर्थ अनुवाद आवश्यक है। स्वामी विद्यानन्दजी का प्रयास इसी दृष्टि से है।

भारतीय संस्कृति को समग्ररूपसे अवलोकन कर उसकी पाश्चात्य दर्शन व धर्म से तुलना हमें इस निश्चय पर पहुँचाती है, कि अद्वैत दर्शन से व्यतिरिक्त हमारी और कोई थाती नहीं है जो हमें उनसे भिन्न या उत्तम सिद्ध कर सके। अन्य सभी दर्शनों में तत्रत्य विचारक हमसे भी सूक्ष्मतर विचार कर पाते हैं, पर आत्मा के विषय में अभी तक वे अन्धकार में ही हैं एवं सांख्य प्रक्रिया तक भी पहुँच नहीं पाये हैं। यही कारण वहाँ के धर्म व दर्शन के विरोध का ही नहीं, धर्म एवं विज्ञान के भी विरोध का है। आचार्य शंकरभगवत्पाद ने हमारें सामने एक ऐसा धर्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो हमें सभी विरोधों के परिहार का शस्त्र देता है। इसका उपयोग अनाड़ियों ने सभी प्रकार की मान्यताओं व मजहबों की समानता सिद्ध करने में करके राष्ट्र व धर्म की हानि तो की ही है, शांकर सिद्धान्त को भी अश्रद्धेय बना दिया है। दूसरी तरफ जीवन से सर्वथा भिन्न करके अद्वैत दर्शन को उपहासास्पद बनाने का कार्य भी किया गया है। शंकरभगवत् के ग्रन्थों का अध्ययन इस कमी को पूरा करेगा।

भाष्यार्थदीपिका अनुवाद स्वतन्त्र है। अतः मूल के भावों को समझने मात्र में प्रर्यवसित न होकर व्याख्याता के मनन में प्रवेश देने में समर्थ है। यथा कर्मशेषत्व में तत्सम्बन्धी मीमांसा विचार अथवा पृ. ३५ पर कर्मसमुच्चय के विषय में भास्कर मत संग्रह पृ० ४५ पर पुरुषार्थमीमांसा आदि भी व्याख्याता के विचारों को समझने में मदद देती है।

हमें पूर्ण आशा है कि अब सभी उपनिषदों पर विद्वान् व्याख्याता के मननात्मक अनुवाद शीघ्र उपलब्ध होंगे, इनसे भारतीय संस्कृति की एक विशेष धारा का विकसित होना संभव हो पायेगा। विद्वान् व्याख्याता की हम सर्वप्रकारेण सफलता चाहते हैं।

निरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज
त्रिपुरसंहारोत्सव २०२५ वि०
संन्यास आश्रम देहली–६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीशाखानुसार-मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥९॥

अन्यदेवाऽऽहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ १७ ॥

ॐ खं ब्रह्म ॥१८॥

ॐ पूर्णमित्यादिशान्तिः ३ ॥

इति शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीशाखान्तर्गता ईशावास्योपनिषद् । (शु. य. सं. अ. ४०) ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ॐ

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादो विजयतेतराम्

ईशावास्योपनिषद्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्योपेता

ॐ [1]पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

[ॐ=वह (निरुपाधिक परब्रह्म) पूर्ण है, और यह (सोपाधिक कार्यब्रह्म भी) पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण आविर्भूत हुआ है। (तथा तत्त्व साक्षात्कार के समय एवं प्रलय काल में) पूर्ण (सोपाधिक कार्यब्रह्म) के पूर्णत्व को लेकर (अर्थात् अपने में लीन करके) पूर्ण (निरुपाधिक परब्रह्म) ही शेष बचा रहता है ।। त्रिविध ताप की शान्ति होवे ।]

भाष्यार्थ दीपिका—यह शुक्ल यजुर्वेद का शान्तिपाठ है, इसमें शान्तिपाठ के व्याज से सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य अद्वैतब्रह्म का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, साथ ही त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना भी दिखायी गयी है।

"प्रणवः सर्ववेदेषु" (सम्पूर्ण वेदों में प्रणव ॐ मैं हूं) इस भगवद्गीता वाक्य के अनुसार प्रणव सम्पूर्ण वेदों का प्रतिपाद्य परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। इस प्रणव ने अपने अर्थ गाम्भीर्य के कारण न केवल तीनों लोकों को अपनी तीनों मात्राओं से मापा है, अपितु लोकातीत-माया एवं उसके कार्य के अधिष्ठान-परमेश्वर को भी लक्षणा के द्वारा अमात्रपद से ज्ञापक होने के कारण उसे भी माप रखा है । अतः सम्पूर्ण वेद एवं उपनिषद् तथा विशेष रूप से माण्डूक्योपनिषद् इसी प्रणव की महिमा गा रहे हैं।

---

१. विद्योत्पत्तावन्तरायविघातायादौ शान्तिमन्त्रं पठति ॐ पूर्णमद इत्यादिम् । अस्यार्थः अदस्तत्पदलक्ष्यं ब्रह्म, पूर्णमाकाशवद्व्यापि अपरिच्छिन्नमितियावत् । इदं च त्वंपदलक्ष्यं जीवस्वरूपमपि पूर्णम् । ननु द्वयोः पूर्णत्वं विरुद्धं वस्तुपरिच्छेदादित्यत आह पूर्णादित्यादि । पूर्णाद्ब्रह्मणः पूर्णमेव जीवस्वरूपमुदच्यत उद्रिच्यत उदेतीति यावत् । पूर्णस्य परिणामासंभवेन तत उत्पद्यमानस्यौपाधिकत्वमेव महाकाशादुद्गच्छतो घटाद्याकाशस्य तथा दर्शनात् । औपाधिकस्य च तदेव तथ्यं रूपं यतः स उदेतीति निदानाभेदात् पूर्णादुद्रिच्यमानं पूर्णमेवेति भावः । ननु जीवस्वरूपस्य पूर्णत्वे कुतस्तन्नानुभूयते तत्राह-पूर्णस्येत्यादि । 'पूर्णस्य यत्पूर्णं स्वरूपं तन्मात्रमादाय उपाध्यंश-मपहायेति यावत् । पश्यत इति शेषः । पूर्णमेवावशिष्यते—पूर्णमेवस्वरूपमवभातीति यावत् । घटेनसहावलोक्य-मानस्य नभसोऽपूर्णत्वभानेऽपि घटांशं विहायावलोकने पूर्णत्वस्यैवानुभवो यथेति भावः । त्रिःशान्तिरितिपठनन्त्वा-ध्यात्मिकादि त्रिविधोपद्रवशमनायेति ध्येयम् । आदौ च प्रणवघोषो वेदोच्चारणनियतो मङ्गलमातनोतीति विज्ञेयम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसका विशेष विवेचन उन उपनिषदों की भाष्यार्थ दीपिका में यथा समय किया जायेगा। संक्षेपतः यहाँ पर इतना ही समझें, कि प्रणव अपनी तीनों मात्राओं के द्वारा शक्तिवृत्ति से कार्य ब्रह्म का और अमात्रपद से कारण-परब्रह्म का प्रतिपादन कर रहा है।

कार्यब्रह्म तथा कारण ब्रह्म भेद से परमेश्वर के दो रूप हैं। प्रत्यक्ष तथा तर्क एवं आगमादि प्रमाणों से प्रतीयमान जगत् परमात्मा के कार्यरूप हैं और केवल वेदान्तप्रमाणैकगम्य विशुद्ध-चैतन्य कारण ब्रह्मरूप है इसे सोपाधिक तथा निरुपाधिक भी कहते हैं। अविवेकियों को कारणब्रह्म सदा परोक्ष ही रहता है एवं तत्त्ववेत्ताओं को भी ब्रह्माकारवृत्ति का विषय नहीं होता, किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी ही रहता है। अतएव इस शान्तिपाठ में उसे परोक्ष अर्थ का वाचक "अदः" इस शब्द से कहा गया है। वह कारण ब्रह्म पूर्ण है, क्योंकि व्यापक होने से सभी देश में, नित्य होने से सभी काल में तथा आत्मरूप से सभी वस्तुओं में विद्यमान है।

यह दीखने वाला कार्य-जगत् भी पूर्ण ही है, क्योंकि तत्वतः यह भी ब्रह्मरूप ही है एवं उसी से प्रकट हुआ है। चैतन्यब्रह्म में, अध्यस्त प्रपञ्च में ब्रह्म की ही सत्ता, स्फूर्ति तथा प्रियत्व दीखता है। यदि प्रपञ्च में से इन तीनों को निकाल लिया जाय, तो प्रपञ्च का अस्तित्व नहीं रहेगा। वह असत् जड़ और दुःख रूप हो जायेगा और केवल पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा।

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की शान्ति के लिए तीन बार शान्ति कहा गया है। प्रपञ्च अध्यस्त है, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। अध्यस्त पदार्थ की सत्ता अधिष्ठान के साक्षात् होने से पूर्व तक ही रहती है। भ्रमकाल में अधिष्ठान के सामान्य अंश के साथ ही अध्यस्त की प्रतीति होती है, उसके बिना नहीं। एवं अधिष्ठान के विशेष अंश को देखने के बाद वह अधिष्ठान ही शेष रह जाता है। अध्यस्त पदार्थ का तो अत्यन्ताभाव ही हो जाता है। इसी अधिष्ठान तथा अध्यस्तभाव (ब्रह्म एवं प्रपञ्च में अन्योन्याध्यास) को इस शान्ति पाठ से दिखलाया गया है। यही शाङ्कर वेदान्त का सिद्धान्त है और इसी की सूचना यहाँ से मिल रही है। अतः केवलाद्वैत शाङ्कर सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन इस वाक्य से किया गया है।

उप - नि पूर्वक सद् धातु से उपनिषद् शब्द बनता है। उप = समीप; नि = नितांत; सद् = नाश, गति और अवसादन अर्थ होता है। अर्थात् जिसके प्राप्त हो जाने पर अवश्यमेव अनादि अज्ञान का नाश, सर्वात्मा ब्रह्म की प्राप्ति तथा अविद्याजन्य-संसार दुःखों की शिथिलता हो जाती है, उसी को उपनिषद् कहते हैं। ऐसी वस्तु ब्रह्मज्ञान ही है। अतः ब्रह्मज्ञान को ही उपनिषद् कहते हैं। ब्रह्मज्ञान का प्रापक होने से ग्रन्थ को भी गौणीवृत्ति से उपनिषद् कह देते हैं। तभी तो "मैं उपनिषद् पढ़ता हूं" "उपनिषद पढ़ाता हूं" ऐसा लोक-व्यवहार होता है।

उपनिषद् संहिताभाग, आरण्यक-ब्राह्मण भाग दोनों में देखी जाती है। यह ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के काण्वशाखा तथा माध्यन्दिनीशाखा दोनों के ही चालीसवाँ अध्यायरूप है। इसमें शाखाभेद से कहीं २ पाठ-भेद भी है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य जी ने काण्वशाखा के ईशोपनिषद् पर भाष्य किया है। इसका नाम इसके प्रारंभिक मन्त्र के प्रथमपद को प्रतीक मानकर ही रखा गया है।

शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता भाग की होने के कारण अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इसका महत्व अधिक है। जो लोग संहिता भाग को ही वेद मानते हैं, ऐसे आर्यसमाज के विद्वज्जन भी इसे प्रमाणिक मानेंगे ही। अतएव इसके ऊपर अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अधिक भाष्य तथा टीकायें लिखी गयीं हैं और आज भी लिखी जा रही हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्याऽऽत्मनो याथात्म्य-

'येनाऽऽत्मना परेणेशा व्याप्तं विश्वमशेषतः। सोऽहं 'देहद्वयीसाक्षी 'वर्जितो देहतद्गुणैः ॥१॥

ईशा वास्यमित्यादिमन्त्रान्व्याचिख्यासुर्भगवान्भाष्यकारस्तेषां 'कर्मशेषत्वशङ्कां तावद्व्युदस्यति। तथाहि 'कर्मजडाः केचन मन्यन्ते स्म। ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मशेषा मन्त्रत्वाविशेषादिषे त्वादिमन्त्रवत्। अतः 'पृथक्प्रयोजनाद्यभावादव्याख्येया इति तान्प्रत्याह–ईशा वास्यमित्यादय इति।

वैदिक संहिता भाग के जितने भी मंत्र हैं उन सभी के ऋषि, देवता और छन्द होते हैं, तथा कल्पसूत्रों में उन सभी मंत्रों का किसी न किसी कर्म में विनियोग बतलाया गया है। कर्म से सम्बन्ध न रखनेवाले वेदभाग प्रामाणिक नहीं माने जा सकते, क्योंकि "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम-तदर्थानाम्" इस जैमिनी सूत्र के अनुसार कर्म से सम्बन्ध रखनेवाले वेदभाग को ही सार्थक कहा गया है। तदनुसार ईशोपनिषद् में कहे गये मंत्रों का भी कर्म में विनियोग मानना चाहिए। साक्षात् विनियोजक प्रमाण न दीखने पर भी इन मंत्रों का जप में विनियोग अदृष्ट के लिये मानना चाहिए, अन्यथा इन मंत्रों में आनर्थक्य आ जायेगा। कर्म में दुराग्रह रखनेवाले कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है। उनका यह भी कहना है कि मंत्रत्व तो सभी मंत्रों में समान ही है। अतः अन्य मंत्रों की भाँति ईशावास्योपनिषद् के मंत्रों का भी कर्म में विनियोग होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति में धर्मोपार्जन से भिन्न प्रयोजन न रहने के कारण इन मंत्रों की व्याख्या अनावश्यक है। ऐसे लोगों के प्रति 'ईशावास्यमित्यादयः' वाक्य से भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि–"ईशावास्यादि मंत्रों का कर्म में विनियोग नहीं है, क्योंकि जो कर्मों का शेष नहीं है, ऐसे आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले ये मंत्र हैं।" कर्मशेषत्व = अंगत्वबबोधक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ऐसे ६ प्रमाण हैं। जिनसे कर्मशेषत्व का बोध होता है। इनमें पूर्वपूर्व की अपेक्षा उत्तर २ दुर्बल होते हैं।

'व्रीहिभिर्यजेत, दध्ना जुहोति' इत्यादि वाक्यों में तृतीया श्रुति से व्रीहि = धान्य में याग का शेषत्व तथा दधि में होम का शेषत्व अवगत हो रहा है। यहाँ पर यागादि क्रिया प्रधान हैं और व्रीहि इत्यादि उनके शेष = अंग है, ऐसा तृतीया श्रुति से जाना जा रहा है। एवं 'इषे त्वा' इस मंत्र को "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" इसे बोलकर पलाश शाखा का छेदन करे) अर्थात् पलाश शाखा छेदन

२. ईशेत्याद्युपनिषदि विद्याप्रकरणप्रतिपाद्यं तत्त्वमेव परममङ्गलरूपं स्मरन्निबध्नाति-येनेति। आद्यमन्त्रोक्तस्येश आत्माभिन्नत्वं यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदित्यतोऽवगतमात्मनेशेति सामानाधिकरण्येनोक्तम्। तस्मिन्नपोमा-तरिश्वादधातीत्यादिनाऽस्यातमस्य परत्वं परेणेत्युक्तम्। व्याप्तमित्यादिराद्यमन्त्रपूर्वार्धार्थस्यैव संक्षेपः। तस्यैव-विवक्षितोऽर्थो येन व्याप्तं सोऽहमिति, वक्ष्यति हि स्वयं सर्वात्मक ईश्वरोस्मीति ज्ञातव्यमेषतत्त्वोपदेशश्छान्दो-ग्यतत्त्वमसीतिवदित्यर्थ इति। कविरित्यादिनोक्तं सर्वद्रष्टृत्वं देहद्वयीसाक्षीति संक्षिप्तम्। अकायमित्यादिप्रतिपाद्यं देहादिराहित्यं चतुर्थचरणेन संगृहीतमिति ध्येयम्। २. देहद्वयीति- निरावरणस्यैवात्र विवरणाधिकार इति ध्वनयितुं द्वयीत्युक्तमन्यथा त्रयीतिस्यादिति ध्येयम्। कारणाभावेऽपि कार्यावस्थानं तु दण्डवियोगेऽपि (समवा-यिकारणनाशादपि कार्यनाशमभ्युपगच्छतां समवायिकारणनाशेऽपि क्षणं कार्यावस्थितिवदिति वाऽनुरूपनिदर्शनो-क्तिरिति ध्येयम्) किंचित्कालं चक्रभ्रमिवदविरुद्धं प्रकृतेप्रारब्धस्यैव वेगस्थानीयत्वात्। ३. ननु कार्यसत्वे कारणाभावोऽकिञ्चित्कर इत्यत आह- वर्जित इति। वस्तुतस्तद्वर्जितस्यापि तत्साक्षित्वे स्वप्नद्रष्टा निदर्श-यितव्य इति। ४. कर्मशेषत्वशङ्कामिति– कर्मसम्बन्धित्वेति यावत्। ५. कर्मजडाः = कर्मैवपुमर्थसाधनं नेत-रदितिबलवदाग्रहा इति यावत्। ६. पृथक् = कर्मकाण्डात्पृथगित्यर्थः। प्रयोजनादीत्यादिना शेषानुबन्धग्रहः। अव्याख्येया इति– नहि विशिष्टानुबन्धविधुरोग्रन्थो व्याख्यानमर्हत्यफलत्वादिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं चाऽऽत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि

कर्मस्वविनियुक्ता इति । इषे त्वेति शाखां छिनत्तीत्यादिवद्विनियो[1]जकप्रमाणादर्शनात्प्र[2]करणान्तरत्वाच्चेत्यर्थः । [3]श्रौतविनियोगाभावेऽपि बर्हिर्देवसदनं दामीत्यस्य बर्हिर्लवनप्रकाशन[4]सामर्थ्याद्बर्हिर्लवने यथा विनियोगस्तथा कर्मशेषात्मप्रकाशनसामर्थ्येन कर्मस्वेषां विनियोग इत्यपि नाऽऽशङ्कनीयमित्याह–तेषामिति । शुद्धादिविशेषणस्याऽऽत्मनः कर्मशेषत्वे [5]प्रमाणाभावात्तद्याथात्म्यं न केवलं कर्मानुपयोगि किंतु कर्मणा विरुध्यते चेत्याह—याथात्म्यं चेति । [6]शुद्धोऽहं स्वभावतो नाऽऽगन्तुकेनापि पाप्मना विद्धः

करते समय इस मन्त्र का विनियोग करना चाहिए । इस प्रकार विनियोग बतलानेवाला ब्राह्मण-वाक्य है। वैसे ही ईशादि मन्त्रों का अमुक कर्म में विनियोग करें, ऐसा विनियोजक कोई वाक्य दीखता नही है।

अभिप्राय यह है कि याग में पुरोडाश की आवश्यकता होती है, पुरोडाश के लिये दूध चाहिए। गोदोहन काल में वत्स अपाकरण (बछड़े को हटाना) पलाश दण्ड से किया जाता है। पलाश दण्ड के लिये पलाश काष्ठ का छेदन करते समय "इषे त्वा" इस मन्त्र को बोला जाता है। इसका विनियोजक वाक्य मिल जाता है । अतः "इषे त्वा" इत्यादि मन्त्र कर्म के शेष जैसे वाक्य प्रमाण से माने जाते हैं, वैसे ही किसी कर्म में आत्मा का विनियोजक वाक्य मिलता तो आत्मा भी कर्म का शेष माना जा सकता था । विनियोजक के अभाव में कर्म का शेष आत्मा को नहीं कहा जा सकता है ।

कर्म के प्रकरण में आत्मा के याथात्म्य का प्रतिपादक ईशादि मन्त्रों का पाठ भी नहीं है। ये मन्त्र भिन्न प्रकरण में पढ़े गये हैं, कर्म के प्रकरण में नहीं । यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्गकामपुरुष दर्शपूर्णमासयाग से इष्ट की भावना करें) इस दर्शपूर्णमास याग में कथंभाव आकांक्षा होने पर उसके समीप में पढ़े गये "समिधो जयति" (समिद् याग से इष्ट की भवना करें) समिद् यागादि पञ्च प्रयाजों का प्रकरण प्रमाण से दर्शपूर्णमास में विनियोग माना जाता है क्योंकि 'फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्' (फलवान् के समीप में पढ़ा हुआ फलशून्य उसका अङ्ग माना जाता है) इस न्याय से दर्शपूर्णमास के अङ्ग प्रयाजादि हो जायेंगे । दर्शपूर्णमास में स्वर्गफल का श्रवण हो रहा है, किन्तु प्रयाज में किसी फल का श्रवण नहीं है और ये दर्शादि के निकट पढ़े गये हैं । अतः प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादि उसके अङ्ग हो जाते हैं। प्रकृत में ईशादि मन्त्रों द्वारा बतलाये गये आत्मविज्ञान से शोक मोह का सन्तरण रूप फल पृथक् सुना जाता है । अतः ईशादि मन्त्रों को फलशून्य नहीं कह सकते ।

कथञ्चित् श्रौतविनियोग के अभाव में भी लिङ्ग प्रमाण होने पर "बर्हिर्देवसदनं दामि" इस इस मन्त्र में बर्हिनामक तृण के छेदनरूप अर्थ का प्रकाशन इस मन्त्र से हो रहा है। अतः बर्हिछेदनरूप कर्म में इस मन्त्र का लिङ्गप्रमाण से विनियोग किया जाता है । वैसे यहांपर यदि आत्मा कर्म का शेष होता तो कर्मशेष आत्मा के प्रकाशक होने से इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग हो सकता था । आत्मा शुद्ध है, पाप से सर्वथा विमुक्त है, एक है, नित्य है, शरीर रहित है तथा सर्वव्यापक है । इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक होने से इन मंत्रों का कर्म में विनियोग होना तो दूर रहा, उल्टे आत्म ज्ञान से

१. विनियोजकेति–क्रियासंबन्धबोधकेत्यर्थः । २. प्रकरणान्तरत्वादिति--अकर्मप्रकरणस्थत्वादिति यावत् । अत्र इषेत्वेत्यादिमन्त्रवदिति व्यतिरेक्युदाहरणमूह्यम् । अनेन च हेतुद्वयेन पूर्वानुमानस्य सत्प्रतिपक्षत्वमुक्तम् । विनियोजकप्रमाणवत्त्वं कर्मप्रकरणस्थत्वं चेत्युपाधिद्वयेन सोपाधिकत्वं वेति ध्येयम् । ३. श्रौतेति--निरपेक्षोरवः श्रुतिस्तत्प्रतिपाद्येत्यर्थः । ४. सामर्थ्यादिति-- सामर्थ्यात्मकलिङ्गप्रमाणादित्यर्थः । (अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं हि लिङ्गम्)
५. प्रमाणाभावादिति-- अहंकर्तेत्यादि प्रतीतेरशुद्धात्मावगाहित्वादिति भावः । ६. शुद्धोऽहं स्वभावत इति-- आगन्तुकाशुद्धयभावस्यापापविद्धमित्यनेन लभ्यत्वाच्छुद्धमित्यत्र स्वाभाविकं शुद्धत्वं विवक्षितमिति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः । नह्येवंलक्षण-मात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् । सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात् । गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात् ।

---

[2]सर्वत्रैकोऽशरीर[3] आकाशोपम[4] इति जानन्न [5]कटाक्षेणापि कर्म वीक्षते । [6]किंत्वापातप्रतिपत्तिरप्येतादृशी निरुणद्ध्येव कर्मप्रवृत्तिमित्यर्थः । किंच यः कर्मशेषः स उत्पाद्यो दृष्टो यथा [7]पुरोडाशादिः । [8]विकार्यः सोमादिः । [9]आप्यो मन्त्रादिः । [10]संस्कार्यो व्रीह्यादिस्तदुत्पाद्यादिरूपत्वं [11]व्यापकं व्यावर्तमानमात्मयाथात्म्य-स्य [12]कर्मशेषत्वमपि व्यावर्तयति । तथाऽऽत्मयाथात्म्यं कर्तृ भोक्तृ च न भवति । येन ममेदं समीहितसा-धनं ततो मया कर्तव्यमित्यहंकारान्वयपुरःसरः [13]कर्त्रन्वयः स्यादित्याह—नह्येवमिति । ननूपनिषदां [14]जपोपयोगित्वाद[15]न्यस्य च प्रमाणस्यादर्शनान्नास्त्येवैतादृशमात्मयाथात्म्यं तत्राऽऽह—सर्वासामिति ।

कर्म के अधिकार का उपमर्दन हो जाता है । आत्मा का शुद्धत्वादि यथार्थरूप कर्म से उत्पाद्य नहीं, विकार्य नहीं, प्राप्य एवं संस्कार्य भी नहीं है । किम्बहुना आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व भी नहीं है । यदि आत्मा कर्ता एवं भोक्ता होता तो किसी प्रकार कर्म का शेष आत्मा को कहा जा सकता था । जब आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही नहीं है तो फिर उसे कर्म का शेष (अङ्ग) कैसे कह सकते हैं ? और ऐसी दशा में कर्मों का अशेष आत्मा के प्रतिपादक ईशादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग भी कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है ।

मीमांसा शास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि शब्द का अर्थ तो वही होगा जिसे वह प्रतिपादन कर रहा है । इस नियम के अनुसार सभी उपनिषद्-वाक्य आत्मा के एकत्व प्रतिपादन में ही समाप्त हो जाते हैं । यथा 'ईशावास्यम्' इस वाक्य से प्रारम्भ करके 'स पर्यगाच्छुक्रम्, इस वाक्य से उपसंहार होने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ही प्रतिपादन उपक्रम उपसंहार से हो रहा है । 'अनेजदेकम्' 'तदन्तरस्य सर्वस्य' इन मंत्रों के द्वारा बार २ आत्म-याथात्म्य का ही प्रतिपादन सुना जाता है । 'नैनद्देवा आप्नुवन्' इस वाक्य से आत्मा में अलौकिकता बतलायी गयी है । "तत्र को मोहः कः शोक एत्कवमनुपश्यतः" इस वाक्य से फल का कथन किया गया है । 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि, इस मंत्र से सौ वर्ष जीने की इच्छा वाले भेददर्शी अज्ञानियों के लिये लोकसिद्ध कर्मप्रवृत्ति का अनुवाद कर 'असूर्यानाम ते लोका:' इस वाक्य से

१· वक्ष्यमाणमिति - सप्रर्यगादित्याद्यष्टममन्त्रे वक्ष्यत इत्यर्थः । २. कवित्वविशेषणभाष्ये तदुपपादकं नान्योऽतोऽस्ति-द्रष्ठेति वक्ष्यते । तेन च सर्वशरीरावच्छिन्नस्यैकत्वं लभ्यते-तदाह सर्वत्रैकइति । ३. अकायमित्यादिवक्ष्यमाण-माह- अशरीर इति । ४. आकाशोपम इति सपर्यगादित्यस्यार्थः । ५. न कटाक्षेणापीति- न हि निष्पातकोऽना-दरेणापि प्रायश्चित्तं पश्यतीति प्रत्यक्षमेवेति भावः । ६. किंत्वापातेत्यादिलोकेहि लिप्सितार्थस्यानायासेन प्राप्तिसन्देहेऽपि तदर्थमायासं कुर्वतां दर्शनात् सन्देहोऽप्रवर्तक इति भावः । ७. पुरोडाशादिरिति- मदन्तीजलेन सिद्धस्य पिष्टापिण्डस्य चतुर्थ्यन्त देवतानामपूर्वकत्वेतिपदान्तेन मन्त्रेणाभिमर्शनानन्तरं कूर्मवदाकारे कृते पुरोडा-शपदवाच्यता । भर्जनपत्र्यधिश्रयणकाले यज्जलपात्रमधिशृ (श्रि) तं भवति तत्रत्यं जलमप्शब्दविशेषण-त्वाद्बहुवचनान्तेन मदन्तीशब्देनोच्यत इति श्रौतपदार्थनिर्वचचने स्थितम् । तथा चोत्पाद्यः पुरोडाशोहवनीय-द्रव्यभेदः पिष्टमय इति लभ्यते । ८. विकार्य इति- कण्डनादि विकारार्हः । ९. आप्य इति- गुरुमुखादध्य-यनेन प्राप्यः । १०. संस्कार्यः—प्रोक्षणादि संस्कारार्हः । ११. व्यापकमिति—यत्रकर्मशेषत्वं तत्रोत्पाद्याद्यन्यतमत्व-मिति व्याप्तिनिरूपकमित्यर्थः । १२. कर्मशेषत्वमपि व्यावर्तयतीति—व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य सर्वसंमत-त्वात् । न हि वह्न्यभावाधिकरण उत्पद्यमानं धूममवलोकयत्यभ्रान्तः कश्चिदिति । १३. कतृन्वयः— कर्तृत्वेन कर्मसंबन्ध आत्मन इत्यर्थः । १४. जपोपेति— हुंफडादि निरर्थकशब्दवज्जपमात्रोपयोगित्वादित्यर्थः । १५. अन्यस्य—प्रत्यक्षादेरित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधि-

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति मीमांसाप्रसिद्धेः सर्वासामुपनिषदां 'चैकात्म्ये तात्पर्यदर्शनान्न 'जपोपयोगित्वमुपनिषदां शक्यं वक्तुम् । 'तथाहि ईशा वास्यमित्यु'पक्रम्य स पर्यगाच्छुक्रमित्यु'पसंहारादनेजदेकं तदन्तरस्य सर्वस्येत्यभ्यासदर्शनान्नैनद्देवा आप्नुवन्नित्य'पूर्वतासंकीर्तनात्को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति 'फलवत्तासंकीर्तनात्कुर्वन्नेवेहेति जिजीविषोर्भेददर्शिनः कर्मकरणानुवादेनासुर्या नाम त इति

निन्दा करते हुए आत्मैकत्व दर्शन की ही प्रशंसा की गयी है। एवं 'तस्मिन्नपो मातारिश्वा दधाति' इस मंत्र से युक्ति को भी उपस्थित किया है। इस प्रकार ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णायक उपक्रमादि छः लिङ्गों के द्वारा सभी उपनिषदों का आत्मैकत्व-दर्शन में ही तात्पर्य सुनिश्चित होता है।

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" इत्यादि गीता वाक्य एवं एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादि मोक्षशास्त्र भी आत्मैकत्व के ही प्रतिपादक हैं। यदि कहो कि इस प्रकार आत्मतत्व है, तब तो अधिकारी के अभाव में कर्मकाण्ड का ही उच्छेद हो जायेगा, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आत्मा में नानात्व कर्तृत्व भोक्तृत्वादि, अशुद्धत्व तथा पापविद्धत्वादि लोकानुभवसिद्ध वृत को लेकर ही कर्मों का विधान किया गया है। वस्तुतः अपरोक्ष आत्मयाथात्म्य ज्ञानवाले तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में जब सम्पूर्ण लोक का ही बाध हो जाता है तो तदन्तः पाती कर्मकाण्ड भी अप्रामाणिक है। क्या 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' इस निषेध शास्त्र के अर्थ का निश्चय हो जाने पर श्येन-याग की विधि प्रमाणिक मानी जायेगी? अर्थात् नहीं। वह तो तीव्र क्रोध से आक्रान्त अन्तःकरणवालों के लिये ही प्रामाणिक है। ठीक वैसे ही अनात्मा में आत्मबुद्धिवालों के लिये ही कर्मकाण्ड का विधान किया गया है। अतः कर्मकाण्ड का कोई अधिकारी ही न रहेगा, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आचार्य जैमिनी ने कहा है कि, 'जो दृष्ट फल ब्रह्मवर्चस् इत्यादि को चाहता है, अथवा अदृष्ट फल स्वर्गादि को चाहता है, एवं मैं द्विजाति हूं, ऐसा मानता है और काणापन, लङ्गड़ापन इत्यादि अनधिकार के प्रयोजक धर्मवाला अपने को नहीं मानता, वही कर्म में अधिकारी माना जाता है।' ऐसा अधिकार शास्त्र के मर्म को जानने वाले लोक कहते हैं। अतः ईशावास्यादि मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक होने से आत्मा का आवरण करने वाले अनादिकालीन स्वाभाविक अज्ञान को निवृत्त करते हुए शोक, मोह इत्यादि संसार धर्म का नाशक आत्मैकत्व विज्ञान को उत्पन्न करते हैं। मीमांसा के षष्ठ अध्याय में फल कामना-युक्त व्यक्ति को कर्म का अधिकारी बतलाया गया है और फलकामना मिथ्याज्ञानमूलक है क्योंकि आकाश के समान

१. यत्परः—यत्तात्पर्यकः। २. ऐकात्म्येतात्पर्येति– निष्कर्षतया शुद्धत्वादिसकलविशेषणसंश्लेषकं लयत्वादेकमैकात्म्यमुदग्राहीत्यवधेयम् । ३. जपोपयोगित्वम् – अनर्थकत्वमभिधेयराहित्यमितियावत् । ४. उपक्रमोपसंहाराव-भ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये – इत्युक्तानि तात्पर्यग्राहकाणि लिङ्गानि दर्शयति– तथाहीत्यादिना । ५. इत्युपक्रम्येत्यनयोरैकात्म्यमिति मध्ये शेषनिवेशः। एवमित्युपसंहारादित्यत्रापि तथा शेषस्त-स्यैवेति एवमग्रेऽपि । ६. इत्युपसंहारादिति - प्रकृतोपनिषदि सपर्यगादितिमन्त्रान्तमेव ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति तस्यौपसंहारत्वोक्तिर्युक्ता । ७. अपूर्वतेति – इन्द्रियाद्यगोचरतेति यावत् । ८. फलवत्तेति – प्रकृतैकात्म्यज्ञानस्ये-त्यादिः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निन्दयैकात्म्यदर्शनस्य स्तुतत्वात्तस्मिन्नपो मातारिश्वा दधातीति [1]युक्त्यभिधानाच्चास्यास्तावदु[2]पानिषद ऐकात्म्यतात्पर्यं दृश्यते। एवमन्यासामप्युपनिषदामुपक्रमोपसंहारैकरूप्याभ्यासापूर्वताफलवत्तार्थवादयुक्त्युपपादनानि षट् तात्पर्यलिङ्गानि[3] विकल्पेन समुच्चयेन चास्माभिस्तत्त्वालोके दर्शितानीति नेह प्रतन्यन्ते। किंच [4]प्रत्ययसंवादोऽपि [5]बलवत्त्वे कारणं प्रसिद्धम्। विद्यते चोपनिषदर्थे गीतादिसंवादस्तस्माद्[6]उपनिषत्पदसमन्वयेनावगम्यमानमैकात्म्यं न प्रमाणान्तरानुपलम्भविरोधेनापलपनीयम्। [7]यथेन्द्रियान्तरेणानवगम्यमानमपि रूपं चक्षुषाऽवगम्यमानं नापह्नूयते तथैकात्म्यमपि नापह्नवार्हमित्याह—गीतानामिति। 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति' इत्यादिगीतानाम्। 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादिमोक्षशास्त्राणां चैकात्म्यपरत्वादित्यर्थः। यद्येतादृशमात्मतत्त्वं तर्हि निरधिकारित्वात्कर्मकाण्डमुच्छिद्येतेत्यपि नाऽऽशङ्कनीयमित्याह–तस्मादिति। औपनिषदात्मयाथात्म्यविज्ञानवत इष्यत एव [8]कर्मकाण्डाप्रामाण्यम्। यथा न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति निषेधशास्त्रार्थनिश्चयवत इष्यत एव श्येनादिविध्यप्रामाण्यम्। यथा च तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तं प्रत्येव श्येनादिविधिप्रामाण्यं तथा [9]मिथ्यात्मदर्शिनं प्रत्येव कर्मविधिप्रामाण्यमित्यर्थः। अत्र जैमिनिप्रभृतीनां संमतिमाह—यो हीत्यादिना। [10]अर्थित्वादियुक्तस्य कर्मण्यधिकारः षष्ठेऽध्याये प्रतिष्ठापितः। अर्थित्वादि च मिथ्याज्ञाननिदानम्। न हि नभोवन्निष्क्रियस्य स्वत एव दुःखासंसर्गिणः परमानन्दस्वभावस्य सुखं मे स्याद्दुःखं मे मा भूदित्यर्थित्वं शरीरेन्द्रियसामर्थ्येन च समर्थोऽहमित्यभिमानित्वं मिथ्याज्ञानं विना संभवतीत्यर्थः। यस्मादात्मयाथात्म्यप्रकाशका मन्त्रा न कर्मविधिशेषभूता न च मानान्तरविरुद्धास्तस्मात्प्रयोजनादिमत्त्वमपि तेषां सिद्धमित्याह—तस्मादेत इति।

निष्क्रिय, स्वभाव से दुःखसंसर्गशून्य परमानन्द स्वरूप आत्मा में मिथ्यज्ञान के बिना मुझे सुख मिले और दुःख कभी भी न हो, ऐसी कामना नहीं हो सकती। एवं शरीर तथा इन्द्रियों के सामर्थ्य से अपने को सशक्त माननारूप अभिमान भी मिथ्याज्ञान के विना हो नहीं सकता। अतः कामना एवं मिथ्या अभिमान मूलक मिथ्याज्ञान को निवृत्त करने में आत्मैकत्वविज्ञान ही समर्थ है और ऐसा ज्ञान

---

१. युक्तीति— हिरण्यगर्भादेरपि नियतप्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिरूपयुक्तीत्यर्थः। २. उपनिषद इति—अत्रत्य विद्याप्रकरणस्येति यावत्। ३. विकल्पेन समुच्चयेन चेति— क्वचिदेकद्वादि यथासंभवं क्वचित् षडपीत्यर्थः। क्वचित्प्रतिलिङ्गं वाक्यभेदः। क्वचिद्वाक्याभेदेन कतिपयलिङ्गसंग्रह इति वा। कासांचिद्भेदेन कासांचित्त्वतिदेशादिविधयैकयोक्त्येति वासंभावितोऽर्थस्तत्त्वं तु तत्त्वालोकादेवालोक्येतेत्यलम्। ४. प्रत्ययसंवादः–प्रमाणतौल्यं तुल्यप्रमाणमिति यावत्। ५. बलवत्त्वे—अन्यतरप्रत्ययस्येति शेषः। तव तावत्प्रत्ययो मन्त्राः कर्मशेषा इति, ममत्वशेषा इति, तत्र मदीयप्रत्ययस्य बलवत्त्वे इत्यर्थः। ६. उपनिषत्पदसमन्वयेनेति—उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः। निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मता। इत्युक्तार्थकोपनिषच्छब्दवाच्यत्वेनेति यावत्। सदेरन्तर्भावितण्यर्थत्वे। उप नितरां सादयति संसारहेतुभूतामविद्यां नाशयतीति। अन्यथोपात्मनः समीपे निषीदति प्रतिपादकत्वेनेति व्युत्पत्त्या आत्मयाथात्म्यप्रतिपादकत्वैवोपनिषच्छब्दितस्य लभ्यत इति भावः। ७. यथेन्द्रियान्तरेणेति—ननु विषमोऽयमुपन्यासो यावतेन्द्रियान्तरेण रूपं नावगम्यत इति यत् तत्कस्यहेतोः नतावद्रूपं नास्तीति, किं तर्हि तस्य तस्मिन्नयोग्यत्वादेव प्रकृते तु न तथा यतः कर्ताऽहं सुखी दुःखीत्येवमात्मनियोग्येनापि प्रत्यक्षादिना भवदुक्तयाथात्म्यस्यानवगाहनात्तदपलप्यमिति चेन्मैवं "यन्मनसा न मनुते" "तं त्वौपनिषदं पुरुषमित्यादि श्रुतेरिन्द्रियान्तरस्य रूप इवोपनिषदतिरिक्तमानस्यात्मन्ययोग्यत्वस्यैवसिद्धत्वात् कर्ताऽहमित्यादिप्रतीतौत्वध्यस्तात्मभावस्यान्तःकरणस्यैव कर्तृत्वादयो धर्माः स्वयंप्रकाशेन साक्षिणैव स्फोर्यन्त इति महता दीर्घेण विचारेण भाष्यकारादिभिरेव तत्रतत्रोपपादयिष्यत इत्यलम्। ८. अप्रामाण्यम्—अनादरस्तात्त्विकप्रामाण्याभाव इति यावत्। ९. मिथ्यात्मदर्शिनम्—कर्त्राद्यात्मदर्शिनम्। १०. अर्थित्वादियुक्तस्येति—अत्रवदन्ति—अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मतिमान् कर्मसूक्तोऽधिकारीत्यादिः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हरिः ॐ । ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

जगत् में (अर्थात् तीनों लोकों में) जो कुछ जड़ चेतन संसार है वह सब ईश (पद लक्ष्य निरुपाधिक परब्रह्म) से आच्छादनीय है (इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिसे मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् का त्याग हो जाता है) उसी त्याग भाव से तू आत्मा का पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर। (जब ब्रह्मात्मदृष्टि से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् का बाध हो गया, तो भला! किसका धन है जिसकी आकांक्षा करे?) ॥१॥

कारविदो वदन्ति। तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽत्मविषयं [1]स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसंबन्धप्रयोजनान्मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ॥

व्याख्येयत्वमुक्त्वा प्रतिपदं व्याचष्टे—ईशेति। ईश ऐश्वर्येऽस्य धातोः क्विपि लुप्ते कृदन्तरूपमीट्तस्य तृतीयैकवचनमीशेति। ननु [2]'कर्तरि क्विब्विधानात्परमात्मनश्चाविक्रियत्वात्कथं क्विबन्तशब्दवाच्यतेति तत्राऽऽह—ईशितेति। [3]'मायोपाधेरीशनकर्तृत्वसंभवात्क्विबन्तशब्दवाच्यता न विरुध्यते [4]'निरुपाधिकस्य च लक्ष्यत्वं भविष्यतीत्यर्थः। [5]'ईशित्रीशितव्यभावेन तर्हि [6]'भेदः प्राप्त इत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वजन्तूनामात्मा सन्निति। [7]'यथाऽऽदर्शादिषु [8]'प्रतिबिम्बानामात्मा सन्बिम्बभूतो देवदत्त [9]'ईशिता भवति तथा

उपनिषदों से ही हो सकता है। इसलिये उपनिषदों को कर्मशेष अर्थ का प्रतिपादक किसी भी प्रकार नहीं मान सकते। साथ ही उपनिषदों का अधिकारी, विषय, प्रयोजन एवं सम्बन्धरूप अनुबन्ध-चतुष्टय भी भिन्न ही है, जिसे ईशादि मन्त्रों द्वारा बतलाया जायेगा। इन मन्त्रों की व्याख्या भगवत्पाद शङ्कराचार्य जी संक्षेप में करेंगे।

---

१. स्वाभाविकमिति—अनादिसिद्धमित्यर्थः। अज्ञानं निवर्तयन्त इत्यादि तथा च—आत्मैकत्वादिविज्ञानोत्पत्तिरज्ञाननिवृत्तिश्च मन्त्राणामवान्तरं प्रयोजनं शोकादिसंसारोच्छित्तिस्तु परमं, तल्लिप्सुरधिकारी आत्मयाथात्म्यमभिधेयं प्रतिपादकत्वादिस्तु संबन्ध इति भावः। २. कर्तरिक्विबिति—कर्तरिकृदित्यनुशासनादिति भावः। ३. मायिनं तु महेश्वरमिति श्रुतिमनुसंधाय परमेश्वरपदस्वारस्येनाह—मायोपाधेरिति—माया यस्योपाधिस्तस्य मायोपाधेः। ४. ननु याथात्म्यप्रतिपादकस्य मन्त्रस्य कुतः सोपाधिपरतेत्यत आह—निरुपाधिकस्य चेति। लक्ष्यस्यैव तात्पर्यविषयतेति भावः। ५. ईशित्रीशितव्यभावेनेति—ईशितव्य ईशितुर्भिद्यत ईशितव्यत्वाद्राजभिन्नप्रजादिवदित्यनुमानेनेति यावत्। ६. भेदः प्राप्त इति—तथा च गतमैकात्म्यपरत्वं मन्त्रस्येति भावः। ७. कथमेकस्मिन्नेवेशित्रीशितव्यभाव इत्याशंङ्कां दृष्टान्तेन शातयति—यथेति। ८. प्रतिबिम्बानामात्मासन्बिम्बभूतोदेवदत्तः ईशिता भवतीति—एतद्दृष्टान्तानुरोधान्मायोपहितस्येश्वरस्यैव प्रतिबिम्बो जीव इत्यवगन्तव्यम्। ननु मायोपहितस्य मायायामेव प्रतिबिम्बो भवेत् स च बिम्बमाययोरेकैकत्वादेक एव स्यान्नतु नाना, न चेष्टापत्तिरेवेति वक्तुं शक्यं, जीवानां नानात्वप्रतीतिविरोधाद्भाष्येऽपि सर्वजन्तूनामिति बहूक्तिविरोधाच्चेति चेन्मैवम्। एकएव हि मायाप्रतिबिम्बो जीवो मायोत्थनानान्तःकरणैरवच्छिद्यमानो नानात्वप्रतीतिभाग् भवति। भाष्येऽपि लोकसिद्धानुवाद एवेत्यनवद्यम्। यथैकस्मिन्नेव सुमहनिकाचफलके शिल्पिचातुर्येणकिञ्चिदुच्चपुष्पाकृतिनानावयवैरवकीर्णे एकधैव प्रतिफलन् सविताऽनेकधाभाति तद्वदिति दृष्टान्ते दृश्यः। प्रतिबिम्बानामात्मेति—वास्तवं रूपमित्यर्थः। नहि बिम्बापगमे प्रतिबिम्बमवस्थातुमीष्ट इति। ९. ईशितेति—प्रतिबिम्बानां बिम्बचेष्टाधीनचेष्टाकत्वादिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईशा वास्यमित्यादि। ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया, तेन स्वेन रूपेणाऽऽत्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्। किम्। इदं सर्वं यत्किंच यत्किंचिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनाऽऽत्मनेशेन प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छाद-

कल्पितभेदेनेशित्रीशितव्यभावसंभवान्न वास्तवभेदानुमानं संभवतीत्यर्थः। वस आच्छादने। अस्य रूपं वास्यम्। तत्त्वत ईश्वरात्मकमेव सर्वं भ्रान्त्या यदनीश्वररूपेण गृहीतं तत्सर्वमीश्वर एवाऽऽत्मैवेति ज्ञानेनाऽऽच्छादनीयम्। सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमेष तत्त्वोपदेशश्छान्दोग्ये तत्त्वमसीतिवदित्यर्थः। "ब्रह्मैव सर्वमात्मैव "सत्प्रकाशाविशेषतः। "हेयोपादेयभावोऽयं न सन्स्वप्नवदीर्यते'।

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि का उपदेश

जो सम्पूर्ण संसार का शासक हो उसे ईश कहते हैं। ऐसे ईश्वर से पृथिवी में सम्पूर्ण जड़-चेतनरूप जगत् को आच्छादन कर देना चाहिये और उसी परमार्थ सत् रूप परमेश्वर के दर्शन से असत्य जगत् का त्याग हो जाता है तथा ऐसे त्याग भाव से आत्मा का रक्षण करना चाहिए एवं किसी के धन की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये।

ईश् धातु से कर्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर ईश् शब्द बनता है। निर्विकार चैतन्य में ईशन-कर्तृत्व सम्भव न रहने पर भी माया उपाधि वाले चैतन्य में ईशन-कर्तृत्व सम्भव ही हैं। अतः मायोपाधिक चैतन्य ईश् शब्द का वाच्यार्थ है तथा निरुपाधिक चैतन्य लक्ष्यार्थ है। परमेश्वर ही सम्पूर्ण

१. प्रत्यगात्मतयेति—प्रत्यग्रूपत्वादित्यर्थः। प्रत्यक्त्वमान्तरत्वम्। २. प्रत्यगात्मतया—सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात्। ३. इति परमार्थसत्यरूपेण स्वेन परमात्मनेत्यन्वयः। इत्यनया परमार्थसत्यस्वात्मधियाऽनृतधीस्त्याज्येति वाक्यार्थः। परमार्थसत्यत्वेनात्मानं विशिषन् चराचरस्य जगतोऽनृतत्वं व्यावहारिकसत्यत्वरूपमनुजानातीत्यवधेयम्। ४. कल्पित भेदेनेति जीवेश्वेरयोरित्यादिः। ५. न वास्तवभेदानुमानमिति-वास्तवभेदस्य व्याप्तिघटकत्वे प्रतिबिम्बे व्यभिचारात् कल्पितस्तु भेदो वास्तवैकात्म्याविघटकतया नास्माकमनिष्ट इति भावः। ६. तत्त्वतोऽनीश्वरस्येश्वरात्मकत्वोपदेशोऽनर्थाय भवति न स परमाप्तवेदार्ह इत्यभिप्रेत्याह—तत्त्वत इति। ७. आच्छादनीयम्—विषयीकरणीयमिति यावत्। ८. ननु तत्त्वतोऽनीश्वरस्यापि जगत ईश्वरत्वेनोपासनार्थं एवायमीश्वरात्मत्वोपदेशो भविष्यति। शालग्रामशिलायां विष्णुत्वोपदेशवत् तन्नैकात्म्यपरत्वमुपनिषदां न च वेदोक्तामुपास्तिं कुर्वाणोऽनर्थमियाद्विद्ययादेवलोकप्राप्तिसाधनत्वश्रवणादित्याशङ्कमानम्प्रत्याह एष तत्त्वोपदेश इति। यथावस्तूपदेश एवायं नतूपास्त्यर्थमारोप्योपदेश इति भावः। ९. ननु तत्वमसीत्युपदेशोऽप्यात्मनोब्रह्मत्वेनोपास्त्यर्थएव मनोब्रह्मेत्यादिवदिति न तद्दृष्टान्तेनास्यतत्त्वोपदेशत्वमवगन्तुमर्हमिति विप्रतिपद्यमानं युक्त्या बोधयति—ब्रह्मैव सर्वमात्मैव सत्प्रकाशाविशेषत इति। सर्वं सच्चिद्ब्रह्माभिन्नं सन्घटःस्फुरतीत्येवं नियमेन सत्स्फुरणानुविद्धतया प्रतीयमानत्वात् इदमनुविद्धतया प्रतीयमानतदर्थरज्ज्वाभिन्नसर्पादिवदित्यर्थः। १०. सत्प्रेति—सतोब्रह्मण एव स्फुरणविशेषादयं हेयोपादेयभावो यथा स्वप्ने द्रष्टुरेकस्यैव तत्तदात्मनास्फुरणाद्धेयत्वमुपादेयत्वं च तद्वदतो नसन् असन् ईर्यते उच्यते ब्रह्मविद्भिरित्यर्थः। अविशेषत इति चेत्पाठस्तदासर्वत्र सत्तास्फुरणयोरनुगमात्सर्वमात्मैवेति पूर्वत्रैव हेतुत्वेनान्वयः। ११. ननु सर्वस्य ब्रह्मत्वे प्रतीयमानोहेयोपादेयभावो नोपपद्येत नहि यद्धेयं तस्त्वोपादेयमपि संभवति, विरोधात्। किं च सर्वं चेदात्मा तदा देहमात्मानं मन्यमानैः किमपराध्यते तत्राह—हेयोपादेयभावोऽयं न सन्निति। यत ईर्यत—उच्यते नाममात्रमित्यर्थः वाचारम्भणश्रुतेः। अत्रायं प्रयोगः हेयोपादेयतागर्भः प्रपञ्चः सन्नभवति ईर्यमाणत्वाद्वाच्यत्वादित्यर्थः वाच्यत्वं दृश्यत्वाद्युपलक्षणं स्वप्नवदिति। तथा चैकस्मिन्नेव द्रष्टरि स्वप्ने नानाविरुद्धमिथ्याधर्माणां दृश्यमानत्वान्न किंचिदनुपपन्नम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'नीयं[1] स्वेन[2]' परमात्मना । यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसंबन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाऽऽच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन । तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं[3] कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणा[4]र्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं[5]

---

[6]'उक्तं च—'न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः । नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः' इति । 'यस्यौपदेशिक[7]ज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिर्न तिरस्क्रियते तस्य [8]विचारादिप्रयत्नेन तत्त्वप्रकाशे सत्यनृतदृष्टिस्तिरस्क्रियेतेत्यभिप्रेत्य[9]' दृष्टान्तमाह—यथेति । चन्दनागर्वादेरुदकादिसंबन्धादार्द्रीभावाद्विना जातं यद्दौर्गन्ध्यमौपाधिकं मिथ्या तद्यथा तत्स्वरूपनिघर्षणाभिव्यक्तेन स्वाभाविकेन गन्धेनाऽऽच्छाद्यते तद्वद्विचारादेः 'स्वरूपसद्भावान्मिथ्याबुद्धेर्बाधकत्वं संभवतीत्याह—तद्वदेवहीति । स्वभावोऽनादिरविद्या

जगत् का शासक हो सकता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा है । जिस प्रकार दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब का आत्मा (असली रूप) बिम्बरूप देवदत्तादि पुरुष उस प्रतिविम्व का शासक माना जाता है, क्योंकि बिम्ब में विकार होने के बाद प्रतिबिम्ब कभी भी निर्विकार रह नहीं सकता । अतः ईशिता ईशितव्य भाव कल्पित होने से दोनों में पारमार्थिक भेद का अनुमान नहीं किया जा सकता। उसी पारमार्थिक स्वरूप, सभी प्राणियों के आत्मरूप स्वस्वरूप ईश्वर से ब्रह्माण्ड कटाह में वर्त्तमान भूत-भौतिक, जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् को आच्छादन कर देना चाहिए, क्योंकि परमार्थतः ईश्वर होता हुआ मी भ्रान्ति से जीव और जगत् रूप से प्रतीत हो रहा है । अतः यह सम्पूर्ण संसार मैं ही हूं, इस प्रकार प्रत्यगात्मा ईश्वर दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् को आच्छादन करने के लिये श्रुति का आदेश है। सम्पूर्ण संसार का अन्तरात्मा ईश्वर मैं हूं, ऐसा जानना ही तत्त्व-उपदेश है, जिसे उद्दालक महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रति नव बार तत्त्वमसि वाक्य का उपदेश किया है। साधन-चतुष्टय-सम्पन्न उत्तम अधिकारी को तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य श्रवणमात्र से हेय-उपादेय भावशून्य अन्तरात्मा का

---

१. आच्छादनीयं—अनृनधीस्तिरस्करणीयेतियावत् । २. स्वेन=स्वाभिन्नेनेत्यर्थः ।

३. स्वाभाविकम्=अनाद्यविद्योपाधिप्रयुक्तमित्यर्थः । ४. ननु जगत्यां वर्तमानं वास्यमित्युक्तेर्जगती न वास्यास्यान्नहि जगती जगत्यां वर्तते तामेतांशङ्कां निर्णुदति—जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वादिति—जगतो निःशेषताबोधनायेत्यर्थः । (वस्तुतस्तु जगत्यामित्युक्त्या न भूलोकवर्तिमात्रं ग्राह्यं किन्तु भुवरादिलोकस्थमपीहविवक्षितमित्याशयेनाह जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वादिति । ५. त्यक्तं स्यात्=बाधितं स्यादित्यर्थः ।

६. ब्रह्मैवसर्वमात्मैवेत्यत्र स्वयं युक्तिमभिधाय प्रत्ययान्तरं संवादयति उक्तं चेत्यादिना । नित्यप्रकाश आत्मैव विश्वात्मना विवर्तमानो बन्धाद्याकारः प्रतिभाति । न बन्धाद्येव वस्तु सदिति पद्यार्थः । ७. औपदेशिकेति—स्वकीयविचारमन्तरापि शुद्धान्तःकरणतया श्रद्धाद्यतिशयाद्गुरूपदेशमात्रोत्थेत्यर्थः । ८. विचारादीत्यादिना सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति भावना भण्यते । तत्प्रयत्नस्तु तयोः पौनःपुन्येन करणम् । ९. इति अभिप्रेत्येति-इत्युपदेष्टुमितियावत् । स्वरूपसद्भावादिति—विचार्यं स्वरूपस्य प्रतीचः कूटस्थ नित्यत्वादिति यावत् । एतेन शून्यादिवादिनां विचारवैफल्यमुक्तम् । चन्दनाद्यपि यावत्स्वरूपावशिष्टं भवति तावदेव घर्षणेन गन्धाभिव्यक्तियोग्यतां धत्ते । नितान्तं जीर्णतया नष्टप्रायं तु नेति दृष्टान्तस्वारस्यात् । यद्वा स्वरूपसद्भावादिति स्वस्य आत्मनो रूपं शुद्धत्वाकर्तृत्वादि याथात्म्यं तस्य स्वाभाविकत्वेन सत्त्वादित्यर्थः । कर्त्रादिस्वभावत्वेतु सहस्रधाविचार्यमाणोऽपि नासावकर्त्रादि रूपतामापादयितुं शक्य इति विफल एव विचारादियत्नः चन्दनगन्धाय बर्बुरघर्षणवदिति । यद्वा—स्वरूपस्यात्मयाथात्म्यस्य सद्भावादाविर्भावात् हेतौ पञ्चमी तथा च आविर्भावद्वारेति पर्यवस्यतीत्यलम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्कार्यं 'स्वाभाविकमित्यादिवाध'योग्यत्वप्रदर्शनार्थं विशेषणम् । एवं विचारादिप्रयत्नवतोऽनृतदृष्टितिरस्कारसंभावनामुक्त्वा युक्त्यनभिज्ञस्य सर्वमिदमहं चेश्वर एवेति भावनायामधिकृतस्य युक्तिकुशलस्य च विचारेऽधिकृतस्य सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकार इह मन्त्रेविवक्षितस्तेन त्यक्तेनेत्यत्र 'त्यागपरामर्शात् । 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्पर पदमित्यन्यत्राप्युक्तत्वात्पुत्राद्येषणायाश्चित्तविक्षेपहेतुत्वेन

ब्रह्मरूप से साक्षात्कार हो जाता है। जिसे उपदेश मात्र से जीव एवं जगद्भावरूप मिथ्या दृष्टि निवृत्त नहीं होती उसे भी विचारादि के बाद ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार हो जाने पर मिथ्या-दृष्टि निवृत्त हो जाती है, इसे दृष्टान्त से समझाते हैं—जिस प्रकार चन्दन अगरु इत्यादि सुगन्धित द्रव्य में जलादि-सम्बन्ध से गीलापन आ जाने के कारण औपधिक दुर्गन्ध आ जाती है, जो चन्दन के घिसने से उसके पारमार्थिक निजरूप गन्ध के द्वारा ढक दी जाती है। ठीक वैसे ही आत्मा में अनादि अविद्याप्रयुक्त कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिरूप सम्पूर्ण द्वैत नामरूप एवं कर्म भेद से भिन्न समस्तविकार समूह परमार्थ सद्रूप आत्मभाव से त्याग दिये जाते हैं। चन्दन एवं अगरु इत्यादि द्रव्य का पारमार्थिक रूप सुगन्धयुक्त है, किन्तु उनमें जल के सम्पर्क से गीलापन आ जाता है, पुनः दुर्गन्धि भी आ जाती है। वह दुर्गन्धि चन्दनादि में स्वाभाविक नहीं है अपितु जलरूप उपाधि के कारण से है। औपाधिकरूप सदा नहीं रहता। उपाधि के हटते ही पारमार्थिकरूप प्रकट हो जाता है एवं औपाधिकरूप मिट जाता है। तभी तो घर्षण से चन्दन के पारमार्थिक-स्वरूप प्रकट होते ही औपाधिक दुर्गन्ध का आच्छादन हो जाता है। वैसे ही विचार से सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्वबुद्धि आ जाती है, जो अविद्योपाधि के कारण से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप एवं नामरूप तथा कर्म भेद से अनेक भाव में विभक्त दीखता था। अतः आपाततः प्रतीत होने वाले द्वैत की निवृत्ति का एकमात्र साधन वेदान्त-विचार ही है।

इस प्रकार विचारादि साधनों से अनृत दृष्टि तिरस्कृत हो सकती है। अतः यह सम्पूर्ण संसार तथा मैं परमेश्वर ही हूं, ऐसी भावना से युक्त पुरुष का लोकेषणा, वित्तेषणा तथा पुत्रेषणा त्याग में ही अधिकार है कर्मों के करने में नहीं। कर्म में तो अनात्मा में दृढ़ आत्म भाव वाले पुरुष का ही अधिकार शास्त्रों में बतलाया गया है। इसे बार-बार श्रुति के शब्दों में भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य जी कहेंगे।

श्रुति के "त्यक्तेन" इस शब्द का अर्थ "त्यागेन" करना चाहिये, क्योंकि त्यक्तेन पद का यथाश्रुत अर्थ करने पर सङ्गति बैठती नहीं है। क्या त्यक्त अथवा मृतपुत्र एवं भृत्य किसी का पालन कर सकता है? अर्थात् नहीं। उनके साथ सम्बन्ध का उच्छेदन हो जाने के कारण हमारे आत्मा के संरक्षण में वे समर्थ नहीं हैं। अतः 'त्यक्तेन' पद का अर्थ 'त्यागेन' करना ही इष्ट है। त्याग के बाद ही उस त्यक्तैषणात्रय संन्यासी के हृदय में प्रत्यक् स्वरूप ब्रह्म का बोध होता है। पुत्रादि एषणा से चित्त में विक्षेप होता है, यह सर्वलोक अनुभव सिद्ध बात है। अतः आत्मा का रक्षण त्याग से ही हो सकता है, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय, कूटस्थ एवं असङ्ग है और इस रूप से आत्मसंस्थिति का नाम ही मोक्ष है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने पर ही आत्मसंरक्षण सम्भव है, क्योंकि त्याग आत्मसंस्थिति रूप मोक्ष के अनुकूल है।

१. स्वाभाविकमित्यादीत्यादिशब्दः प्रकारवचनस्तेन स्वात्मन्यध्यस्तमितिप्रागुक्तविशेषणसंग्रहः। २. बाधो-मिथ्यात्वनिश्चयः। ३. त्यागपरामर्शात्—त्यागोक्तेः त्यागविधानादितियावत्। ४. स्फुटस्यविधेरभावात्त्रोक्तियुक्ती आह—त्यजतैवेत्यादिना।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्यात् । एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि[1] त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः । भुञ्जीथाः [2]पालयेथाः । एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम् । कस्यस्विद्धनं [3]कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः । अथवा मा गृधः ।

प्रसिद्धत्वाच्चेत्यभिप्रेत्याऽऽह—एवमीश्वरात्मेति । [5]चिकीर्षितं संन्यासं स्तौति—तेन त्यक्तेनेति । त्यागेनात्मा रक्षितः स्यान्नि[4]ष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानानुकूलत्वात्त्यागस्येत्यर्थः । संन्यासिनः शरीरसंधारणोपयुक्तकौपीनाच्छादनभिक्षाशनादिव्यतिरिक्तेऽपि [6]कथंचिद्द्रव्यपरिग्रहे रागश्चेत्प्राप्नोति तन्निरोधे यत्नः कर्तव्यः । तस्य [7]प्रधानविरोधित्वादित्यभिप्रेत्य नियमविधिमाह—एवं त्यक्तैषण इति । [8]स्विदिति निपातस्य [9]सामान्यार्थत्वेऽपि कस्यस्विदिति "[10]वितर्कार्थत्वमन्यत्र" प्रसिद्धं तदिह न गृह्यत इत्यनर्थकमित्युक्तम् । व्यवहार दृष्ट्याऽप्यात्मन एवेदं सर्वं शेषभूतं जडस्य चित्परतन्त्रत्वादतोऽप्राप्ते विषये नाऽऽकाङ्क्षा कर्तव्या । परमार्थतस्त्वात्मैव सर्वमित्याकाङ्क्षाविषय एव नास्तीत्यर्थः ॥१॥

इस प्रकार तीनों एषणाओं का परित्याग कर देनेवाले संन्यासी अपने तथा अन्य किसी व्यक्ति के धन की आकाँक्षा न करें। प्रत्युत शरीर-रक्षण के उपयोगी कौपीन, आच्छादन एवं भिक्षा भोजन के अतिरिक्त विषय में सङ्ग से राग उत्पन्न होने पर उस राग के निरोध के लिए प्रयत्न करना चाहिये। संगदोष से उत्पन्न राग, उसके आत्मज्ञान का प्रतिबन्धक होने से विरोधी माना गया है। अतः अपने तथा अन्य के धन की आकांक्षा आत्मकल्याण चाहनेवाले संन्यासी को नहीं करगी चाहिये। मन्त्र में आये स्वित् शब्द का कोई अर्थ नहीं है, वह तो अनर्थक निपात है।

अथा 'कस्यस्विद्धनम्' यह शब्द आक्षेप अर्थ में है। अर्थात् किसी का धन ही नही है जिसकी आकांक्षा की जा सके। यह सम्पूर्ण परपञ्च आत्मा ही है, ऐसी परमेश्वर भावना से सम्पूर्ण द्वैत का परित्याग हो जाता है। अतः यह सम्पूर्ण कल्पित जगत् अधिष्ठानस्वरूप आत्मा के अधीन होने से आत्मरूप ही है। नामरूप नहीं है। नामरूप की दृष्टि से तो संसार मिथ्या ही है, ऐसी मिथ्या वस्तुकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि परसार्थ-दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही तो है। अतः आकांक्षा का विषय न रहने के कारण संन्यासी किसकी आकांक्षा करने लगे? ॥१॥

इस प्रकार प्रथममन्त्र के पूर्वार्घ से तत्व का उपदेश किया गया। तृतीय पाद से अपरिपक्व ज्ञानवाले के लिये संन्यास विधि बतलाई गयी एवं चतुर्थ पाव से संन्यासी के लिये नियमविधि बतलायी गयी है। भगवान् भाष्यकार ने मन्त्र के प्रत्येक पदों का अर्थ बतलाया। उसका संक्षेयरूप में अग्रिम प्रसंग के

१. ननु तच्छब्दस्यपूर्वोक्तजगत्परामर्शकतया त्यक्तेन तेन जगतेत्यर्थसंभवे कुतस्तत्त्यागेनेतिव्याख्यायते तत्राह—नहीति।
२. पालयेथाः—आत्मानमितिशेषः । पालनं स्वरूपावस्थानम् । ३. कस्यचित्—कस्यापीत्यर्थः ।
४. निष्क्रियेत्यादि—स्वरूपावस्थानमेवात्मनोरक्षेति भावः । ५. चिकीर्षितं=विधित्सितमितियावत् । ६. कथंचित्—प्राच्यवासनया कुसङ्गादिनावेत्यर्थः । ७. प्रधानेति—प्रधानं प्रागुक्त भावनाविचारान्यतरत् तस्य प्रधानत्वं तु शरीरयात्रोपयुक्तकर्तव्यान्तरापेक्षम् । नियमविधिमिति--रागाभावपक्ष एव प्राप्तस्य गर्धाभावस्य नियाकं विधिमित्यर्थः । तदुक्तम्—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत इति।
८. ननु चिदर्थे स्वितं व्याख्यायाप्युनर्थकत्वोक्ति रसङ्गतेत्याशङ्क्याह—स्विदितीति । ९. सामान्यार्थकत्वेऽपि—कस्यचिदित्यत्रत्य चिदर्थकत्वेऽपीत्यर्थः । १०. वितर्कार्थत्वमिति=तथा च मेदिनी—स्वित्प्रश्ने च वितर्के च तथैव पादपूरणे—इति । १०. अन्यत्रेति—यथा कस्यस्विदयमश्वः स्यादित्येवमादौ संदेहपूर्वकविमर्शार्थत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कस्मात् । कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत । [3]आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन[1] एवेदं सर्वमात्मैव[2] च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधि मा कार्षीरित्यर्थः ॥ १ ॥

साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए—अनुवाद करते हैं ('एवं इत्यादि' ग्रन्थ से)

इस प्रकार आत्मज्ञानी पुत्रादि एषणात्रय का संन्यास कर दें एवं आत्मज्ञाननिष्ठा से आत्मा की रक्षाकरें। बस यही प्रथम मन्त्र का अर्थ है। अब उनसे भिन्न अज्ञानी व्यक्ति अनात्मा को आत्मा जानने के कारण जो आत्मा के समझने में असमर्थ है, उनके लिये द्वितीय मंत्र से कर्म का उपदेश किया जाता है। इस कर्माधिकार मानव लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। इस प्रकार करने वाले मनुष्य में शास्त्रनिषिद्ध कर्म लिप्त नहीं होते। इससे भिन्नपाप कर्मों से असंग रहने का कोई साधन नहीं है।

मनुष्य की पूर्ण आयू सौ वर्ष की सामान्यतया मानी गयी है। यह लोकतः सिद्ध है। उसी का अनुवाद करके श्रुति कहती है—जो सौ वर्ष जीना चाहता है, वह कर्म करते हुए ही जीवे। इससे सतवर्ष जोने की इच्छावाले के लिए यावत् जीवन अग्निहोत्रादि कर्मों का बिधान किया गया है। इस प्रकार से कर्म करते हुए सौ बर्ष जीने की इच्छावाले मनुष्य शरीराभिमानो पुरुष अशुभ कर्म से लिपायमान नहीं होता है। अन्यथा प्रकृति के बशीभूत हो शरीरेन्द्रियादिक से स्वच्छन्दव्यवहार करने पर शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्म का हाना भी स्वाभाविक है। अतः शास्त्राविहित कर्म का अतुष्ठान सदा करते रहने के सिवा पापकर्मों से अलिप्त रहने का अन्य साधन ही नहीं है। यद्यपि शरीरेन्द्रिय से कर्म सदा होते ही रहते हैं, तभी तो गीता कहती है कि 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् कोई भी व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, फिर तो कर्म का विधान करना व्यर्थ ही है? तथापि कर्माणि पद का अर्थ शास्त्रविहित कर्म करने पर कोई आशंका नहीं रहती है। अतः शास्त्र में शरीरेन्द्रियों की यावत् चेष्टाओं को कर्म नही कहते किन्तु शास्त्राविहित कर्म को ही कर्म कहते है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में आये हुये कर्म शब्द का अर्थ अशुभ कर्म करना चाहिये, अन्यथा संगीत बैठती नहीं है। इस प्रकार यावत् जीवन अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से न केवल अशुभ कर्मों से अलिप्त रहेगा, आपितु अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक विषयों से वैराग्य होने पर क्रमशः मोक्ष का अधिकार अत्मा हो सकता है। मोक्षाभिलाषी संन्यासी को कर्म परित्याग से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

---

१. नन्वात्मैवेदं सर्वमित्येषा तावत्परमार्थदृष्टिर्न च सा व्यवहारकालेऽवतिष्ठते, विरोधात्। तथा च व्यवहारभूमौ प्राप्नोति चेद् गर्धः स कथं निवर्तनीय इत्यत्राह—आत्मनएवेदं सर्वमिति। ननु कीदृशीयं व्यवहारदृष्टिर्यत्र चिदैक्यमेव सर्वत्रावलोक्यते व्यवहारस्य भेदगर्भत्वात् किञ्चैतां बुद्धि पुरोधाय परकीयेऽपि स्वकीयत्वधिया प्रवर्तमानः कथं न लगुडैस्ताड्येतेति चेन्मैवम् भावानवबोधात्। विदुषोव्यवहारदृष्टित्वेन हि चिदैक्यावलोकने सत्यापि सर्वत्र चिदेव भोक्त्री तदेकभोग्यं च जडजातमित्येवं भोक्तृभोग्यभावेन द्वैराश्यावलोकनमेव विवक्षितं न हि विदुषां नितान्तमावृतधियामिव व्यवहारोऽभिमतः। परमार्थतत्त्वस्य व्यवहारेऽप्यविस्मर्तव्यत्वादन्यथा किमनया विद्यया भारायमाणया नचायमुपदेशः प्रवृत्यर्थः। सर्वस्य चिद्याप्ततया न ममाऽनवाप्तमस्ति किंचिदित्येवं तृप्तिमनुभूय निवर्तनीयमेव सर्वत इत्येवमर्थत्वादस्योपदेशस्येत्यलम्। २. आत्मैव च सर्वमित्युपसंहारार्था पुनरुक्तिरित्यदोषः।

३. न कस्यचिद्धनमस्तीत्यत्र हेतुमाह—आत्मैवेत्यादिना। यतः सर्वं त्यक्तं वाधितमत इत्यर्थः। सर्वं यदाऽऽत्मत्वेनैवावलोकितं न तदा धनस्य धनत्वं नापि कस्यापि तत्स्वामित्वमिति न कस्यापि धनं यद् गृध्येतेत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

इस (कर्माधिकारी मानव) लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए हो सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इसप्रकार मनुष्यत्वाभिमान रखने वाले तुझमें शास्त्र-निषिद्ध कर्म लिप्त नहीं हो सकता । इससे भिन्न पाप कर्मों से अलिप्त रहने का कोई दूसरा उपाय नही है ।।२।।

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः । अथेतरस्यानात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः—कुर्वन्नेवेति । कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि । जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शत-संख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् । तथा च प्राप्तानु-

---

आद्यमन्त्रस्य पूर्वार्धेन तत्त्वोपदेशः कृतस्तृतीयपादेनापरिपक्वज्ञानस्य संन्यासविधिरुक्तश्चतुर्थ-पादेन संन्यासिनो नियमविधिरुक्त इति प्रतिपदं व्याख्याय संक्षिप्यार्थमनुवदत्युत्तरस्य संबन्धाभिधित्सया —एवमात्मविद इत्यादिना । पूर्वं मन्त्रेण ज्ञानं विहितं यस्य तस्यैवोत्तरमन्त्रेण कर्म बिहितं ततः

किन्तु अनात्मा में आत्मबुद्धि माननेवाले को अशुभ कर्मों से छूटने के लिये एकमात्र उपाय शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान ही है, इसे 'नान्यथेतोऽस्ति' इस शब्द से बतलाया गया है ।

इस पर वेदांत के एददेशीं - ज्ञानकर्म समुच्चयवादी शंका करता है कि पूर्व मन्त्र से जिसके लिये ज्ञान का विधान किया गया है उसी के लिए दूसरे मन्त्र से कर्म का भी विधान किया गया है, ऐसा क्यों न माना जाय? पूर्व मन्त्र से संन्मासी के लिये ज्ञाननिष्ठा बतलायी गयी एवं द्वितीय मन्त्र से ज्ञान में असमर्थ व्यक्ति के लिये कर्मनिष्ठा गतलायी जा रही है, ऐसा अर्थ क्यों किया जा रहा है? मिद्धान्ती कहते हैं—पर्वत केसमान अडिग जिस ज्ञान और कर्म के विरोध को मैंने बतलाया; क्या तुम्हें वह स्मरण नहीं है ? इस उपनिषद् में भी तो कहा गया है, कि जीने की इच्छावाले जीवन भर कर्म करे तथा सर्वात्मभावदर्शी ज्ञानी कर्म का परित्याग कर दे, क्योंकि त्याग से ही आत्मा का रक्षण हो सकता है । अतः सर्वात्मभाव से नामरूपप्रपञ्च का परित्याग कर किसी के धन की आकांक्षा न करे, क्योंकि लोक परलोक के

---

१. एवमात्मविदः=अपरिपक्वज्ञानस्येत्यर्थः. शुद्धान्तःकरणस्येति यावत् । २. अनात्मज्ञतयेति—अशुद्धान्तःकरणतयेति यावत् । ३. अशक्तस्येति—ननु सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति मनोमात्रव्यापारे का नाम शक्तिः कथं च तदशक्तस्य क्रियाशक्तिर्येनं कुर्वन्निति क्रियोपदिश्यत इति तु नाऽऽशङ्क्यम् । मदिरामदात्मकाशुद्धेर्मनोव्यापारप्रतिबन्धकत्वस्य वाह्यकर्माप्रतिबन्धकत्वस्य च दर्शनात् मोहमदिरोत्थाऽशुद्धिरेवहि प्रकृतेऽशक्तिः । मद्यमित्तो हि चिरपरिचितमपि गृहादि नानुसंधातुमलम् । वक्ति, भुङ्क्ते, गच्छति च वचनादावसम्बद्धत्वं तु मनोव्यापारासामर्थ्यसूचकमित्यवधेयम् । शतमित्येव कुतस्तत्राह—तावद्धीति । ४. निरूपितम्—शतायुर्वै पुरषः इत्यादि वचनैरिति शेषः । ५. तथाच=पुरुषायुषस्य तावत्त्वस्य वचनान्तरेण निर्धारितत्वेचेत्यर्थः । ६. प्राप्तानुवादेनेति—वाक्यान्तरप्राप्तं यत्परमायुः स्वतःप्राप्ता च या तदिच्छा तयोरनुवादेनेत्यर्थः । ७. अपरि पक्वज्ञानस्य संन्यासविधिरिति—अनेन परिपक्वज्ञाने साधनीभूतोऽपरिपक्वज्ञानाधिकारिको विविदिषासंन्यासो वैधः परिपक्वज्ञानाधिकारिको ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यासस्त्व वैध इति ध्वन्यते । ८. ज्ञनकर्मणोरित्यादि भाष्येऽन्तर्हितं युक्तिजालमाविष्कुर्वन्समाधानमवतारयति—शुद्धब्रह्मेत्यादिना । कार्यब्रह्मज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्य सिद्धान्तेऽप्यभीष्टत्वाच्छुद्धेति ब्रह्मविशेषणम् । कार्यब्रह्मज्ञानं च तदुपास्तिरेवेति बोध्यम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणी'त्येतद्विधीयते । एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे 'नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः । 'अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनी कुर्वन्नेव जिजीविषेत् । कथं पुनरिदमवगम्यते । पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य

समुच्चयानुष्ठाने तात्पर्यं मन्त्रद्वयस्येत्येकदेशी शङ्कामुद्भावयति—कथं पुनरिति। शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणी-नैकाधिकारे विरुद्धत्वाद्'ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मवदस्त्येव' तत्रापि क्रमेणैककर्तृ कत्वमिति चेन्न। 'विशिष्टरूपभे-दाद्भिन्नाधिकारत्वात् । 'यच्चोक्तं ज्ञानकर्मणोर्वेदविहितत्वेन शुद्धिसाम्याद्विरोधोऽसिद्ध' इति तदसत् ।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य रस्सी में सर्प के समान आत्मा में कल्पित हैं। कल्पित वस्तु के त्याग से ही अधिष्ठान ज्ञान की रक्षा हो सकती है। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानुशुः' इस बृहदारण्यक श्रुति में भी त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति बतलायी गयी है। ज्ञान एवं कर्म का समुच्चय इस लिये भी सम्भव नहीं है, कि कर्तृत्वाभिमान रहने पर लौकिक धनादि ऐश्वर्य से सम्पन्न व्यक्ति कर्म में अधिकारी माना गया है। संन्यासियों के लिये धनादि के परित्याग के साथ धनाकांक्षा का भी निषेध होने के कारण उनके लिये कर्म में अधिकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीने की इच्छावाले कर्म के अधिकारी हैं, ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। ज्ञानी के लिये तो कहा है कि 'जीवन और मरण में आकांक्षा न करे। स्त्रीजन से असंकीर्ण आश्रम में चला जाय और फिर वहां से लौटे नहीं, अर्थात् संन्यास के ब द फिर कर्म में श्रद्धा न करें" यही वेद-शास्त्र की अन्तिम स्थिति है। इसीलिये जीवन-मरण की आकांक्षा से विमुक्त पुरुष के लिये संन्यास का विधान किया गया है एवं सौ वर्ष जीने की इच्छावाले के लिये कर्म का विधान किया गया है। अतः दोनों के अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही नहीं।

---

१. इत्येतदिति—कर्मानुष्ठानमिति यावत् । २. नरमात्राभिमानिनीति—नत्वकर्तृब्रह्मत्वाभिमानिनीति भावः । ३. अतः—अशुभकर्मलेपाभावाय प्रकारान्तराभावादित्यर्थः। ४. ऋतुगमनेत्यादि अत्र गृहस्थसंन्यासिधर्मवदिति नोक्तं स्नानाचमनजपादिसाधारणधर्मान्तर्भावेन दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः सिद्धान्त्यभिमतसंन्यासे समुच्चयवादिनां विप्रतिपत्तेश्च । त्रिदण्डीसंन्यासिभेदस्तस्यं बाह्यदण्डत्रयधारणं त्वान्तरदण्डत्रयज्ञापनार्थं विधीयत इत्यभिप्रायेण तं निरुक्तवान् भगवान्मनुस्तथाहि—"वाग्दण्डोऽथमनोदण्डः कायदण्डस्तथैवच । यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते । त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य तत सिद्धि निगच्छति' अ-१२ श्लोक १०-११। अत्र वागादिदमनमेव वागादिदण्डत्वेन विवक्षितं, दमनं च निषिद्धनिवर्तनम् । एवं च वागादिकरणदमनं त्रिदण्डिधर्मः । ऋतुगमनं त्वदमनं गृहिधर्म इत्यनयोर्विरुद्धत्वान्नैककर्तृकत्वं यथा तद्वदित्यर्थः । (गृहिधर्म इति-ऋतुकाले भार्यासंगमो गृहस्थस्य धर्मत्वेनर्तौ भार्यामुपेयादिति विधीयते । ५. हेतौसव्यभिचारत्वं शङ्कते-अस्त्येवेति । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं वा शङ्कितमनेनेति मन्तव्यम् । ६. विशिष्टेति—व्यक्तिमात्रैक्येऽपि विशेषणभेदेन विशिष्टयोर्भेदान्नैककर्तृकत्वं तयोरित्यर्थः । तयोः शास्त्रविहिता ये धर्मा आचाराश्च त एव विशेषणानि वेषभेदोऽपि तथा । ७. एकदेशिग्रन्थोक्तानि चोद्यानि कटाक्षयति—यच्चोक्तमित्यादिना । ८. शुद्धिसाम्याद्विरोधोऽसिद्ध इति—विहितत्वेन पापाद्यजनकत्वमेव तयोः शुद्धिः । विप्रशूद्रयोर्युगपत्कटाधिकरणासनविरोधेऽपि न स विप्रयोर्भवति तथा च स्वरूपासिद्धौहेतुरिति भावः । अत्रायं प्रयोगः शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणी अविरुद्धे शुद्धत्वाद्वि-प्रद्वयवदिति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्मनिष्ठेत्युच्यते। ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्। इहाप्युक्तं यो हि जिजीविषेत्स कर्म कुर्वन्। ईशा वास्यमिदं सर्वं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति च। न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्। ततो न पुनरियादिति संन्यासशासनात्। उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति। इमौ[1] द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः। तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति। [2]न्यास एवात्यरेचयदिति

[3]ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरप्यविरोधप्रसङ्गात्। [4]तदुभयं नैकस्य विहितमिति चेत्तुल्य[5]मेतत्प्रति[6]षेधात्तत्र[7] न[8] समुच्चय इति चेदिहापि[9] न कर्मणा न प्रजया नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दानित्यादिप्रतिषेधस्तुल्यः। केवल-[10]कर्मविषयो निषेध इति न च वाच्यं केवलपदव्यवच्छेद्याभावात्समुच्चयविधेरद्याप्यनिश्चितत्वात्तस्मान्न [11]सम्मुच्चये तात्पर्यं मन्त्रद्वयस्येत्याह—ज्ञानकर्मणोर्विरोधमिति। कर्तृत्वाद्यध्यासाश्रयं कर्म शुद्धत्वाकर्तृत्वादिज्ञानेनोपमृद्यत इति [12]संबन्धग्रन्थे यथोक्तं सहानवस्थानलक्षणं विरोधं किं न स्मरसि येनैकाधिकारत्वं तयोः कल्पयसीत्यर्थः मन्त्रलिङ्गादपि तयो[13]र्भिन्नाधिकारत्वं प्रतीयत इत्याह—इहाप्युक्तमिति। जिजीविषो रागिणः कर्मविहितं सर्वमीश्वर एवेति ज्ञानवतस्त्यागो विहितः। किंच[14] धनसंपन्नस्यैव कर्मण्यधिकारः। प्रथममन्त्रार्थाधिकारिणश्च धनाकाङ्क्षानिषेधेन कर्माधिकारनिषेधः प्रतीयत इत्यर्थः। जिजीविषा[15] हि कर्माधिकारिण एव न ज्ञानाधिकारिण इत्यत्र प्रमाणमाह—न जीवित इति। अरण्यं स्त्रीजनासंकीर्णमाश्रममियाद्गच्छेदिति पदं वेदशास्त्रस्थितिस्ततोऽरण्यवासोपलक्षितात्संन्यासान्न पुन-

---

१. इमौद्वावेवेति—अत्र टीकोक्तावतरणानुरोधादिमावित्यादि वाक्यं नारायणोपनिषदीयमिति भाति। परं साम्प्रतिकपुस्तकेष्वेवमादिवाक्यानुपलम्भान्न्यास एवात्यरेचयदित्येतावन्मात्रस्य च तदुपनिषद्युपलम्भात्तस्यैव भूमिकाभूतमिमावित्यादिभाष्यमेवेति गम्यते अन्वेषणयत्नो वा विधेय इति कृतम्। इमावित्यादि वाक्येऽयमन्वयः—पुरस्तादिमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः। क्रियापथः संन्यास एव चेति। तत्र संन्यासं विवृणोति-एषणात्रयस्य त्याग इति। तं प्रशंसति उत्तरेण निवृत्तिमार्गेणेति-सह्युत्कृष्टेन निवृत्तिमार्गेण साध्यः। चित्तं यदा सर्वतो निवृत्तिप्रवणं भवति तदैव सम्पद्यत इत्यर्थः। एवं सति क्रियापथोऽपकृष्टेन प्रवृत्तिमात्रेणेत्यर्थाल्लभ्यते। किंवा निवृत्तिमार्गयत इति निवृत्तिमार्गो मुमुक्षुस्तेनोत्कृष्टेनाधिकारिणा हेतुना संन्यासः प्रवर्तते। अर्थात्तु, प्रवृत्तिमार्गेणापकृष्टेन पुंसा क्रियापथः प्रवर्तत इति। २. तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयतीत्यत्र तैत्तिरीयकशाखीय नारायणोपनिषदीय वचनं संवादयति-न्यास एवात्यरेचयदिति। ३. एकदेशिहेतुं व्यभिचारयति-ऋतुगमनेत्यादिना।

४. सिद्धान्त्युक्तं व्यभिचारमेकदेश्युद्धरति—तदुभयमिति। एकस्य विहितत्वे सति शुद्धत्वं हेतूक्रियत इति भावः।

५. तुल्यमेतदिति—ज्ञानकर्मणोरप्येकविहितत्वाभावाद्विशेषणासिद्धो हेतुरिति भावः। ६. प्रतिषेधादिति—त्रिदण्डिनो मैथुननिषेधादित्यर्थः ७. तत्र=ऋतुगमनादेरिति यावत्। ८. न समुच्चय इति—ज्ञानिनस्तु न कर्मनिषेधः कर्मिणो वा न ज्ञाननिषेध इतिनैकविहितत्वाभावेन विशेषणासिद्ध्यासिद्धिरिति भावः। ९. अक्षतं नैकविहितत्वमिति सिद्धान्त्याह—इहापीति। ज्ञानकर्मणोरपीत्यर्थः १०. पूर्वपक्षी चोदयति केवलेति तथा चैकविहितत्वमेव तयोरिति भावः। ११. सम्मुच्चयो व्यवच्छेद्य इति चेन्नेत्याह-सम्मुच्चयेति। तस्यैव विचार्यमाणत्वादिति भावः।

१२. संबन्धग्रन्थ इति—अनुबन्धादर्शके मन्त्राणां व्याख्येयत्वसमर्थके आरम्भभाष्ये इति यावत्। १३. तयोः=ज्ञानकर्मणोः। १४. मागृध इत्यादेराशयं वर्णयति—किंचेति। १५. ननु जिजीविषुश्चेत्कर्माधिकारी तथा ज्ञानवानपि कर्माधिकारी स्यात् किमु ज्ञानाधिकारी। नहि ज्ञानवानपि मर्तुमिच्छति। यतो व्याघ्रादिभीतः पलायमानोऽपि कदाचिदसावीक्ष्यते तत्राह—जिजीविषा हीति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

च तैत्तिरीयके । द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावित इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं[1] व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागं[2]चानयोर्दर्शयिष्यामः ॥ २ ॥

रियात्कर्मश्रद्धया न प्रत्यावृत्तिं कुर्यादिति जिजीविषादिरहितस्य संन्यासविधानादित्यर्थः । इतश्च नैकफलकामस्य ज्ञानकर्मणोरधिकारः प्रतिपत्तव्य इत्याह—उभयोरिति । को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति सनिदानानर्थग्रहाणं ज्ञानफलं वक्ष्यति । संसारमण्डलान्तर्गतमेव च देशान्तरप्राप्त्यायत्तं हिरण्यगर्भपदप्राप्त्यादिलक्षणं कर्मफलं वक्ष्यति । अग्ने नय सुपथेत्यन्तेनेत्यर्थः । नारायणोपनिषद्वाक्यमपि भिन्नाधिकारित्वे प्रमाणयति—इमौ द्वावेवेति । पुरस्तात्सृष्टि[3]कालेऽनुनिष्क्रान्ततरौ भूतसृष्टिमनुप्रवृत्तौ[4]भिन्नाधिकारित्वादुभयोः संन्यास एवातिरिक्तः श्रेष्ठो भवति परमपुरुषार्थव्यवधानादित्यर्थः । व्यासवाक्यमपि संवादकमाह—द्वाविमाविति ॥२॥

ज्ञान तथा कर्म के भिन्न- भिन्नफल इस उपनिषद् में भी बतलाये गये हैं।' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इस वाक्य से कारणसहित अनर्थ की निवृति ज्ञान का फल बतलाया गया है। एवं संसार—मण्डलान्तर्गत देश विशेष में स्थित हिरण्यगर्भ की प्राप्तिरूप फल 'अग्ने नय सुपथा' इत्यादि मंत्र से कर्म का फल बतलाया गया है। नारायण उपनिषद् में कहा है कि 'कल्याण के यही दो मार्ग अच्छे हैं। इनमें पहले क्रियापथ का अनुसरण करना चाहिए पश्चात् निवृत्ति मार्ग से एषणात्रय का संन्यासरूप त्याग का आश्रय करना चाहिये।' फिर भी इन दोनों में संन्यास मार्ग ही श्रेष्ठ बतलाया गया है। वेदाचार्य महर्षि भगवान् वेदव्यास ने निश्चय करके अपने पुत्र के लिये कहा है कि प्रवृत्तिरूप तथा निवृत्तिरूप दो ही धर्म कल्याण के साधन हैं।

संन्यास इसलिये भी श्रेष्ठ है, क्योंकि संन्यास के बाद परमपुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। इन दोनों का विभाग कर भगवान भाष्यकार भी दिखलायेंगे ॥२॥

१. निश्चितमुक्तमिति—भिन्नाधिकारित्वमेव निश्चित्य पथोर्द्वित्वमभाणीत्यर्थः। न ह्येकस्मै गन्त्रे युगपद्गमनाय पथिद्वयमुपदिश्यते। तदपि विरुद्धम्। २. विभागं चानयोर्दर्शयिष्याम इति—संक्षेपेणोक्तमपि स्फुटप्रतिपत्तये विस्तरेण वक्ष्यामोन्धंतम इत्यादि नवममन्त्रभाष्यारम्भे अग्नेनयेत्याद्यन्तिममन्त्रव्याख्यानावसाने चेत्यर्थः। ३. निवृत्तिपथस्यैव प्राथमिकत्वेन तदपेक्षया प्रवृत्तिपथस्य पूर्वकालीनत्वासंभवात् पुरस्तात्पदं व्याचष्टे—सृष्टिकाल इति। अत एव भाष्य उत्तरेणेत्यस्योत्कृष्टेनेत्यर्थ इत्यवधेयम्। उपर्युदीच्य श्रेष्ठेष्वप्युत्तर इत्यमरः उत्तरं-प्रतिवाक्येस्यादूर्ध्वोदीच्यो त्तमेऽन्यवदिति विश्वश्च तत्र मानम्।

४. पथोर्द्वित्वे हेतुमाविष्करोति—भिन्नाधिकारित्वादिति। यद्वा द्वावपि सृष्ट्या सहैव न प्रवृत्तौ कुतोऽन्वेनामित्यत्रायं हेतुर्भिन्नाधिकारित्वादिति। तत्र ह्याद्ये कृतयुगे कृतकृत्या एव निवृत्तिमार्गाधिकारिणः समुत्पद्यन्ते। त्रैतारम्भे तु कर्माधिकारिण इति स्पष्टं महाभारतादौ। (इहापीशेत्यादिना ज्ञानमुपदिश्य कुर्वन्नित्यिकर्मोपदेशो बलवदत्र गमकमिति विभावनीयम्) एवं निवृत्तिमार्गस्य सृष्ट्या सहैव प्रवृत्तावप्येकत्वेऽपि द्वयं नास्तीति रीत्या द्वावनुप्रवृत्तावित्युच्यते एकाधिकारित्वे तु द्वावपि सहैव सृष्ट्या प्रवर्तेयातामिति भिन्नाधिकारित्वमेव तयोरिति भावः। किं वा उभयोः संन्यासएवातिरिक्त इत्यत्र संभावको हेतुरयं भिन्नाधिकारित्वादिति। भिन्नाधिकारित्वे हि फलभेदसंभवेन फलातिरेकप्रयुक्तोऽन्यतरसाधनारेक इति संन्यासातिरेके प्रयोजकं हेतुमाह—परमेति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥ ३ ॥

[(अद्वितीय परमात्म भाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं, फिर असुरों की तो बात ही क्या? वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। आत्मज्ञान शून्य जो कोई भी आत्मघाती हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं ॥३॥]

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषां च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थको निपातः। ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेना-

आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुं प्रथममविद्वन्निन्दा क्रियत इत्याह—अथेति। ते लोका इति तच्छब्दो यच्छब्दार्थे। यथाश्रुतमिति। येन यादृशं प्रतिषिद्धं विहितं वा देवतादिज्ञानमनुष्ठितं स तदनुरूपामेव

अज्ञानी की निन्दा

अब तृतीय मंत्र आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति की निन्दा के लिये प्रारम्भ किया जा रहा है। यह अविद्वानों की निन्दा प्रथम मंत्रार्थ विस्तार के लिये ही की जा रही है। इसका तात्पर्य निन्दा अर्थ में नहीं, अपितु तत्त्वाज्ञानियों की प्रसंसा में है। "अद्वितीय परमात्मभाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं। उनके अपने-अपने लोक असुर-सम्बन्धी माने जाते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि धनादि की अभिलाषा वाले आत्ज्ञानशून्य व्यक्ति के जो सूकर-कूकरादि देह के समान शरीर हैं, ऐसे देह विशेष प्रारब्ध-भोग के लिये ही प्राप्त हुये हैं। इसी लिए वे सभी देह लोक शब्द से कहे गये हैं।"

मन्त्र में आया हुआ नाम शब्द अनर्थकनिपात है, अर्थात् उसका कोई अर्थ नहीं है। ये सभी लोग आत्मा के अज्ञानरूप अन्धेरे से एवं तज्जन्य 'अहं मम' इत्यादि अभिमानरूप अभिनिवेश से आच्छादित हैं। अतः वे इस वर्तमान शरीर को त्याग कर अपने कर्म और वासना के अनुसार देवयोनि से लेकर स्थावर पर्यन्त अनन्त योनियों को प्राप्त करते हैं। ऐसे आत्मज्ञान शून्य-व्यक्ति को 'आत्महनः' अर्थात् आत्मघाती कहा गया है, क्योंकि सनत्सुजातीय संहिता में भी कहा गया है कि 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।' किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा'। अर्थात् 'जो आत्मा की वास्तविकता को नहीं जानता, उस आत्मघाती आत्मापहारी ने कौन सा पाप नहीं किया?' क्योंकि वह अविनाशी आत्मा की अज्ञानजन्य देहाभिमान के कारण हिंसा कर रहा है। अविद्या दोष से आत्मा

१. नन्वनात्मविदोऽप्यग्निहोत्रादिकर्मकारिणः स्वर्गादि देवलोकानाप्नुवन्तीति प्रसिद्धं तत्कथमविशेषेणासुर्यलोकगामित्व-मुच्यते तत्राह—परमात्मभावमिति । २. देवादयोऽप्यसुरा इति—असुसम्बन्धशून्यमद्वयात्मभावमपोह्यासुष्वेव रमन्ते हि ते। प्राणवाच्यासुशब्दोऽत्र प्राणशब्दाभिलप्येन्द्रियतद्विषयेषु पर्यवस्यतीति बोद्धव्यम्। ३. असुरस्य स्वम् ।४।४।१२३। इत्यनेन वैदिकसूत्रेणासुरशब्दात्तद्धितो यत्प्रत्यय इति जानन्नाह—तेषां स्वभूता लोका असुर्या इति। स्वभूता—भोग्यभूताः। ४. अन्यत्रनामशब्दस्य प्रसिद्ध्यर्थकत्वेऽपि प्रकृते देवादिलोकानामसुर्यत्वेन प्रसिद्ध्य-भावान्नतदर्थकत्वमित्याशयेनाह—नामशब्दोऽनर्थक इति। ५. निपात इति—निपातो हि वाक्यालङ्कारमात्रार्थत्वे-नापिप्रयुज्यत इति न तदानर्थक्यं दोषाय भवतीति भावः। ६. जन्मानि—शरीराणि इति यावत्।

७. आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुमिति—अनेजदेकमित्यारभ्य सपर्यगादित्याद्यष्टममन्त्रपर्यन्तेनाद्यमन्त्रोक्तस्यात्मनः स्वरूपं तदुक्तात्मज्ञानस्य फलं च (इदमपि भुञ्जीथा इत्यनेन सूचितमेवाद्यमन्त्रे) विवरीतुमिति यावत्। ८. अविद्व-न्निन्देति—सा आद्यमन्त्रोक्तात्मविद्यास्तुत्यर्थेति मन्तव्यम्। (स्तुतिश्च विद्यायामधिकारिप्रवृत्त्यर्थेति च।
९. ज्ञानम्=ध्यानमित्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म[1] यथाश्रुतम् । ये के चाऽऽत्महनः । आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः[2] । के ते जना येऽविद्वांसः । कथं त आत्मानं [3]नित्यं हिंसन्ति । अविद्यादोषेण [3]विद्यमानस्याऽऽत्मनस्तिरस्करणात् । विद्यमानस्याऽऽत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ।। ३ ।।

योनिमाप्नोतीत्यर्थः । आत्महन्तृत्वस्योदरभेदिनि प्रसिद्धेः कथमविद्वांस आत्महन इत्याह—कथं त इति । [4]उदरभेदिनोऽध्यात्माधिकारे प्रसङ्गाभावादशुद्धत्वाध्यासेन [5]तिरस्कार एवाऽऽत्महन्तृत्वमित्याह—अविद्यादोषेणेति । [6]यथा कस्यचिच्छुद्धस्य [7]मिथ्याभिशापोऽशस्त्रवध उच्यते तद्वदात्मनि पापित्वाद्यध्यासोऽपि [8]हिंसैवेत्यर्थः । [9]अजरामरत्वादिलक्षणोऽहमिति संवेदनमभिधानं च यत्कार्यं तद्धतस्येव न दृश्यत इति हननमुपचर्यत इत्याह—विद्यमानस्येति । अस्याऽऽत्मघातस्य प्रायश्चित्तविधानादर्शनात्संसरणमेव फलमित्याह—तेन हीति । ।।३।।

के वास्तविक स्वरूप को न जानना एवं देह को मैं मानना, यह उसका बड़ा भारी तिरस्कार माना जाता है । विद्यमान आत्मा का कार्य अजरत्व अमरत्वरूप से ज्ञान होना ही जिसका फल है, उसके बिपरीत प्राकृत पुरुष अनात्मज्ञ आत्मघाती माने जाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि से आत्मा की वास्तविकता तिरोभूत हो चुकी है । अन्य पापों का शास्त्र में प्रायश्चित बतलाया गया है, किन्तु इस आत्मघातरूप महापाप का प्रायश्चित कहीं भी नही बतलाया गया है । अतः शुद्ध आत्मा में पापत्वादि अध्यास भी हिंसा ही है । इसलिये उस आत्महननरूप पाप के कारण अनन्तयोनियों में वे उत्पन्न होते और मरते हैं । यही आत्महनन का दुष्परिणाम होता है । लोक में आत्मघात शब्द का अर्थ विप इत्यादिक से स्वयं ही मर जाना माना जाता है, किन्तु इस अध्यात्मशास्त्र में आत्महनन शब्द से आत्मा में अशुद्धत्व पापविद्धत्वादि का अध्यास करना अर्थ ही लेना चाहिये, क्योंकि इस मंत्र में प्रेत्य शब्द का अर्थ मरकर होता है, अर्थात् इस वर्तमान देह को त्याग कर वे आत्मघाती-आत्मज्ञानशून्य योनियों में अनन्तबार भटकते हैं । यहां पर आत्महनन का फल संसार में भटकना ही माना गया है ।।३।।

१. किं सर्वेऽपि तुल्यलोकभागिनो भवन्ति ? नेत्याह—यथाकर्म यथाश्रुतमिति । २. आत्महन इत्यत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति ताच्छील्ये क्विप् । अताच्छील्यार्थकस्यतु ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्वेवेति नियमादप्राप्तिरस्य क्विपस्ताच्छील्यार्थकत्वेतु आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्विति मानमित्यभिप्रेत्याह—नित्यमिति । ३. विद्यमानस्येति—इदमेवाविद्याया अविद्यात्वं यद्विद्यमानस्याविद्यमानवद्भावसम्पादकत्वमिति ध्वनयत्यनेन । ४. उदरभेदिनीति—असह्यं दुःखविशेषं प्राप्य प्राणत्यागार्थं छुरिकादिना शस्त्रेणोदरं स्वकीयं भिनत्ति विदारयति यः स उदरभेदी तस्मिन् । अवैधमार्गेण प्राणांस्त्यजतीति यावत् । तदुक्तं—व्यापादयेद्वृथाऽऽत्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः । अवैधेनैव मार्गेण आत्मघाती स उच्यत इति । ५. तिरस्कार इति—आत्मन इत्यादिः । ६. नन्वज्ञोहमित्यविद्यया सहैवात्मनो भानात् कथं तया तत्तिरस्करणमिति माऽऽक्षेपीत्याशयानो भाष्यं स्फुटयति—यथेति । आत्मयाथात्म्यतिरस्करणमेव विवक्षितमिति भावः । ७. मिथ्याभिशापो=मिथ्याकलङ्कवचनमिति यावत् । ८. आत्मनि पापित्वाद्यध्यासोऽपि हिंसैवेति—तदुक्तमन्यत्रापि—येऽन्यथा सन्तमात्मानमकर्तारं स्वयं प्रभुम् । कर्ताभोक्तेति मन्यन्ते त एवात्महनो जना इति । भागवतेऽपि—मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महेति ।
९. ननु प्राणवियोगानुकूलव्यापारस्यैव हननत्वात्तिरस्कारस्य तथात्वाभावात् कथं तिरस्कार एव हननमित्याशङ्कामपनुदन्नाह—अजरेति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

[(वह आत्मतत्व अपने स्वरूप से) विचलित न होने वाला, सभी भूतों में एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इस आत्मतत्त्व को चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकीं ? क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ प्रतीत होता है। वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दौड़ने वाले (गतिशीलों) को अतिक्रमण कर जाता है। उसकी विद्यमानता में ही अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाला वायु (समस्त प्राणियो के प्रवृत्तिरूप) कर्मों का विभाग करता है ॥४॥ वह आत्मतत्त्व (सोपाधिक रूप से) चलता है (और निरुपाधिक रूप से) वह नहीं भी चलता है। वह (अत्यन्त) दूर में है और वही निकट में भी है, किंबहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर वह है तथा इसके बाहर भी वही है ॥५॥

यस्याऽऽत्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति [1]तद्विपर्ययेण[2] विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते [3]नाऽऽत्महनः [4]तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—अनेजदिति। अनेजत् न-एजत्। एजृ कम्पने। कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। [5]तच्चैकं सर्वभूतेषु। मनसः संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो[6] जववत्तरम्। कथं[7] विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च। [8]नैष दोषः। [9]निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोप[10]पत्तेः। [11]तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यतेऽनेज-

---

[12]उत्तरमन्त्रमवतारयति—यस्याऽऽत्मन इत्यादिना। [13]अविक्रियमेकं चेदात्मतत्त्वं [14]कथं तर्हि केचन स्वर्गगामिणः केचन नरकगामिणः इति [15]सांसारिकव्यवस्था स्यादिति चेन्मनउपाधिनिबन्धनेत्यभिप्रेत्याऽऽह—मनस इत्यादिना। उपाधेरनुवर्तनात्। विक्रियादिव्यवहाराश्रयत्वमिति शेषः। [16]ननु मनसो

आत्मा का स्वरूप

जिस आत्मा के हनन से अज्ञानी संसार-दुःख में पड़ते हैं, उसके विपरीत आत्मज्ञानी पुरुष

---

१. तद्विपर्ययेणेत्यत्र वैशिष्ट्यं वा तृतीयार्थस्तथा च तद्विपर्ययविशिष्टस्तद्विपरीतोऽयमर्थोऽर्थादवगम्यत इत्यर्थः। २. पूर्वं मन्त्रेऽर्थादवगतमर्थं सहेतुकमाह—तद्विपर्ययेणेत्यादिना। ३. अविद्वद्वैलक्षण्यमेव स्फुटयति—ते नाऽऽत्महन इति। यतोनाऽऽत्महनस्ततो मुच्यन्त इत्यर्थः। ४. स्तुतिर्जिज्ञासां जनयतीत्याह—तत्कीदृशमिति। ५. तच्चैकं सर्वभूतेष्विति—एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ इति श्रुतेरिति भावः। ६. जवीयःशब्दे मतुबन्तादीयसुनि "विन्मतोर्लुक्" पा० ५।३।६५। इति मतुपो लुगित्याशयेन व्याचष्टे—जववत्तरमिति। वेगवत्तरमित्यर्थः। ७. चोदयति—कथमिति।
८. समाधत्ते—नैष इति। ९. निरुपाधीत्यादि—नहि विरुद्धोक्तेः प्रामाण्यं संभवति न चाविरोधायोपायान्तरमस्तीति भावः। १०. उपपत्तेरिति—दृष्टं चैतत्स्वरूपतोऽचलमपि नभो गच्छद्घटादि संबन्धेन गच्छदिव भातीति।
११. ननु किं केनरूपेणोक्तं तत्राह—तत्रेति। १२. अवतारयति—बुद्ध्यारूढं करोतीति यावत्। १३. नन्वनेजदेकमिति निरुपाधिकस्वरूपोपदेशस्तावन् मुमुक्षोः पुरुषार्थोपयोगी। मनसो जवीय इति सोपाधिकोपदेशस्तु क्वोपयुज्यत इत्याकाङ्क्षायां तदुपयोगं सूचयन्नवतारयति—अविक्रियमेकं चेदित्यादिना। १४. कथं तर्हीति—एकस्मिन्नविक्रिये च केचनेति भेदव्यपदेशः स्वर्गादिगामिन इति गन्तृत्वव्यपदेशश्च नोपपद्यत इति भावः। १५. सांसारिकव्यवस्थेति—संसारे प्रसिद्धा सांसारिकाणां वा व्यवस्था=प्रतिनियतः प्रामाणिको व्यवहार इति यावत्। १६. आत्मतत्त्वस्य मनोऽपेक्षयाऽधिकवेगवत्त्वोक्त्या मनसो वेगवत्त्वं प्राप्तं तदाक्षिपन्नाह—नन्वित्यादिना।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देकमिति। मनसोऽन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनादिह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं संकल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सति प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्याभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह। नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाऽऽप्नुवन्न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनो जवीयो मनोव्यापारव्यवहितत्वात्। आभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयी भवति। यस्माज्ज वनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्पूर्वमेव

देहान्तःस्थवाद्बहिर्गमनायोग्यत्वात्कथं वेगवत्त्वमित्याषङ्क्याऽऽह—देहस्थस्येति। जवीयस्त्वादश्वादिवत्तर्हि चक्षुरादिग्राह्यत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह नैनद्देवा इति। चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनोव्यापारपूर्वकत्वात्तदविषयत्वे चक्षुरादिविषयत्वमप्यात्मनो न संभवतीत्यर्थः। मनसो वा कथं न विषय आत्मेत्यत

मुक्त हो जाते है, क्योंकि वे आत्मघाती नहीं हैं। वह आत्मतत्त्व किस प्रकार का है? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है कि "जो कम्पनादि क्रियारहित, एक, अत्यन्त गतिशील, मन से भी अधिक वेगवाला, इस सर्वत्र व्यापक आत्मतत्त्व को आजतक चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्राप्त न कर सकी हैं। काल एवं वा वादि अत्यन्त वेग से भागने वालों को भी यह आत्मा अतिक्रमण कर जाता है, उसी आत्मा में सर्व प्राणियों का क्रियारूप-हिरण्यगर्भ प्राणियों के कर्मों का आधान करता है।'

परिच्छिन्न वस्तु में ही कम्पनादि क्रियायें होती हैं, व्यापक में नहीं। आत्मा व्यापक तथा एक

१. अनुवर्तनादनुसरणादाध्यासिकतादात्म्यादिति यावत्। २. संकल्पेनेति—तद्विषयकसंकल्पनमेव तस्य तत्र गमनं न तु तेन देहाद्बहिर्निर्गन्तव्यमिति भावः। ३. तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सतीति—अत्रेदमवधेयम्-जीवद्दशायान्तु दूरस्थब्रह्मलोकादीनां संकल्पनमेव मनसस्तत्रगमनम्। मरणादूर्ध्वं तु देहान्निर्गत्यापि तस्य तद्भवतीति स्वर्गादिगामित्वव्यवस्था सुस्था दृष्टिसृष्टिसिद्धान्ते तु संकल्पमात्रमेव सर्वं न क्वचिन्निर्गमनगमनादि तथ्यमिति।
४. प्रथमं प्राप्त इवेति—ब्रह्मलोकादीन् संकल्पयतो मनसः साक्षित्वेन भासमानश्चैतन्यप्रकाशः प्रथमं प्राप्त इव भातीत्यर्थः। तस्य गत्यादिरूपप्राप्तेरभावादिवेत्युक्तम्। ५. देवाश्चक्षुरादीनीति—ननु प्रसिद्धा इन्द्रादयो देवाः कुतस्त्यज्यन्ते मनः संनिधानादिति गृहाण। ६. न प्राप्तवन्त इति—न विषयीकर्तुं शक्नुवन्तीति यावत्।
७. अत्रैव हेतुं वक्तुमाह—तेभ्य इत्यादि। ८. मनसो जवीयस्त्वे हेतुमाह—मनोव्यापारव्यवहितत्वादिति। एतदेव व्याकृतं टीकायां चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनोव्यारपूर्वकत्वादिति। ९. नैवदेवानामिति—मनस्त्वव्यवहितत्वादात्माभासं गृह्णात्यपि शुद्धं चेत् मनसैवेदमाप्तव्यं मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादि श्रुतेरिति भावः। १०. जवनादिति—वेगशीलादित्यर्थः। वेगार्थाज्जुधातोः "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः पा० ३।२।१५०।" इति ताच्छीलिकः कर्तरि युच्। ११. ऋषीगताविति तौदादिकाल्लङ् व्यत्ययो बहुलमिति व्यत्ययेन शब्विकरणः। "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपीत्याडभाव इत्याभिप्रेत्यार्षत्पदं व्याकरोति-पूर्वमेवगतमिति। १२. बहिर्गमना योग्यत्वादिति—इदं च जीवद्दशायामेवेति मन्तव्यम्। तत्र हि मनसो देहान्निर्गमने देहः काष्ठोपलादिवच्छून्य एवापद्येतेति भावः। ननु देहान्तःस्थानामपि नाडिसंचारिणां रक्तादिधातूनां वेगवत्त्वं चिकित्साशास्त्रे प्रसिद्धं तत्राह बहिरिति। १३. ननु देहान्तःस्थानां कफादिधातूनां बहिर्गमनमपि सुव्यक्तं तत्राह—कथं वेगवत्त्वमिति।
१४. चक्षुरादिग्राह्यत्वं प्राप्तमिति—तथा च चक्षुरादिग्राह्यत्वादेवाश्वादिवदेव नानेजत्त्वमेकत्वं वा संभवतीति भावः।
१५. तदविषयत्व इति—मनोऽविषयत्व इत्यर्थः। गृह्णदप्यात्मावभासं मनो न तं प्रकाशयतीति तस्य तदविषयत्वमिति भावः। १६. चक्षुरादीति—नह्यग्रेसरागम्येऽनुचरगमनं दृष्टमिति भावः। १७. न संभवतीति—रूपादिरहितत्वाच्चेत्यपि बोध्यम्। १८. मनसो वेति—अत्यन्ताव्यवहितत्वान्मनोविषयत्वेन तु भवितव्यमित्येवं वितर्कार्थोऽयं वा शब्दः। "वा स्याद्विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे" इति मेदिनी।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। इस वाक्य से श्रुति आत्मा में न केवल निर्विकारत्व बतला रही है अपितु जीवाणुत्व तत्व तथा जीवनानात्ववाद का खण्डन भी कर रही है। अपनी अवस्था से गिर जाना ही कम्पन है। आत्मा की अपनी अवस्था से कभी प्रच्युति नहीं होती, क्योंकि वह सदा एकरस है। अतएव उसे कूटस्थ कहा गया है। सूक्ष्म शरीरादि उपाधियों को लेकर उसे नरकगामी तथा स्वर्गगामी कह दिया जाता है। निरुपाधिक आत्मा में गमनागमनादिस्थूल शरीर का धर्म, सुख तथा दुःखादि सूक्ष्म शरीर का धर्म कुछ भी नहीं है। उपाधियों को लेकर ही संकल्प-विकल्परूप वेगवाले मन से भी अधिक वेगवाला आत्मा को बतलाया गया है। एक ही आत्मा में अत्यन्त निश्चलत्व एवं मन से भी अधिक वेगवत्त्व ऐसे विरुद्ध धर्मों का कथन कैसे कर रहे हो ? ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक तथा सोपाधिकरूप से दोनों ही धर्मों की उपपत्ति हो जाने के कारण उक्त दोष नहीं माना जा सकता। इन दोनों में निरुपाधिकत्व आत्मा का अपना रूप है। अतएव निरुपाधिकरूप से अनेजत्व तथा एक उसे श्रुति कह रही है। एवं सङ्कल्प-विकल्पात्मकमनरूप उपाधि के अनुवर्तन करने से आत्मा को गतिशील माना गया है। इस देह में स्थित मन का अत्यन्त दूरस्थ ब्रह्मलोकादि में सङ्कल्प से ही क्षणमात्र में गमन होता है, इसलिये मन को अत्यन्त वेगवाला कहा गया है। ऐसे तीव्र गतिवाले मन के ब्रह्मलोक में जाने पर आत्मचैतन्य का भाव वहाँ भी होता है। मानो आत्मा मन से भी अधिक वेगवाला होने के कारण मन से भी अधिक वेगवाला होने के कारण मन से पहले ही ब्रह्मलोक में पहुंच गया है। अतः मन से अधिक वेगवाला आत्मा को श्रुति में कहा गया है।

इस देह में स्थित मन को अत्यन्त दूर देश ब्रह्मलोक में जाना कहा गया है, यह तो अत्यन्त असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि मन के निकल जाने पर देह मृतप्राय हो जायेगा? ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सङ्कल्प मात्र से ब्रह्मलोक में मन का जाना कहा गया है, स्वरूपतः नहीं।

यदि अश्वादि की भांति वेगवाला आत्मा है तो आत्मा इन्द्रियों का विषय हो जायेगा ? इस शंका का समाधान श्रुति स्वयं ही कर रही है कि 'सर्वव्यापक आत्मा को चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी प्राप्त न कर सकीं, जो कि दिव्य स्वभाववाली है; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार मन के अधीन है। इन्द्रियों से श्रेष्ठ तथा तीव्र वेग वाला मन है। ऐसे मनोव्यापार के बाद ही इन्द्रियों में व्यापार होता है। जब मनोव्यापार का ही विषय आत्मा न हो सका, तो इन्द्रियों के व्यापार का विषय कैसे होगा ? आत्मा का आभास मात्र भी चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ तो बाह्य भूतभौतिक पदार्थ को ही ग्रहण कर सकती हैं प्रत्यगात्मा को नहीं। अतः आत्मा में चक्षुरादि इन्द्रियग्राह्यत्व नहीं है। आत्मा आकाश की भांति सर्वत्र व्यापक होने से कहीं भी मन के जाने पर वहां वह पूर्व से प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। आत्मा सर्वव्यापक, सुख-दुःख जन्म-मरणादि सम्पूर्ण संसार धर्मों से रहित है तथा निरुपाधिक स्वरूप से निर्विकार है। फिर भी औपाधिक आत्मा सम्पूर्ण जन्ममरणादि सांसारिक विकार अज्ञानियों की दृष्टि से अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है, एक होता हुआ भी मूढ़ पुरुष को अनेक के समान प्रतिशरीर भिन्न२ प्रतीत होता है। इस बात को श्रुति बतला रही है कि यदि आत्मा से भिन्न मन, वाणी एवं इन्द्रियाँ इत्यादि अन्यन्त द्रुतगति से भागें, फिर भी आत्मा उसका अतिक्रमण कर जाता हुआ-सा दिखायी पड़ता है। यद्यपि श्रुति में स्वार्थक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि 'तिष्ठत्' और 'धावत्' ऐसे परस्पर विरोधी शब्दों का प्रयोग कर श्रुति इवार्थ को स्वयं ही बतला रही है। आत्मा स्वयं निर्विकार है ऐसा उक्त ग्रन्थ का तात्पर्य समझना चाहिए। उस नित्यचैतन्य-स्वभाव-आत्मा के रहने पर अन्तरिक्ष में भ्रमण करनेवाला सबके प्राणों का भरण-पोषण करनेवाला वायु प्राणियों के सम्पूर्ण व्यापाररूप कर्म को धारण करता है। अन्तरिक्ष में विचरने वाले वायु को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गतम् । [1]व्योमवद्व्यापित्वात् । [2]सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह—तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येत्यतीत्य[3] गच्छतीव[4] । इवार्थं स्वयमेव दर्शयति—तिष्ठदिति । स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः । तस्मिन्नात्मतत्त्वे[5] सति नित्य[6]चैतन्यस्वभावे

आह—यस्मादिति । [1]यथा मनस्थं परिमाणं मनसो न विषयोऽत्यन्ताव्यवधानात्तथाऽऽत्माऽप्यत्यन्ताव्यवधानान्मनसो न विषयस्तद्व्[7]यापकत्वाच्चेत्यर्थः । [8]उक्तात्मसंभावनायोपपत्तिमाह—तस्मिन्नात्मतत्त्वे-सतीति । श्रौतानि कर्माणि सोमाज्यपयःप्रभृतिभिरद्भिः संपाद्यन्त इति संबन्धाल्लाक्षणिकोऽप्शब्दः

को मातरिश्वा कहते हैं। वह आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दो रूप से पिण्ड और ब्रह्माण्ड में काम कर कर रहा है।

स्थूल, सूक्ष्म शरीर जिसके आश्रित हैं अथवा जिसमें ओतप्रोत हैं जिसे सूत्र एवं हिरण्यगर्भादि नाम से भी बतलाया गया है, वही सूत्रात्मा सम्पूर्ण संसार को धारण कर रहा है। अग्नि का प्रज्वलन तथा दहन, सूर्य का तपन एवं प्रकाश, बादलों का अभिवर्षण इत्यादि समष्टि-व्यापार सूत्रात्मा के नियन्त्रण में ही हो रहे हैं। यदि वह सूत्रात्मा समष्टि-व्यापार का प्रवर्तक नहीं होता, तो यह अग्नि आदि अपने स्वभाव को छोड़ बैठते। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग से प्राण का सम्बन्ध हट जाने पर वह अंग क्रियाशून्य हो जाता है। शरीर में रक्त का संचार एवं शरीर तथा इन्द्रियों की प्रत्येक चेष्टायें अध्यात्म वायु से संचालित है। उसके बिना यह सब गतिशून्य हो जायेंगे। वैसे ही

१. पूर्वं गतत्वे हेतुमाह—व्योमेति-आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति श्रुतेः। २. पुर्वार्धार्थं संक्षिपन्नुत्तरार्धमवतारयति-सर्वव्यापीत्यादिना । ३. अतीत्यगच्छतीवेति—तैरगृह्यमाणत्वादिति भावः। "यन्मनसा न मनुते;" "यद्वाचानभ्युदितमित्यादि" श्रुतेः । ४. नन्विव शब्दस्य मन्त्रे प्रयोगाभावेऽपि कुतस्तदर्थलाभ इत्यपेक्षमाणं तल्लम्भकं लम्भयति—इवार्थमित्यादिना— । ननु विरुद्धमपि वेदोक्तत्वादेवोभयमेव तथ्यं किं नेति चेच्छृणु नहि वेदोक्तत्वमेव तथ्यत्वे प्रयोजकं तर्हि तात्पर्यवद्वेदोक्तत्वमितरथाऽऽदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तर इत्येवमादिवेदोक्तस्यापि तत्त्वं स्यात् । किं च न खलु विरुद्धार्थप्रतिपादको वेद, उन्मत्तप्रलापवदप्रामाण्यापत्तेः । किं तर्हि अतथ्यमनूद्य तथ्यप्रतिपादनाय हि स इति मन्तव्यम् । अथ गच्छतीति तथ्यं तिष्ठदित्यतथ्यमित्येव किं न स्यादिति चेन्न । लोकसिद्धस्यैवानुवाद्यत्वादतथ्यत्वमेव गमनादिविक्रियायाः । तदसिद्धस्यैव च प्रतिपाद्यत्वं तिष्ठदित्यस्य ध्यायतीव लेलायतीवेत्यादिस्फुटतरश्रुत्यन्तरानुरोधेन तत्रैव तात्पर्यावगमाच्चेत्यलम् । अस्यैवायमपरः संक्षेपमार्गस्तथाहिविरुद्धयोः स्थितिगत्योस्तथ्ययोरेकत्र युगपदसम्भवेनान्यतरत्रैवार्थान्वयस्यावश्यकत्वेऽपि तिष्ठदिवेत्येवजायतां, जायतां च तत्रात्येतीत्येव गमकं वैपरीत्ये तु का नाम विनिगमनेति चेन्न । प्रतीयमानेनैवार्थेनेवार्थोऽन्वेति नाप्रतीयमानेनेत्यस्यैव गमकत्वात् । प्रतीता हि गतिरतथा च स्थितिरिति । ५. तदधिकरणकमप्कर्मकं मातरिश्वकर्तृकं वर्तमानकालिकं धानमिति यथाश्रुतार्थस्य बाधितत्वेनासम्भवाद्व्याचष्टे-तस्मिन्नात्मतत्त्वे सतीति । ६. अनित्यचित्त्वानां देहादीनां नित्यचैतन्याधीनचेष्टाकत्वदर्शनादतोऽन्यदार्तमिति च हिरण्यगर्भादीनामप्यनित्यत्वावधारणादर्थापत्त्यैव तस्मिन्नित्यत्रायमर्थलाभ इत्याशयेनाह-नित्यचैतन्यस्वभाव इति । ७. तद्व्यापकत्वादिति—नहि गृहमणिर्ब्रह्माण्डमपि प्रकाशयिष्यतीति भावः। नन्वखिलमप्रकाशयन्नपि दीपः स्वप्रभावच्छिन्नं तत्प्रकाशयत्येव तद्वत्प्रकृतेऽपि भविष्यतीति चेन्न तत्रात्यन्ताव्यवहितत्वस्य तत्राभावादेवेति गृहाण । ८. ननु मनश्चक्षुरादिभिरज्ञेयमपि वस्त्वस्तीति कुतः संभाव्येतेत्याशङ्क्य तत्संभावकमवतारयति-उक्तेत्यादिना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मातरिश्वा [1]मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा[2] वायुः [3]सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको [4]यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि [5]यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं [6]सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा । अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि । अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति [7]विभजतीत्यर्थः । [8]धारयतीति वा । [9]भीषाऽस्माद्वातः पवत इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे [10]सर्वास्पदभूते सत्येव भवतीन्त्यर्थः ॥४॥

कर्मसु [11]प्राणचेष्टायाश्चाब्निमित्तत्वप्रसिद्धेः[12] । कारणवाचकः शब्दः कार्ये [13]लक्षणया प्रयुक्त इत्यर्थः । ईश्वरस्यापि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्याऽधिष्ठाता परमेश्वरः संभाव्यत इत्युक्तमिदानीं मातरिश्वग्रहणमुपलक्षणा[14]र्थमादाय तात्पर्यमाह—सर्वा हीति ॥४॥

समष्टि जगत् में सूत्रात्मा के बिना ब्रह्माण्ड के सारे व्यापार अनियन्त्रित हो जायेंगे । अतः समष्टि-व्यष्टि जगत् में मातरिश्वा पद वाच्य वायु ही प्राणियों के कर्मों का विभाग और धारण करता है । तभी तो अन्य श्रुति भी बतला रही है कि इसी के भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, मृत्यु नियत समय पर प्राणान्त करती है । ऐसे हिरण्यगर्भ जिस नित्यचैतन्य स्वभाव आत्मतत्त्व के साक्षित्व में जगत् की व्यवस्था करता है, उस आत्मा का वास्तविक स्वरूप इस मन्त्र में बतलाया गया है । स्थूल, सूक्ष्म पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के क्रिया कलाप उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधिष्ठान नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व

---

१. मातर्यन्तरिक्ष इति—निरुक्तेऽपि नैघण्टुकाण्डे पूर्वषट्के २ अ. २ पा. ४ ख. यईंचकार न सो अस्य वेद, यईंददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् स मातुर्योनौ परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश" इति मन्त्रे वर्षकर्मपरनैरुक्तव्याख्याने मातुर्योनावित्यत्र माताऽन्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानीत्युक्तम् । २. मातरिश्वावायुरिति—श्वन्नुक्षन्पूषन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्परिज्मन्मातरिश्वन्मघवन्निति । इत्युणादिसूत्रे धातोरिकारलोपेन कनिन्प्रत्ययान्तो मातरिश्वन् शब्दो निपातितः । निरुक्ते दैवतकाण्डे उत्तरषट्के ७अ. ७पा. ४ख. अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशोराजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम् । आदूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वापरावतः" इति मन्त्रे मातरिश्वावायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसितिमातर्याश्विनितिवेत्युक्तम् । ३. नात्र लोकप्रसिद्धवायुमात्र ग्राह्यं किं तर्हि तदुपाधिको हिरण्यगर्भ इत्याशयेनाह—वायुःसर्वेत्यादि । सर्वेषां प्राणभृतां याः क्रियास्तदात्मकः क्रियासमष्टिरूप इत्यर्थः । "वायुरेवव्यष्टिर्वायुःसमष्टि" रिति श्रुतेः । ४. यदाश्रयाणीत्यादि—सहोवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्र, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति । तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति । वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीति श्रुतिरत्रानुसंधेया । ५. किं भूतलाश्रयकघटवन्नेत्याह—यस्मिन्निति । ६. किं शरीरमात्राधारएवायं नेत्याह—सर्वस्यजगतोविधारयित्रिति । अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । प्र. इत्यादि श्रुतेरिति भावः । ७. धातूनामनेकार्थत्वप्रसिद्धेः प्रकृतोपयोगिनमर्थमाह—विभजतीति । ८. धारयतीति—स्वयमेवाग्न्यादिरूपः सन्नित्यर्थः । ९. श्रुत्यन्तरमत्रसंवादयति—भीषेति । भीषा=भयेन, अस्मात्=अस्य । १०. नहि कारयदिव पृथक्भातीत्यत आह—सर्वास्पदभूत इति । नह्यग्न्याधश्रितपयक्रियायां कारयन्निव भाति वह्निस्तद्वत् ।

११. नन्वेवमपः कर्माणि श्रौतानीत्येव व्याख्येयम् । प्राणिनां चेष्टालक्षणानीति तु कुतोऽत आह—प्राणेत्यादि । १२. प्रसिद्धेरिति—आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति श्रुतेश्चेत्यपि बोध्यम् । १३. लक्षणयाप्रयुक्त इति—निरुक्तनिघण्टौ तु द्वितीयाध्यायारम्भे अपः; अप्नः; दंमः; इत्यादिपठित्वा इति शड्विंशतिः कर्मनामानीत्युक्तम् ।

१४. उपलक्षणार्थमिति—प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनेति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—तदेजतीति। तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः। किंच तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूर इव। तत् उ' अन्तिक इति

'जामिताऽऽलस्यम्। व्यापित्वाद्बाह्यतोऽस्ति निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तश्चेदस्ति 'तर्हि निरन्तर-

के रहने पर ही होते हैं, यही इस मन्त्र का तात्पर्य है। इस मन्त्र में आये हुए अप शब्द का अर्थ कर्म समझना चाहिये, क्योंकि श्रौत-स्मार्त सभी कर्म सोमरस, घृत एवं दुग्धादिरूप जलप्रधान द्रव्य से सम्पन्न होते हैं। अतएव कर्म अर्थ में अप शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है ॥४॥

श्रुति भगवती के मन्त्रों में आलस्य नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त मन्त्र से कहे हुये अर्थ को पुनः पञ्चम मन्त्र से भी बतला रही है कि 'वह आत्मतत्त्व चलता भी है और निरुपाधिकरूप से नहीं भी चलता है। वही अत्यन्त दूर में और निकट में भी है, किम्बहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर तथा बाहर भी वही है।' जिस आत्मतत्त्व का प्रसङ्ग चल रहा है, उसी को 'तत्' पद से मन्त्र में बतलाया गया है। वह आत्मा उपाधियों का आश्रय लेकर मूर्तरूप से चलता है, गतिशील प्रतीत होता है, किन्तु स्वतः अपने निरुपाधिकरूप से चलता नहीं है, अर्थात् स्वतः अचल होता हुआ भी उपाधि के कारण चलता सा प्रतीत होता है। जिस पकार जल में प्रतिबिम्बित अम्बुस्थ सूर्य निष्कम्प एवं अचल होता हुआ भी जलरूप उपाधि की ओर ध्यान देने वाले अविवेकियों को सूर्य हिलता सा प्रतीत होता है। ठीक वैसे ही निष्क्रिय-विशुद्ध चैतन्य भी अविवेकी देहात्मदर्शियों को क्रियाशील प्रतीत होता है। ऐसा आत्मा अज्ञानियों के लिए सौ करोड़ वर्षों में भी प्राप्त न होने के कारण अत्यन्त दूर में है, किन्तु विवेकशील आत्मतत्त्वदर्शियों की दृष्टि में प्रत्यगात्मारूप होने के कारण अत्यन्त समीप में भी वही है। इस सम्पूर्ण संसार के भीतर अन्तरात्मा रूप से वही विद्यमान है। ऐसा अन्य श्रुतियों में भी बतलाया गया है। यथा 'जो आत्मा सबके भीतर' इत्यादि जगत्, नाम, रूप एवं क्रिया भेद में विभक्त है, किन्तु इस अनेक भागों में विभक्त आत्मा व्यापक होने से आकाशवत् सम्पूर्ण संसार के बाहर भी है, एवं

१. निपात एकाजित्यादि प्रगृह्यप्रकृतिभावबाधेन मयउञोवोवेतिवत्वं दर्शयितुं पदानि च्छिनत्ति तदिति। पदच्छेदः पदार्थोक्तिरित्यादि हि व्याख्यान लक्षणमाचक्षत इति। २. जामिताऽऽलस्यमिति—नन्वालस्यं चेतनावतां धर्मो मन्त्राणां च शब्दसमुदायरूपाणां चेतनावत्त्वाभावेनाऽऽलस्याप्रसक्तेर्नाप्रसक्तं निषिध्यत इति नियमाच्च न मन्त्राणां जामितास्तीनि रिक्तं वच इति चेन्मैवम्। मन्त्राणामिति मन्त्रपदेन तपोभिर्विधूततमास्तद्रष्टालक्ष्यः। कुतस्तस्यालस्यं तत्रापि मन्त्रस्फोरको भगवान् स्वयंभूस्तस्य तु कुतस्तरां तदित्यभिप्रायात्। अतएव पुनराहेत्यपि संगच्छते। तदुक्तं—युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयं भुवेति। जामिताशब्दस्यालस्यार्थकत्वे तु मूलमन्वेष्यं यतो जैमिनीये "अजामिकरणार्थत्वाच्च"। १०।८।६३। इति सूत्रे शाबरभाष्ये "जामि वा एतद्यज्ञस्यक्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति विष्णुरुपांशुयष्टव्योऽजामित्वायेत्यादि वचनान्युदाहृत्य जामिसादृश्यमिति पुरोडाशयोश्च सादृश्यदोष उच्यत इत्याद्युक्तनिरुक्तनैगमकाण्डे पूर्वषट्के ४ अ. ३पा. ४ख आघातागच्छानुत्तरायुगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिमत्" इति मन्त्रे जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा समानजातीयस्येवेत्युक्तम्। तत्र दुर्गाचार्यश्च व्याचख्यौ बालिशो मूर्खः स हि बाल इव शेते प्रमादित्वाद्धर्मकार्येष्विति। तथा च बालिशपर्यायो जामिशब्दः प्रकृतेत्वलसे भाक्त इत्येव वा मन्तव्यम्। ३. तर्हीति—व्यापित्वबाह्यत्वादिनाधर्मवत्त्वे सतीत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

च्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषा[1]मात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो [2]नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादा[3]काशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तः। प्रज्ञानघन एवेति च शासनान्निरन्तरं[4] च ॥५॥

---

[5]मेकरसं न [6]स्यान्मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रज्ञान घन एवेति ॥५॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण भीतर भी है। आत्मा प्रज्ञानघन स्वरूप ही है, ऐसा अनुशासन होने के कारण अन्तर्बाह्य भाव से शून्य निरन्तररूप में देश, काल वस्तु परिच्छेद से शून्य एकरस आत्मा है। इनमें भी व्यापक होने से पिण्ड-ब्रह्माण्ड के बाहर है तथा निरतिशय सूक्ष्म होने के कारण भीतर भो है। अतः आत्मतत्त्व निष्क्रिय, निर्विकार, निरन्तर सर्वत्र विद्यमान है ॥५॥

---

१. आत्मत्वादिति—आत्मत्वेनज्ञातत्वादिति यावत्। २. नामेत्यादि—अयं वा इदं नामरूपंकर्मेति हि त्रिष्वेव नामादिषु जगतः संक्षेपः श्रूयत इति भावः। ३. आकाशवदिति—सूक्ष्मत्वेन व्यापकत्वेन च हेतुनोभयत्र दृष्टान्तः। ४. निरन्तरं चेति—व्यापित्वबाह्यत्वादिकं सर्वमुपाधिदृशैवोच्यते। कथंचित्तत्वप्रबोधनाय वस्तुतः प्रज्ञानघनमात्रमेव न तु नानारूपमिति यावत्। ५. निरन्तरत्वमेव व्याकरोति—एकरसमिति। एकरूपमिति यावत्। ६. न स्यादिति—यतः क्वचिद्व्यापित्वावच्छेदेन बाह्यत्वं तदवच्छेदेनैव व्यापित्वम्। एवं क्वचित्सूक्ष्मत्वावच्छेदेनान्तरत्वं तदवच्छेदेनैव च सूक्ष्मत्वमित्येवं नानारसत्वस्यैव सम्पन्नत्वादेकरस्ये च प्रमाणाभावादित्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो नविजुगुप्सते ॥६॥

[जो (परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में भी अपने आत्मा को ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही (किसी से घृणा नहीं करता ॥६॥]

यस्तु । यः परिव्राड्मु[1]मुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्ता[2]दीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि[3] न पश्यतीत्यर्थः । सर्वभूतेषु च तेष्वेव चाऽऽत्मानं तेषा[4]मपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन [5]यथाऽस्य[6] देहस्य कार्य[7]करणसंघातस्याऽऽत्माऽहं [8]सर्वप्रत्ययसाक्षि-

---

उक्तात्मज्ञानस्य फलं विधिनिषेधातीतजीवन्मुक्तस्वरूपेणावस्थानमित्याह—यस्त्वति ॥६॥

अभेद आत्मदर्शी की स्थिति

पूर्वोक्त आत्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति विधिनिषेध से ऊपर उठकर जीवन्मुक्त हो जाता है, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण आगे के मन्त्र से बतलाया जा रहा है।

जो मोक्षाभिलाषी एवं मुक्त-पुरुष जड-चेतन सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है तथा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

मन्त्र में आया हुआ 'तु' शब्द संसार दृष्टि परित्याग के लिये कहा गया है।

परिव्राजक मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर तरुगुल्मादि-स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों को स्वयं ज्योति सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में ही देखता हैं, अर्थात् आत्मा से भिन्न अन्य वस्तुओं को नहीं देखता, क्योंकि आत्मा में सम्पूर्ण भूत कल्पित है और कल्पित वस्तु की अधिष्ठान से पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। अतः आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण भूतों को न देखकर आत्मस्वरूप ही देखता है तथा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है। जिस प्रकार कार्य कारण संघातरूप इस देह का आत्मा में हूं, सभी अन्तः-करण की वृत्तियों का साक्षी, सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करने वाला केवल तथा निर्गुणस्वरूप हूं। वैसे

तेनत्यक्तेनेत्युक्त त्यागवन्तमेव यच्छब्दः परामृशतीत्यभिप्रायेण व्याचष्टे यः परिव्राड् मुमुक्षुरिति । २. भवन्ति सत्त्वेन प्रतीयन्त इति भूतानीति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्य भूतपरं व्याकरोति–अव्यक्तेत्यादिना । एतेनाव्यक्तस्यानादित्वात्कथं भूतपदवाच्यत्वमित्यपास्तम् । ३. भूतले घटादिवदात्मनि भिन्नत्वेन भूतानां दर्शने प्रयोजनाभावात् । यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदिति वाक्यशेषाच्चाभेदार्थैव सप्तमीत्यभिप्रायेण व्याख्याति—आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीति । ४. पूर्वार्धेन भूतानामात्माभेदं व्याख्याय तृतीयपादे विवक्षितं प्रतिभूतं भिन्नत्वेन भासमानानामात्मनां वास्तवाभेदं व्यनक्ति—तेषामपीत्यादिना । न च सर्वभूतेष्वित्येषापि सप्तम्यभेदार्थैव भविष्यति सर्वभूताभिन्नं चात्मानमनुपश्यतीति, इति शङ्कितव्यम् । भूतान्यात्मैवाभूदिति वाक्यशेषादेव । तत्र हि भूतानामात्मनाऽभेद एवानूद्यते नत्वात्मनोऽपि भूतैरिति स न विवक्षितः श्रुत्याऽन्यथा तस्याप्यनुवादं कुर्यादेवेति । आत्मत्वेनानुपश्यतीत्यनुषङ्गः । ५. स्वात्मनः सर्वभूतात्मत्वेन दर्शनं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथाऽस्येत्यादिना । ६. अस्येति—मुमुक्षुदेहो निर्दिश्यते । ७. देहस्येत्यस्यैव व्याख्यानं कार्यकरणसंघातस्यति । स्वपदानि च वर्णन्त इति हि भाष्यलक्षणम् । ८. अस्य देहस्यात्माऽहमित्युक्तमेतद्देहात्मत्वमेव स्फुटयति—सर्वेत्यादिना । यथैतद्देहे जायमानानां सर्वेषां प्रत्ययानामन्तःकरणवृत्तीनां साक्षिभूतोऽहमस्मि चेतयिता चास्यदेहस्य चेष्टयिता ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव 'स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवाऽऽत्मेति सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं 'निर्विशेषं 'यस्त्वनुपश्यति स' ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति। प्राप्त'स्यैवानुवादोऽयम्। सर्वा' हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवत्यात्मानमेवात्यन्त'विशुद्धं निरन्तरं' पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्त'मेव । ततो न विजुगुप्सत इति ॥६॥

ही सम्पूर्ण भूतों में अन्तरात्मारूप से अपने आपको ही देखता है। इस रूप से अव्यक्त से लेकर तरुगुल्मादिस्थावर पर्यन्त सभी भूतों का आत्मा मैं ही हूं, ऐसे निर्विशेष आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में देखता है। अतएव इस विशुद्ध दर्शन के प्रभाव से सर्वात्मदर्शी, तत्त्वनिष्ठ जीवन्मुक्त-पुरुष किसी से घृणा नहीं करता। घृणा तो अपने आप से भिन्न दुष्ट वस्तु को देखने पर होती है। अत्यन्त विशुद्ध बाह्य एवं आभ्यन्तर भेदरहित केवल अद्वितीय आत्मा को देखने वाले पुरुष की दृष्टि में घृणा का कोई निमित्त ही नहीं रह जाता। यह उसका स्वभाव ही बन जाता है। श्रुति तो उसके स्वभाव का 'ततो न विजुगुप्सते' इस वाक्य से अनुवाद मात्र कर रही है।

'ईशावास्यामिदम् इस मन्त्र से सर्वत्र ईश दृष्टि का विधान किया गया है। ऐसा सर्वत्र परमेश्वर दृष्टि वाला सर्वात्मदर्शी अपने विशुद्ध आत्मा में जड़-चेतन सम्पूर्ण संसार को अध्यस्त देखता है, इसे इस मन्त्र के पूर्वार्ध से बतलाया गया है।

इस मन्त्र के तृतीय पाद से नैरात्म्य वाद का निराकरण करते हुए सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से वर्तमान आत्मा का दर्शन बतलाया गया है। यथा कल्पित सर्प अपने अधिष्ठान रज्जु से भिन्न नहीं होता, अतएव रज्जु में सर्प को कल्पित जानने वाला पुरुष अधिष्ठान रज्जु से पृथक् सर्प की सत्ता नहीं

१. केवलो वस्तुतः साक्षित्वादिधर्मरहितः निर्गुणो ज्ञानेच्छादिगुणनिर्मुक्तः इत्येवं शोधितं त्वंपदार्थं स्वदेहात्मत्वेन पश्यति तथैव सर्वभूतात्मत्वेनापीत्याह—अनेनैवस्वरूपेणेति। एतद्द्दवर्तिना साक्षित्वादि घटितस्वरूपेणेत्यर्थः। तथा चौपाधिकैः सुखित्वादिधर्मैर्विभेदे भासमानेऽपि नैतत्तात्त्विक मैक्यदर्शनं प्रतिहन्यत इति भावः। २. निर्विशेषमिति—साक्षित्वादिनैकरूपमित्यर्थः । ३. यस्त्वनुपश्यतीति—पुनर्यच्छब्दोपादानमन्वयप्रदर्शनार्थम्। आचार्यमुखादीशावास्यमित्याद्युपदेशश्रवणानन्तरमित्यनुशब्दार्थः। ४. यस्त्वित्युक्तयच्छब्दस्य तच्छब्दापेक्षणात्तमध्याहरति-स इति। ५. ननु प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरूपयन्तीत्यत्र यथा ये प्रतितिष्ठा सन्ति त एतारात्रीरुपेयुरिति रात्रिसत्रं विधित्स्यते तथा यस्तु सर्वाणि भूतानीत्यत्रापि विजुगुप्सानिवृत्तिकामो निरुक्तदिशाऽऽत्मदर्शनं कुर्यादिति विधिरेव विवक्ष्यतं तथाच ईशावास्यमित्यादयोमन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ता इत्यसङ्गतं भाषितं विधेयस्य कर्मत्वानपायादित्यारेकां रुणद्धि-प्राप्तस्यैवानुवादोऽयमिति। यथाऽग्नौ हिमनिवर्तकत्वस्य लोकतः प्राप्तत्वादग्निर्हिमस्य भेषजमित्यनुवादे हिमनिवृत्तिकामोऽग्निं प्रज्वालयेदिति कल्प्यमानो विधिर्न कल्पते तद्वत् निमित्तापाये नैमित्तिकापायस्य लोकतः प्राप्तत्वात्तदनुवादेऽत्रापि विधिगन्धो न जिघ्रासितव्यः कर्मकाण्डवासनयेति साधूक्तमीशेत्यादिमन्त्रा न कर्मसु विनियुक्ता इति। ६. प्राप्तस्यैवानुवादोऽयमित्युक्तं तत्र किं केन कथं प्राप्तमित्येतद्विशदयन्नाह-सर्वाहीत्यादि-अन्यत्राऽप्यदुष्टे न घृणेति दुष्टमिति दुष्टेऽप्याभिन्ने न घृणेत्यन्यदिति। तथा च घृणाऽऽत्मान्यत्वदुष्टत्वदर्शनयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चितस्य कार्यकारणभावस्यान्यथाऽनुपपत्त्यैवान्यत्वादिदर्शनाभावे घृणाऽऽभावः प्राप्नोतीति भावः। ७. आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धमिति—एकाभावेऽपि घृणाऽभावः सुतरान्तूभयाभाव इति भावः। ८. निरन्तरमविच्छिन्नमित्यर्थः। ९. इतिप्राप्तमेव ततो नेत्यादि—ततो नेत्यादि नोच्यमानो घृणाऽभावोऽर्थापत्त्यैव प्राप्तइत्यन्वयः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

[जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिये सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये, उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखनेवाले को, क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं) ॥७॥]

[1]इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—यस्मिन्सर्वाणि भूतानि । [2]यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि वा ता[3]न्येव भूतानि सर्वाणि परमा[4]र्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदात्मैव संवृत्तः पर[5]मार्थवस्तु विजा-

मानता है, उसी तरह ब्रह्म-चैतन्य में कल्पित माया तथा उसके कार्य अपने अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं है एवं अध्यास काल तथा अध्यास निवृत्ति काल में भी अधिष्ठान का सामान्य अंश देखता ही है। यथा सीप में रजत भ्रम के समय सीप का सामान्य अंश 'इदम्' रूप से दीखता है, उसी में कल्पित रजत ओतप्रोत है, वैसे ही चैतन्यात्मा में जड़-चेतन सभी भूत ओतप्रोत हैं, इसी को आत्मा में सम्पूर्ण भूतों का देखना कहा गया है, एवं सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठान का अंश तादात्म्य होकर देखने के कारण उसे सम्पूर्ण भूतों में आत्मदर्शी कहा गया है। इस प्रकार निर्विशेष चैतन्यात्मा में सम्पूर्ण भूतों को कल्पित देखने वाला तत्त्वदर्शी कैसे किसी से घृणा कर सकता है? क्योंकि घृणा का तो कोई निमित्त ही नहीं रह जाता। अतः निर्विशेष चैतन्य आत्मा मैं हूं, इस प्रकार आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर स्तुति-निन्दा से शून्य होजाता है ॥६॥

उक्त अर्थ को ही अन्य मन्त्र भी बतला रहा है कि जिस काल अथवा जिस आत्मा में परमार्थ-दर्शन हो जाने के कारण सम्पूर्ण भूतों को आत्मरूप से ही जानता है, उस समय एकत्वात्मदर्शी पुरुष को क्या शोक और मोह हो सकता है? अर्थात् नहीं होता।

त्रिविध दुःख के संसर्ग से शून्य निरतिशय परमानन्दस्वरूप आत्मा को न जानने वाले के मन में ही 'हाय! मैं मर गया, मुझे पुत्र नहीं, मुझे घर-ऐश्वर्यादि नहीं?' इस प्रकार शोक हुआ करता है। अतः अपने में अभाव देखने वाला पुरुष पुत्रादि की कामना करता है। तदर्थ देवता-आराधना भी करना चाहता है, किन्तु आत्मैकत्वदर्शी को शोकादि नहीं होते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से शोक-मोह अविद्यामूलक हैं, ऐसा निश्चय हो जाने के बाद अविद्या की निवृत्ति दशा में शोक मोह की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वाभाविक है। यही ब्रह्म-विद्या का फल है। इसलिये श्रुति कहती है कि 'जिस काल में अथवा जिस आत्मा में ऐसा परमार्थ-ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमभूत उस तत्त्वदर्शी के लिये आत्मरूप से ही दीखने लगे, ऐसे परमार्थ तत्त्वदर्शी पुरुष में या परमार्थ दर्शन काल में कैसे शोक और मोह हो सकता है?' यह तो काम-कर्म के बीज को न जानने से होते हैं, तथा उन्हीं के ऊपर यह अपना प्रभुत्व दिखाते हैं, विशुद्ध आकाशवत् सर्वव्यापक अद्वितीय

१. इममेवेति—अत्राप्यालस्याभावादित्युक्तमनुसन्धेयम् । न च मन्त्रद्रष्टुरेव धर्मौ मन्त्रेषूपचर्येते इति बोध्यम् । वस्तुतो दुरधिगमनत्त्वस्य पुनः पुनर्वचनं भूषणमेवेति रहस्यम् । २. अतिगहनस्य तत्त्वस्य झटित्येव बुद्धयारोहाभावमभिप्रेत्याह—यस्मिन्कालइति । ३. अधिकारिदौर्लभ्यं वा यस्मिन्निति विवक्षितमित्याशयेनाह—यथोक्तात्मनीति । अनेजदित्यादिना रूपेणावगत आत्मनीत्यर्थः । ४. तानि=अव्यक्तादीनि । ५. सर्वात्मभावाप्तौ ज्ञानातिरिक्त-साधनाभावं सूचयति—परमार्थेति । ६. जीवात्मत्वं सर्वोजानात्यत आह—परमार्थेति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नतस्तत्र तस्मिन्काले तत्राऽऽत्मनि वा को मोहः कः शोकः। शोकश्च मोहश्च काम[1]कर्मबीजमजान[2]तो भवति न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः। को [3]मोहः कः शोक इति शोकमोहयोर[4]विद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रदर्शनात्सकार[5]णस्य संसारस्या[6]त्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥७॥

निरति[7]शयानन्दस्वरूपमत एव दुःखास्पृष्टमात्मानम[8]जानतः शोको भवति हा हतोऽहं न मे पुत्रोऽस्ति न मे क्षेत्रमिति। ततः[9] पुत्रादीन्कामयते "तदर्थं[10] देवताराधनादि चिकीर्षति न त्वात्मैकत्वं पश्य"[11]तस्ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां शोकादेरविद्याकार्यत्वावधारणान्मूलाविद्या"[12]निवृत्त्यैव शोकादेरात्यन्तिकी "[13]निवृत्तिर्विद्याफलत्वेन विवक्षिता, लयमात्रस्य सुषुप्तेऽपि भावादित्याह—शोकश्च मोहश्चेत्यादिना ॥७॥

आत्मदर्शी को नहीं होते। 'क्या मोह और क्या शोक?' इस वाक्य से अविद्या के कार्य शोक एवं मोह का आक्षेप कर न केवल उनका असम्भवत्व दिखलाया गया अपितु कारण सहित सम्पूर्ण संसार का आत्यन्तिक उच्छेद भी दिखलाया गया है, जो आत्म-तत्त्वदर्शी के लिये स्वाभाविक है ॥७॥

१. शोकमोहनिवृत्याऽऽपाद्याया अविद्यानिवृत्तेर्निःशेषसंसारनिवृत्तिहेतुत्वसम्पत्तये तौ विशिनष्टि-कामेति। ते चाशेषसंसारस्येति भावः। २. अजानत इति—मोहस्यविपर्ययत्वपक्षेऽज्ञानत इत्यर्थः। अविद्यात्वपक्षे तु ज्ञानाभावादिति। तदा तु भवतीत्यस्यावर्तिष्ठत इत्यर्थः। अन्यदोत्पद्यत इति। ३. विवक्षितं विद्याफलं प्रकाशयति—को मोह इति। ४. अविद्याकार्ययोरिति—मोहस्याविद्यात्वपक्षे तस्याऽप्याविद्यकत्वात्तत्कार्यत्वम्। ५. असंभवप्रदर्शनात्सकारणस्येति—तदसंभवस्याविद्यानिवृत्तिं विनाऽसंभवादविद्याख्यकारणसहितस्येत्यर्थः। ६. अत्यन्तमेवेति - ननु सकारणस्येति विशेषणात्संसारोच्छेदवत्तत्कारणोच्छेदस्याप्यात्यन्तिकत्वं लभ्यते। तत्र कार्योच्छेदस्य तु कारणनिवृत्त्यैव, कारणोच्छेदस्य तु कुतस्तदिति चेत्कारणस्यानादित्वेन नाशादूर्ध्वमनुत्पादादिति गृहाण।

७. अविद्याकृतो विपर्ययो मोहपदार्थ इत्याशयेनाह—निरतीत्यादि। ८. अजानतः—दुःखित्वादिना विपर्यस्यत इति यावत्। अविद्यैव वा मोहशब्दार्थ इत्याशयेनेदम्। ९. ततः=निरुक्ताच्छोकादेव। १०. तदर्थम्=पुत्राद्यर्थम्। ११. पश्यतः शोको भवतीत्यनुषङ्गः। १२. निवृत्त्या—निवृत्ति निमित्तेति यावत्। १३. आत्यन्तिकी निवृत्तिरिति—निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं नाम स्वप्रतियोगि प्रागभावासमानकालीनत्वम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

[वह पूर्वोक्त आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक, शुद्ध, सूक्ष्म शरीर से रहित, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, धर्माधर्मादिपापवर्जित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ और स्वयंभू (स्वयं होने वाला) है ।उस नित्यमुक्त सर्वज्ञ ईश्वरने नित्य सिद्ध सम्वत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथायोग्य रीति से (यथाभूत कर्मफल और साधनों के अनुसार) अर्थों (कर्त्तव्यों या पदार्थों) का विभाग किया है ॥८॥]

[1]योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन [2]रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः-स पर्यगात्स-यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद्गतवानाकाश[3]वद्व्यापीत्यर्थः । शुक्रं[4] शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो [5]लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणमक्षतम् । [6]अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां

योऽयमिति । [7]स्नु प्रक्षरणे धातुः । स्नाव[8]यन्ति शरीरमिति स्नावाः शिराः [9]क्रान्तमतिक्रान्तं नष्टमित्युपलक्षणं भूतभविष्यद्वर्तमानदर्शी ॥८॥

पूर्वोक्त मन्त्र से जो आत्मा बतलाया गया है, वह आत्मा निजरूप से किस लक्षणवाला है, इसी को इस अष्टम मंत्र से बतलाया जा रहा है कि वह आत्मा व्यापक होने से आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है, तेजवाला होने के कारण शुद्ध है । सूक्ष्म शरीर से रहित है, उसमें किसी प्रकार का व्रण

१. वृद्धास्तावदुपनिषच्छैलीं परिबभणुः "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयत इति" । तथैवात्रेशेत्याद्याद्यमन्त्रे सर्वेश्वरत्वेनात्मोक्तः । कुर्वन्निति द्वितीये कर्माधिकारित्वेन । असुर्या इति तृतीयेऽसुर्यलोकप्रापकज्ञानविषयत्वेन । एवमनेजदित्यादिमन्त्रद्वयेऽनेजत्त्वमेकं मुक्त्वाऽन्यत्सर्वमध्यारोपेणैवोक्तम् । यस्त्वित्यादि-मन्त्रयोरप्यारोपसापेक्ष एव स उक्तः । सम्प्रतित्वपवादप्रक्रियया सपर्यगादित्याद्यर्धेन स वक्तव्यः कविरित्यर्धेन तु पुनरारोपेणैवेति मनीषयाऽवतारयति—योऽयमिति । २. स्वेनरूपेण किंलक्षण इति—किमस्य स्वं निरुपाधिकं रूपमिति यावत् । ३. आकाशवदिति—व्यापकत्वमात्रे दृष्टान्तो नत्वस्याकाशस्येव सापेक्षं व्यापकत्वमिति द्रष्टव्यम् । अपरिच्छिन्नत्वस्य विवक्षितत्वात् । ४. शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थ इति—यद्यपि शुक्रशब्दो निघण्टावुदकनामस्वर्ण इत्यादिषु पठितस्तथापि तस्यदीप्तिमत्त्वमेव यौगिकोऽर्थस्तथाहि तत्र व्याख्यातम्—"शुक्रम् शुचदीप्तौ निघ. १—१७" अस्मात् "ऋजेन्द्राग्रवज्रविप्र (३–२–२७)" इत्यादिना ककारान्तादेशो रप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते शोचते शुक्रः । यद्वा "शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः" निघ. १–१७ सम्पदादित्वात् (३–२–९५वा) क्विप् । शुचि तद्यस्य रोमत्वर्थीयः दीप्तिमित्यर्थं इति । ५. अकायमित्यनेन स्थूलदेहनिषेधेऽव्रणमस्नाविरमित्यवक्तव्यं स्यादतो व्याचष्टे—लिङ्गशरीरवर्जित इति । ६. अस्नाविरमिति—स्नावाशब्दात् पिच्छादित्वेन मत्वर्थीय इलचि, नञ्समासोरलयोरभेदेन रत्वश्रुतिरितिभावः । ७. अप्रसिद्धत्वात् स्नावाशब्दं नाडीषु व्युत्पादयितुमाह—स्नु प्रक्षरण इत्यादि । ८. स्नावयन्तीति क्षरतिर्गतिकर्मा तदर्थकस्य स्नुधातोर्ण्यन्तत्वे गतिबुद्धीत्यादिना द्विकर्मकत्वेन शरीरमिति प्रयोज्यं कर्मगौणम् । मुख्यं तु रक्तादि-धातूनित्यवगन्तव्यम् । शरीरं हि नाडीद्वारा रक्तादिधातून् प्रक्षरतीति प्रसिद्धम् । द्वारतया हेतुत्वेन च नाडीनां प्रयोजकत्वमिति भावः । ९. क्रान्तशब्दस्य भूतार्थकत्वात्तन्मात्रदर्शिनः कथं सर्वदृक् तत्राह-क्रान्तमित्यादि ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मल[2]मविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं [3]धर्माधर्मादिपापवर्जितम् । [4]शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन [5]परिणेयानि स[6] पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारात्[7] । कविः[8] क्रान्तदर्शी

नहीं है, स्नायु इत्यादि स्थूल शरीर के अवयव उसमें नहीं है, वह निर्मल एवं पाप-पुण्य से रहित है। सर्वदृष्टा, मन का भी शासक होने से सर्वज्ञ है। सर्वश्रेष्ठ, स्वयम्भू, नित्यमुक्त, सभी वस्तुओं की यथार्थ स्थिति को जानने वाला उस आत्मा ने प्रजापति शासक-वर्गों को भी उनके पूर्व क्रमानुसार कर्तव्य कर्म का विधान कर रखा है।

जो पदार्थ व्यापक होता है वह किसी उपाधि से वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं हो सकता। यथा आकाश व्यापक है। यद्यपि उसकी परिच्छिन्नता उपाधि की दृष्टि से भले ही हो जाय, अर्थात् घटाकाश, मठाकाश, ऐसा व्यवहार भले ही होता रहे फिर भी उससे उसकी व्यापकता में आँच नहीं आ पाती। वैसे ही आकाश तथा उसके कारण माया में भी व्याप्त होने के कारण आत्मा निरपेक्ष व्यापक है। अतः सभी ओर से सर्वत्र गया हुआ प्रतीत होता है। सूर्य के समान स्वयं प्रकाश होने से उसे 'शुक्र' पद से कहा गया है।

यद्यपि 'अकाय' शब्द का अर्थ अशरीर होता है फिर भी 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' इन दोनों विशेषणों के अनुरोध से अकाय पद का अर्थ सूक्ष्मशरीर से रहित करना चाहिये। घाव या स्नायु स्थूल शरीर में होते हैं। अतः जिसमें घाव नहीं है और जिसमें शिराएँ भी नहीं हैं, इन दोनों विशेषणों से

---

१. अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां व्रणादिराहित्य प्रतीतेस्तच्छालिस्थूलदेहतैव प्रतिषिध्यते न तु तद्वत्त्वेत्यारेकां तिरयति-आभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेध इति। आभ्यां विशेषणाभ्यामिति शेषः। वस्तुतः स्थूलदेहसंसर्गे हि अपापविद्धमिति विरुध्येतेति भावः। अत्रेदं बोध्यम् अव्रणमित्येतावत्युक्ते व्रणरहितस्यापि स्थूलदेस्यहदर्शनान्न स निवर्त्येत। व्रणो-ह्याघातादिजन्यं छिद्रं न स्वाभाविकमतोऽस्नाविरमिति तावत्युक्ते मत्कुणादिदेहेषु स्नावाद्यनुपलम्भात्स्नावादिर-हितमपि शरीरं सम्भाव्येतातोऽव्रणमिति। स्नावादिशून्यमत्कुणादिदेहानां व्रणानर्हत्वासम्भवान्नास्य तथाविधो वस्तुदेहो भवतीति। २. उभयविधदेहशून्यस्य मलान्तराप्रसक्तेराह—अविद्येत्यादि।

३. धर्माधर्मादिपापेति—धर्मस्यापि जन्माद्यनर्थहेतुत्वाविशेषात् पापत्वव्यपदेश इति बोद्धव्यम्। ४. शुक्रमित्यादी-नित्यादि—केचित्तु स आत्मा शुक्रं ब्रह्म पर्यगात् परिगच्छति अकायमित्यादि क्लीबकदम्बकं शुक्रविशेषणमित्या-चक्षते तदनर्हम्—शुक्रप्राप्तिद्वारा शुक्रत्वादिविवक्षाऽपेक्षया साक्षाच्छुक्रत्वाद्युक्तौ लाघवात्। व्यापकत्वोक्त्य-लाभाच्चेति ध्येयम्। ५. परिणेयानीति—छन्दसि लिङ्गव्यत्ययस्य "व्यत्ययो बहुलमिति" सूत्रे, "सुप्तिङुपग्रह-लिङ्गनराणा" मित्यादिनोक्तत्वादिति बोध्यम्। ६. तत्र हेतुमाह—स इति। यथा प्रयाजाङ्गयोर्मध्ये विहितमभिक्रमणं प्रयाजाङ्गं संदंशपतितन्यायात् तथा पुंलिङ्गमध्ये 'ठितानां पुल्लिङ्गत्वमिति भावः। प्रयाज प्रकरणे हि "समानयते जुह्वामुपभृतस्तेजोवा" इत्यादिना प्रयाजानुवादेनोपभृदाख्याद्धृतपात्रविशेषाज्जुहूपात्रे प्रयाजार्थं घृतानयनरूपमङ्गं विधाय "यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भातृव्यांस्तुदतेऽभिक्रा मञ्जुहोत्यभिजित्यै" इति शत्रुविजयार्थमभिक्रमणं होमकालीनं होतुर्विधीयते। तदनु च यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेदेत्यादिना प्रयाजयुगलवेदनात्मकं प्रयाजाङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये विहितमभिक्रमणं प्रयाजाङ्गमिति स्थितं पूर्वतन्त्रे। ७. उपसंहारादिति—उपक्रमोपसंहारोक्तसजातीयेनैव भवितव्यं मध्यवर्तिनेति भावः।

८. कविःक्रान्तदर्शीति—कविः क्रान्तदर्शनो भवति। कवतेर्वा (निरुक्त १२-१३) इति भाष्ये क्रामतेः कवतेर्वा गतिकर्मण इति रूपम्—इति स्कन्दस्वामी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वदृक् । [1]नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस [2]ईषिता [3]सर्वज्ञ [4]ईश्वर इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषां [5]पर्युपरि भवतीति परिभूः । स्वयंभूः स्वयमेव भवतीति [6]येषामुपरि भवति [7]यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः । स[8] [9]नित्यमुक्त [10]ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथा भावो याथातथ्यं तस्माद्य[11]थाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान्कर्तं[12]व्यपदार्थान्व्यदधाद्विहितवान्यथानुरूपं [13]व्यभजदित्यर्थः । शाश्वतीभ्यो [14]नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः [15]प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥८॥

स्थूल शरीर का निषेध किया गया है। शुद्ध अर्थात् निर्मल–मल से रहित वह आत्मा है, ऐसा कह कर कारण शरीर का निषेध किया गया है। परमार्थ दृष्टि से धर्माधर्म दोनों ही कर्मफल भोगद्वारा बन्धन कारक होने से पापरूप ही है। इन सभी धर्माधर्म से रहित होने के कारण 'अपापविद्ध' कहा गया है। यहाँ पर यह भी स्मरण रहे कि इस मंत्र में 'स' इस पुंलिङ्ग पद से उपक्रम करके 'कविर्मनिषी' इस पुंलिङ्ग पद से ही उपसंहार किया गया है। अतः इन दोनों के मध्यपाती जितने भी नपुंसकलिङ्ग वाले विशेषण हैं उन सभी को पुंलिङ्गत्वेन समझना चाहिये।

कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी होता है। 'जो भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालीन सभी पदार्थोंका द्रष्टा है [इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं] इत्यादि श्रुति भी आत्मा में सर्वद्रष्टत्व बतला रही है। सच्चिदानन्दरूप से सभी पदार्थों में परिव्याप्त होने के कारण उसे 'परिभूः' कहते हैं, पुनः ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ़ होकर ब्रह्म को आच्छादन करनेवाली अविद्या को तिरस्कृत कर देता है। इसलिये भी उस आत्मा को परिभूः' कहते हैं।

आत्मा को 'स्वयम्भूः' कहा गया है, क्योंकि कारणान्तर की अपेक्षा न कर आत्मा का अस्तित्व स्वयं विद्यमान रहता है। वस्तुतः जिन वस्तुओं में सच्चिदानन्द है और अपनी सत्ता, स्फूर्ति दे रहा है, उन वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से विद्यमान है। अत एव उसे 'स्वयम्भूः' कहा गया है। वह परमेश्वर

---

१. नन्वात्मनः सर्वदृक्त्वे प्रतिदेहं तदनुभूयेत न चानुभूयत इत्यप्रामाणिकं तदित्यतः श्रुतिं प्रमाणयति—नान्य इति। नहि सर्वोपहितस्य सर्वदृक्त्वं देहाद्यवच्छेदेन प्रत्येतुं शक्यम्। राज्योपहिते राजत्वस्यान्यथा स्वप्नेऽननुभवादिति भावः। २. ईषितेति—ईषगतिहिंसादर्शनेष्विति धातोरिदम्। ३. तत्र दर्शनमादायाह—सर्वज्ञ इति। सर्वज्ञानसाधनस्य मनसोऽपि द्रष्टा सर्वज्ञ इत्युचितमेव। ४. गतिहिंसेत्यादायाह—ईश्वर इति। योहि मनसो गमयिता हिंसको निरोद्धा च स तदीश्वरस्तदधीनस्य च सर्वस्यापीश्वर एवेति भावः। अत्र यः सर्वज्ञः सर्वविदितिवत्सामान्यविशेषाभ्यां सर्वदृक् सर्वज्ञ इत्यनयोरपौनरुक्त्यमिति भावः।
५. निपातानामनेकार्थकत्वादाह—पर्युपरीति। ६. कीदृग् भवतीत्यत आह—येषामित्यादि। प्रजापत्यादियँच्छब्दार्थः। ७. यश्चेति—हिरण्यगर्भादिरित्यर्थः। ८. कविरित्यादिनोक्तमैश्वर्यं सफलयितुमाह—स नित्यमुक्त इत्यादि। ९. नित्यमुक्तः=अकायमित्याद्युक्तबन्धाभावः। १०. ईश्वरः=कवित्वादिमान्।
११. यथाभूतेत्यादि—येन यादृशफलाय यादृशं कर्मोपासनं च कृतं तस्य तादृशफलभोगाय तादृशकर्मादिसाधनमनुसृत्येति यावत्। १२. कर्तव्यपदार्थानिति—पवनादिरूपानित्यर्थः। भीषाऽस्माद्वातः पवत इत्यादिश्रुतेः।
१३. व्यभजदिति—अनेन समाभ्य इति तादर्थ्ये चतुर्थीति गम्यते। १४. नित्याभ्य इति—नित्यत्वमत्राऽऽभूतसंप्लवःस्थायित्वरूपं बोध्यमतोन्यदार्त्तमिति श्रुतेः। १५. संवत्सरो वै प्रजापतिरितिश्रुत्याऽऽह—संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-Grant-2

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया॑ रताः ॥९॥

[जो अविद्या (केवल अग्नि होत्रादि कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (देवउपासना) में ही रत हैं, वे मानों उससे भी अधिकतर घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥९॥]

अत्राऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता [1]प्रथमो वेदार्थः। ईशावास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्य स्विद्धनमि[2]त्यज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठा। संभवे कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठोक्ता [3]द्वितीयो वेदार्थः। अनयोश्च निष्ठयोर्वि[4]भागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः [5]सोऽकामयत

---

[6]प्रकरणविभागं [7]दिदर्शयिषुर्वृत्तमनुवदति–अत्राऽऽद्येनेति। [8]यदुक्तं भास्करेण सर्वाऽप्युपनिषदेकं [9]ब्रह्मविद्याप्रकरणं ततः प्रकरणभेदकरणमनुचितमिति। तदसत्। प्राणाद्युपासनविधान[10]स्याप्युपनिषत्सु दर्शनात्। न च [11]तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमिति वाच्यम्। [12]पृथक्फलश्रवणात्। [13]तेनापि[15] [14]व्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चयविधानस्य [16]प्रकरणभेदेनैवेष्ट[17]त्वाद्व्याकृताव्याकृतोपासनस्य [18]प्रकारान्तरत्वात्तस्माद्यथा कर्मकाण्डेऽग्निहोत्रादिप्रकरणं भिन्नमेवेष्यते भिन्नाधिकारत्वात्तत्कर्मणस्तथोपनिषत्स्वपि

मुक्त है, तथा वस्तु को यथार्थरूप से जानता है, इसलिये सर्वज्ञ भी है। अतः जिस प्राणी का जैसा कर्मफल तथा साधन है, तदनुसार सब किसी को कर्तव्यपदार्थरूप अर्थ का विभाग करके दे रहा है।

ज्योतिष्टोमयागादि कर्म से ही स्वर्ग मिलता है, कृषि तथा वाणिज्यादि केवल उदर-भरनेवाले

---

१. प्रथम इति–फलत्वेन मुख्यतात्पर्यविषयत्वान्मुख्य इत्यर्थः। प्रथममन्त्रोक्तत्वरूपमपि प्रथमत्वं न जिहासितम्।

२. इत्याद्यमन्त्रेणेत्यन्वयः। इत्येवं वाक्यघटितेनेत्यर्थः। ३. द्वितीय इति–साधनत्वेनावान्तरतात्पर्यविषयत्वादमुख्य इत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्। ४. विभाग इति–भिन्नाधिकारित्वमितियावत्। ५. सः=अज्ञ आत्मा। ६. प्रकरणविभागमिति—द्वितीयमन्त्रभाष्यान्तोक्तस्य विभागञ्चानयोर्दर्शयिष्याम इत्यस्यावसरं लब्ध्वेत्यादिः। ईशावास्यमित्याद्यमन्त्रोक्तज्ञाननिष्ठाधिकारिणे वक्तव्यं ब्रह्मविद्याप्रकरणं सपर्यगादित्यष्टममन्त्रपर्यन्तम्। अथान्धंतम इत्याद्युपास्तिप्रकरणं कुर्वन्नित्युक्तकर्मनिष्ठाधिकारिणे वक्तव्यं भविष्यतीत्येवं प्रकरणविभागो द्रष्टव्यः। ७. दिदर्शयिषुरिति—दिदर्शयिषा चेयंवृत्तिकाराद्यभिमतसम्मुच्चय चिखण्डयिषयेत्यवगन्तव्यम्। ८. अत्र भेदाभेदवादिभास्करोक्तं तिरस्करोति—यदुक्तमित्यादिना। ९. ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति—तेन ज्ञानकर्मसमुच्चयस्याभिमतत्वेऽपि विद्याप्रधान्येनैव मुक्तिरिति ध्येयम्। १०. विधानस्येति–यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेदेत्येवमादिरूपस्येत्यर्थः।

११. तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमिति—तथाचाङ्गाङ्गिनोरेकफलकत्वेन न तत्र प्रकरणविभागो विवक्षित इति भावः।

१२. पृथक्फलश्रवणादिति—श्रूयते हि ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवतीत्येवमादिपृथक्फलमित्यतस्तयोरङ्गाङ्गिभावासम्भवात्तत्रापि प्रकरणभेद एव। १३. तेनापि भास्करेणापीत्यर्थः। १४. व्याकृतेत्यादि—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमित्यादिवक्ष्यमाणेत्यादि। १५. भास्करेणापि ज्ञानकर्मसम्मुच्चयप्रकरणात्केवलोपास्तिसमुच्चयप्रकरणं भिन्नमेवेष्यत इत्याह—तेनापीति। १६. प्रकरणभेदेनेति—ज्ञानकर्मसम्मुच्चयप्रकरणाद्भिन्नप्रकरणेनैवेत्यर्थः।

१७. इष्टत्वादिति—इष्टीकर्तव्यत्वादिति यावत्। १८. प्रकारान्तरत्वादिति—ज्ञानापेक्षयोपास्तेर्विलक्षणस्वरूपत्वात् शुक्रादिविशेषणकवेद्यब्रह्मस्वरूपापेक्षया तत्रोपास्यस्वरूपस्य च भिन्नत्वादिति यावत्। एतत्पक्षे तु प्रकरणभेदेनेत्यस्य ब्रह्मविद्याप्रकरणतो भिन्नेन प्रकरणेनेत्यर्थान्तरमवगम्यम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापारों से नहीं। इस बात का यथार्थ ज्ञाता होने के कारण प्रजापति को नित्य संवत्सर नाम से कहा गया है, क्योंकि क्षणमुहूर्त इत्यादि भेद से औपाधिकरूप में काल अनित्य है, किन्तु नित्य-सर्वज्ञ प्रजापतिरूप संवत्सर सभी प्राणियों के कर्मफल एवं उनकी साधना को यथार्थरूप से जानने के कारण शासन पद पर नियुक्त किये गये हैं। इस नित्य संवत्सररूप प्रजापति के लिये भी कर्तव्य-कर्म का विधान करनेवाला आत्मा ही है, यह सिद्ध हुआ ॥८॥

कर्म उपासना समुच्चय

ज्ञान तथा कर्म इन दोनों के प्रकरण-विभाग दिखलाने की इच्छा से पूर्वोक्त पदार्थों का सिंहावलोकन भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यहाँ पर पहले मन्त्र से लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा इत्यादि सम्पूर्ण अनात्म वासनाओं के परित्याग से ज्ञान में निष्ठा बतलायी गयी है। यही 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यहाँ से लेकर 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' यहाँ तक प्रथम मन्त्र का अर्थ बतलाया गया है, तथा जो अज्ञानी हैं, जिन्हें अनात्माभिमान के कारण जीने की इच्छा बनी हुयी है और मृत्यु के भय से भयभीत हैं, ऐसे जीवनाभिलाषी के लिये ज्ञान में निष्ठा सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस द्वितीय मन्त्र से कर्मनिष्ठा बतलायी गयी है। उक्त मन्त्रों से बतलायी गयी ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का विभाग न केवल इस ईशावास्योपनिषद् में बतला रहे हैं, अपितु बृहदारण्यक में भी बतलाया गया है। वहाँपर कहा है कि उसने कामना की मुझे पत्नी मिले तत्पश्चात् मैं सन्तति को उत्पन्न करूँ, मुझे धन मिले जिससे मैं शास्त्र विहित कर्म करूँ, इत्यादि मन्त्र से कामाभिलाषी अज्ञानी के लिये कर्म का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे कामनावालों को जब लोकप्रसिद्ध बाह्यजायादि की प्राप्ति नहीं होती, तो उस समय श्रुति ने उसे अध्यात्म जायादि की प्राप्ति बतलाई है। यथा— 'मन ही उसका अपना स्वरूप है और वाणी उसकी पत्नी है' इत्यादि।

मन इत्यादिक में आमत्व का अभिमान अज्ञान का कार्य है, उसके अज्ञानी होने में यह लिंग है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में कामुक पुरुष को कामिनी के न मिलने पर स्वयं मन में कामिनी की रचना कर उसका उपभोग करता हुआ देखा गया है, यह लोकप्रसिद्ध बात है। कर्मनिष्ठ व्यक्ति निश्चित अज्ञानी तथा कामी होगा ही। ऐसी कर्मपरायणता का फल संसार की प्राप्ति ही है। इसे भी बृहदारण्यक के सप्तान्न ब्राह्मण में सप्तान्न सर्ग के प्रसंग में बतलाया गया है। वहाँ पर कहा है कि 'जीव ने अपनी मेधा तथा तप से सात प्रकार की अन्न की सृष्टि की है। उनमें से हुत तथा प्रहुत अथवा दर्शपूर्णमास ऐसे दो अन्न देवताओं के हैं। एक लोकप्रसिद्ध ब्रीहि, यव इत्यादि मनुष्यों का अन्न है। दुग्ध पशुओं का अन्न है। शेष मन, वाणी तथा प्राण ये तीन अन्नआत्मा के हैं।' इन सभी अन्नो में 'अहं, मम' अध्यास के कारण जीव का संसार बन गया है, किन्तु उसी बृहदारण्यकोपनिषद् में जायादि एषणात्रय के परित्याग से आत्मज्ञानियों के लिये कर्मनिष्ठा के प्रतिकूल आत्मस्वरूप में निष्ठा ही बतलायी गयी है। 'हम प्रजा से क्या करेंगे? क्योंकि हमें इस सर्वलोक अनुभव सिद्ध आत्मलोक का सम्पादन करना है' इत्यादि वाक्य से आत्मज्ञानियों के किये प्रजादि सम्पूर्ण एषणाओं के त्यागपूर्वक आत्मनिष्ठा का ही प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार मन्त्र भाग से बतलायी गयी ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा में ब्राह्मण भाग बृहदारण्यक की सम्मति बतलाकर अब कर्म का विभाग कर दिखलाते हैं, कि जिन्हें ज्ञान में ही पूर्ण विश्वास है और जो संन्यासी हैं उनके लिये 'असूर्या नाम ते लोका' इत्यादिक मन्त्र से अज्ञानियों की निन्दा करके आत्मा के यथार्थ स्वरूप का चतुर्थादि अष्टम मन्त्रों के द्वारा उपदेश किया गया है। इन्हीं का ज्ञाननिष्ठा में अधिकार है, संसार के भोगों में आसक्त पुरुषों का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाया मे स्यादित्यादिना । अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति मन एवास्या ऽऽत्मा वाग्जायेत्या- दिवचनात् । अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तथा च तत्फलं

भिन्नाधिकारत्वात्कर्मविरुद्धविद्यात्राप्रकरणभेदो न विरुध्यते । मन्त्रार्थे ब्राह्मणसंमतिं दर्शयितुमुपक्रमते—अनयोश्चेत्यादिना । तत्र वाक्ये 'कथमज्ञत्वमवगम्यत' इत्याशङ्क्याऽऽह— मन एवेति । जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति कामयमानस्य "सर्वथैव बाह्य जायादिर्यदा न संपद्यते तदाऽध्यात्मजायादिसंपत्ति" दर्शयति "एतच्चाज्ञत्वलिङ्गं मनआदिष्वात्मत्वाद्यभिमानस्याज्ञा"नकार्यत्वात् । यथा "च बाह्यकामिन्य"लाभे "सुप्तो मनो" विजृम्भितकामिनीमुपभुञ्जानोऽज्ञः "प्रसिद्धस्त"द्वदयम"पीत्यर्थः । तेषां च कर्मणां फलं संसाराभि- रेवेत्यपि तत्रैव दर्शितमित्याह—तथा चेति । "एकं साधारणमन्नं यदिदमद्यते द्वे देवानां हुत"प्रहुते दर्शं-

१. अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति—अज्ञकामिसम्बन्धीनि कर्माणीत्यर्थः । सम्बन्धश्चाधिकार्यधिकारित्वरूपस्तथा चाज्ञकाम्याधिकारिकाणिकर्माणीति पर्यवस्यति । अज्ञस्य कामिन एव कर्मनिष्ठायामधिकार इति यावत् ।

२. आत्मा=स्वंशरीरम् । ३. वाग्जायेत्यादीत्यादिना—प्राणः प्रजा, चक्षुर्मानुषं वित्तं, चक्षुषा हि तद्विन्दते, श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोति, आत्मैवास्य कर्म आत्मना हि कर्म करोति इत्यादेयम् । अत्रात्मा शरीरम्।

४. इत्यादिवचनादज्ञत्वमित्यादि—अज्ञो हि काम्येवैवमनथाभूतैरर्थैः प्रलोभ्यते प्रसिद्धं हि क्षीरार्थं प्ररुदन्नकिंचनाशिशु- स्तथा सक्तुलवमिश्रेण पयसा प्रलोभ्यत इति । ५. तथा चेति—कर्मणामज्ञकामिकर्तृकत्वे चेति यावत्।

६. कर्मविरुद्धेत्यादि—कर्माविरुद्धाविद्योपास्तिस्तद्विरुद्धा तु विद्या ब्रह्मज्ञानमिति विवेकः । ७. अविरुद्धविषयकत्वे हि प्रकरणभेदो न युज्यते । विरुद्धविषयकत्वे तु न्याय्य एव स इत्याशयेनाह—न विरुध्यत इति । नानौचित्यमाव- तीत्यर्थः । ८. ब्राह्मणेति—ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्यानरूपत्वेन मन्त्रार्थनिर्णये प्रबलोपायत्वादिति भावः ।

९. कामित्वस्य सोऽकामयत इत्यनेनैव लब्धत्वादज्ञत्वं पृच्छति कथमज्ञत्वमिति । १०. अवगम्यत इति—तदवगमकाभा- वेन कामित्वमेव कर्माधिकार प्रयोजकं नत्वज्ञत्वमपि तथाचाज्ञस्य कामिनः कर्माणीत्यत्राज्ञस्येत्ययुक्तमिति भावः

११. सर्वथैव—बाह्यसाधनादिनेति यावत् । १२. संपत्तिमिति—बाह्यजायादिमन्तरेणात्मानमकृत्स्नं मन्वानस्य कृत्स्न- संपादिकां सम्पदुपासनामित्यर्थः । १३. एतदिति=अतथाभूतेषुतथात्वानुभवनमिति यावत् ।

१४. अज्ञानकार्यत्वादिति—ननु शालग्रामशिलादौ विष्ण्वादि धीवत् प्रकृताभिमानस्य शास्त्रमात्राधेयत्वात्कथमज्ञानका- त्वमिति चेत्सत्यम् । शास्त्रमात्ताधेयोऽप्यसावभिमानोऽज्ञानकार्यत्वं नातिक्रामति । तच्छास्त्रस्याज्ञमुद्दिश्यैव प्रवृत्तं सोऽकामयतेति तदधिकारिणः कामित्ववचनात्कामोह्यज्ञत्वलिङ्गं ज्ञस्यतु "किमिच्छन्कस्यकामायेत्य कामाद्यभावश्रवणात् । "रागोलिङ्गमबोधस्ये"त्याद्यभियुक्तभाषिताच्च । तथा च कामादिप्रयुक्तशास्त्रप्रयुक्त- काम्यादिकर्मणः कामादिप्रयुक्तत्ववदज्ञानप्रयुक्तशास्त्रप्रयुक्तस्याभिमानस्याज्ञानप्रयुक्तत्वमेवेति भावः ।

१५. वस्तुतः कामित्वस्यैवाज्ञत्वलिङ्गत्वेऽपि कामस्य कार्यानुमेयतया तस्यैव स्पष्टीकरणाय कार्योक्तिरेवेयं मनएवास्य त्मेत्यादिर्लिङ्गोक्तिरिति मत्वा प्रकृतकामिनोऽज्ञत्वं प्रसिद्धम् । कामिनं दृष्टान्तयति—यथा चेत्यादिना ।

१६. अलाभइति—सुप्तस्य तल्लिप्सया ध्वन्यते । १७. सुप्त इति तां ध्यायन्नित्यादिः । १८. मनोविजृम्भितां- मनःपरिणामरूपां वासनामयीमिति यावत् । १९. अज्ञः प्रसिद्ध इति—अज्ञत्वमस्य वस्तुतोऽकामिन्यामेव का- प्रयुक्तकामिनीत्वधीमत्त्वात् । प्रसिद्धत्वं च तथाभोगकालीन प्रलापादिनेत्यर्थः । २०. अयमपि—सोऽकामयतेत्य- त्रोक्तः काम्यपि । २१. तद्वदज्ञइतियावत् । २२. ननु कर्मणामज्ञाद्यधिकारिकत्वेऽपि मुक्तिफलकत्वे तु ज्ञान- समुच्चयो दुर्वारः । समानफलयोः समुच्चयसम्भवादित्यत आह तेषां चेति । अज्ञकामिकर्तृकाणामिति यावत्

२३. श्रुत्युक्तानि सप्तान्नानि व्याकरोति—एकमित्यादिना । २४. हुतप्रहुते इति—हुतमग्नौ हवनं प्रहुतं हुत्वा बलिह- रणमित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनाऽऽत्मस्वरूपावस्थानं जाया[1]द्येषणात्रतसंन्यासेन चाऽऽत्मविदां [2]कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येना[3]ऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता किं [4]प्रजया करिष्यामो येषां नो[5]ऽयमात्माऽयं लोक इत्यादिना। ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणाऽऽत्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम्। ते [6]ह्यत्राधिकृता न कामिन इति। [7]तथा च [8]श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि [9]अत्याश्रमिभ्यः परमं [10]पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसं[11]घजुष्टमित्यादि [12]विभज्योक्तम्। ये [13]तु कर्मिणः कर्म[14]निष्ठाः [15]कर्म कुर्वन्त

पूर्णमासौ वा त्रीण्यस्य भोगसाधनानि मनोवाक्प्राणलक्षणनि पश्वर्थमेकं तत्पय इति सप्तान्नसर्गो दर्शितः श्रुत्या यत्सप्तान्नानि [16]मेधया तपसाऽजनयत्पिते[17]त्यादिना। [18]अत्रैकैको[19] यजमान एव बिहितप्रतिषिद्धज्ञान[20]कर्मानुष्ठानात्सर्वस्य संसारस्य साक्षा[21]त्पारम्पर्याभ्यां जनकत्वात्पितोच्यते। तेषु च सृष्टेष्वन्नेषु तस्य पितुरहमिदं ममेदमित्यात्मत्वाध्यासेन मनआदिष्वितरेषु च संबन्धाध्यासेनावस्थानं संसारः प्रसिद्ध इत्यर्थः। एवं मन्त्रप्रदर्शिते निष्ठाद्वये ब्राह्मणसंमतिं दर्शयित्वा [22]प्रकरणविभागं दर्शयति ये तु ज्ञान-

---

नहीं। इसी को श्वेताश्वेतर उपनिषद् में विभाग करके कहा गया है कि 'उत्तमाश्रमी संन्यासी के लिये ऋषि-समुदाय से संसेवित परम-पवित्र ब्रह्मात्मतत्त्व को ऋषि ने बतला दिया।' ऐहिकामुष्मिक भोगों से सर्वथा उपरत ऋषि लोग केवल आत्मस्वरूप परमात्मा का ही भजन और सेवन करते हैं। जो आत्मा अविद्या एवं उसके कार्य से सर्वथा अलिप्त होने के कारण परमपवित्र है, इसी आत्मतत्त्व

---

१. कर्मनिष्ठायां मन्त्रेण ब्राह्मणं संवाद्य ज्ञाननिष्ठायां तेन तत्सेवादयति—जायादीत्यादिना। अत्रापि किं प्रजया करिष्याम इत्यादिवाक्यानुरोधात्पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणेत्यवमेवैषणात्रयं प्रसिद्धम्। तथापि जाया मे स्यादिति कर्मनिष्ठावाक्ये जायैषणान्तर्भावात् जायद्येषणेत्याद्युक्तमिति ध्येयम्। २. कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनेति—कर्मनिष्ठातः प्रातकूला विपरीतेति यावत्। ३. तदाह—आत्मस्वरूपनिष्ठैवेति—आत्मन्येव स्वरूपत्वेनावस्थानं न कर्मनिष्ठानामिवसप्तस्वन्नेष्विति भावः। ४. किं प्रजेति—प्रजापदमत्र वित्तलोकयोरप्युपलक्षणं येषां नोऽयमात्मेत्यादि लिङ्गात् तथा चैषणात्रयसंन्यासोऽत्र विवक्षित इति बोध्यम्। ५. अयमात्माऽयं लोक इति अयं नित्यसंविहितोऽशनायाद्यतीत आत्मैवायं लोकः—पुरुषार्थ इत्यर्थः। ६. संन्यासिभ्य एवोपदिष्टत्वे हेतुमाह—ते हीति। ७. तत्र च प्रमाणमाह—तथा चेति। ८. श्वेताश्वतराणामिति—तच्छाखिनामित्यर्थः। ९. अत्याश्रमिभ्य इति—तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वानित्यादिः।

१०. परमं पवित्रमिति—आत्मयाथात्म्यमित्यर्थः। तद्विषयं ज्ञानं वा परमं पवित्रम्। नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यत इति स्मृतेः। ११. ऋषिसंघजुष्टम्—ऋषिगणसेवितम्। १२. विभज्येति—अत्याश्रमिभ्य इत्यनेन ज्ञाननिष्ठाधिकृतान्संन्यासिनः कर्मनिष्ठाधिकृतेभ्यो गृहिभ्यः कामिभ्योऽज्ञेभ्यः पृथक्कृत्येत्यर्थः। अधिकारिभेदोपदर्शनेन निष्ठां भित्त्वेतिवार्थः। १३. येत्विति—तावता ज्ञाननिष्ठाप्रकरणं परिसमाप्येत्यादिः।

१४. नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति न्यायेन कर्मित्वस्य साधारणयादाह—कर्मनिष्ठा इति। तत्रैव बद्धश्रद्धा इत्यर्थः। १५. श्रद्धाञ्च नेषां विशिष्टाक्रियैवाभिव्यनक्तीत्याशयेनाह—कर्म कुर्वन्त एवेत्यादि। १६. मेधया—विहितप्रतिषिद्धोपासनाऽत्रमेधा। कर्म तु तथा भूतमत्रतपः १७. इत्यादिना वक्येनेति शेषः। १८. श्रुतिघटकपितेत्येतद्व्याकरोति—अत्रेत्यादिना। अत्र—श्रुतौ। १९. एकैको यजमान इति—सर्वोऽपि कर्मठ इति यावत्। २०. ज्ञानम्=उपासतम्। २१. साक्षात्पारम्पर्याभ्यामिति—यथा पुत्रं प्रति साक्षात, पौत्रं प्रति तु पारम्पर्येण। यद्वा भोक्तृवर्गस्य नियन्तृसापेक्षभोगानुकूलकर्मभिर्हिरण्यगर्भं प्रति साक्षात्तद्द्वारचाशेषसंसारं प्रतिजनकत्वम्। हिरण्यगर्भेऽप्येवमेवयथासंभव मूपितव्यम्। २२. प्रकरणम्—अन्तत्यम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते–अन्धं[1] तम इत्यादि। कथं[2] पुनरेवमवगम्यते न तु[3]सर्वेषामित्युच्यते–[4]अकामिनः साध्य[5]साधनभेदोपमर्देन यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र[6] को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तन्न केनचित्कर्मणा[7] ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति। इह[8] तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र[9] च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते।

निष्ठा इत्यादिना। अत्याश्रमिभ्य इति। [10]उत्तमाश्रमिभ्य इत्यर्थः। [11]साध्यसाधन[12]भेदोपमर्देन यदात्मैकत्वविज्ञानं यस्मिन्सर्वाणि भूतान्या[13]त्मैवाभूदित्यवधारणेनोक्तं पूर्वार्धेनोत्तरार्धेन च [14]संसारनिवृत्तिफलकमुक्तं तन्न श्रौतेन [15]स्मार्तेन वा कर्मणा केनचिदमूढः[16] समुच्चिचीषति। [17]अन्धं तम इत्यादौ तु [18]समुच्चिचीषयाऽऽवि[19]द्वदादिनिन्दा[20] [21]दृश्यते। ततः किमित्यत आह–तत्र च यस्येति। [22]कस्य [23]तर्हि ज्ञानस्य कर्म-

---

का उपदेश उत्तमाश्रमी परमहंस परिव्राजकों के लिये ऋषि ने किया, किन्तु जो कर्मी है जिनकी कर्म में ही निष्ठा है और अनात्माभिमान के कारण यावज्जीवन अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित-कर्म का अनुष्ठान करते हुये ही जीना चाहते है, उनके लिये कर्म के साथ उपासना का भी सम्मुचय का विधान करना इष्ट होने के कारण 'अन्धं तमः' इत्यादि मन्त्र से प्रसंग प्रारंभ किया जा रहा है।

---

१. अन्धंतम इत्यादीति—उपासनोपसर्जन कर्मनिष्ठाप्रकरणमिति शेषः। २. कथं पुनरिति—कर्मनिष्ठेभ्य एवेदं प्रकरणप्रारभ्यते न तु सर्वेभ्य इति तु कथमवगम्यमित्यर्थः। ३. न तु सर्वेषामिति—ज्ञाननिष्ठा कटाक्ष्यते—अकामिन इत्युत्तरात्। ४. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः। अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्तब्रह्मसमश्नुते। नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयादित्यादिश्रुतिस्वारस्यादकामिन एवविद्यावतः सर्वात्मत्वावाप्तिरित्याशयेन श्रुतौ विजानत इत्यस्यापेक्षितं पूरयति—अकामिन इति। अकामिनो विजानत इत्यन्वयः। ५. आत्मैकत्वज्ञानस्य कर्मसमुच्चयधियं चिकित्सितुं मन्त्रपूर्वार्धमर्मावलेहयति—साध्यसाधन भेदोपमर्देनेति। ६. उत्तरार्धमर्माभिज्ञोप्यसमुच्चयं ज्ञास्यतीत्याशयानस्तदपि भाषते—तत्रेत्यादिना।
७. मा भूज्ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयो ज्ञानेन तु स संभवति साजात्यात्। अन्धंतम इत्यादौ च विद्याऽऽत्मैकत्व—विज्ञानमविद्याचोपासनात्मकं ज्ञानं विवक्षितमस्त्वित्येवं विपर्यस्यतोऽनुकम्पयाऽऽह—ज्ञानान्तरेणेति।
८. ईशेत्यादितः प्रस्नुताऽसङ्गात्माऽऽकाशनिर्झरिणी विज्ञानमन्दाकिनी तावदसङ्गमैव केनचित्सपर्यगादिति ब्रह्मसागरं पर्यगात्। संप्रतित्वन्धमित्याद्यग्रे कश्चन संभेदोऽवलोक्यते। तदेतत्कतमत्तीर्थं भविष्यतीति विम्रष्टुमवकाशं करोति—इहत्वित्यादिना। ९. तत्र चेति—अविद्वदादिनिन्दायाः समुच्चयविध्यर्थत्वे सतीत्यर्थः। १०. उत्तमाश्रमिभ्यः—संन्यासिभ्य इति यावत्। ११. साध्यसाधनेत्यादिभाष्यमन्वयमुखेन व्याकरोति—साध्येत्यादिना। १२. साध्यसाधनभेदोपमर्देनेति—साध्यं मुक्तिफलं ज्ञानकर्मसमुच्चयश्च तत्साधनमित्येवमादिभेदावगाहिधीबाधकमिति यावत्। १३. उक्तभेदोपमर्दकत्वमात्मैकत्वविज्ञानस्य केनावगतं तदाह—आत्मैवाभूदित्यवधारणेनेति। १४. तथाविधमपिज्ञानं फलोत्पादने सहकारिसापेक्षमित्यपि मनोरथ मात्रमित्याशयेनाह—संसारेत्यादि। पूर्वार्धोक्तज्ञानमात्रस्यैव संसारनिवृत्तिफलकत्वमुत्तरार्धेनोक्तमित्यर्थः। १५. केनचिदित्येतदव्यापयति—श्रौतेन स्मार्तेन वेति। १६. अमूढ इति—यस्मिन्नित्यादिमन्त्रार्थमार्मिक इति यावत्। समुच्चिचीर्षस्तु तदर्थमूढतां नातिगच्छतीति हृदयम्। १७. इहत्वित्यादेरर्थापयति—अन्धमित्यादिना। १८. समुच्चिचीषयेति—समुच्चयविधित्सयेति यावत्। सा हि यस्तद्वेदोभय[?]सहेत्यतः प्रभवति। १९. अविद्वदादीति—कर्मित्वेसत्यनुपासकोऽविद्वच्छब्दार्थः। उपासीनस्सन्नकर्मीत्वादिशब्दार्थः।
२०. निन्देति—निन्दाप्रशंसे हि वेदे विधित्सा कुमार्गगपरिचारिके भवत इति भावः। २१. क्रियतेपदं विवृणोति—दृश्यत इति। २२. कस्येति—आत्मैकत्वविज्ञानोपासनयोः कतरस्येत्यर्थः। २३. तर्हि—संभवत्समुच्चयकस्यैवेहोच्यमानत्वोपगमे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं तत्कर्मसंबन्धित्वेनो[1]पन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । विद्यया

समुच्चयः संभवतीत्यत आह—यद्दैवं वित्तमिति । यच्चोक्तं [2]भास्करेणेशा वास्यमिति मन्त्रे ब्रह्मविद्यायाः प्रक्रान्तत्वात्तस्या एव समुच्चिचीषया निन्दोच्यत इति । तदसत् । [3]न हि प्रकृतमित्येतावता संबध्यते किं तु संबन्धयोग्यम् । शुद्धब्रह्मात्मैकत्वविद्यायास्तु कर्तृत्वाद्यध्यासोपमर्दकत्वान्नास्ति कर्मसंबन्धयोग्यता । [4]किंच यस्मिन्निष्पन्नेऽपि फलस्य [5]व्यवधानं संभाव्यते तस्यैव सहकारिसमुच्चय इष्यते [6]दर्शादेरिह त्वेकत्वमनुपश्यतः को मोहः कः शोक इत्येकत्वदर्शनसमकालमेव मोहादिनिवृत्त्यभिधानान्न कालान्तरीयफलम् । [7]ततो न सहकारिसमुच्चिचीषा । [8]किंचास्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणे ब्राह्मणा [9]विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादौ तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेरिष्यमाणवेदने करणत्वेन संबन्धः प्रतीयते । तत्कथं [10]दुर्बलेन प्रकरणेन [11]सहकारितया संबन्धः प्रकल्प्यते । प्रधानस्य च विद्यायाः सहकारिसंबन्धविधित्सया निन्देत्यप्ययुक्तम्[12] । [13]अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेतिसूत्रविरोधश्च[14] समसमुच्चयश्च [15]परेणापि नेष्यते । विरोधेन च [16]परिजह्रे तस्मात्कर्माविरुद्ध[17]दैवताज्ञानस्यैवात्र [18]समुच्चयो विधित्स्यते । ननु देवताज्ञानस्य कर्मफलातिरिक्तफलाभावात्समुच्चयो [19]न संभवतीत्यत आह—विद्ययेति । ननु समुच्चिचीषया निन्देति

१. कर्मसंबन्धित्वेनोपन्यस्तमिति—कर्मणा समुच्चेतव्यत्वेन य उ विद्याया{ँ}रता इत्यादौ विद्याशब्देन विवक्षितमिति यावत् । न च तस्यकर्मसंबन्धयोग्यत्वेऽपि प्रकृतोपनिषद्यप्रकृतत्वादयुक्तमुपादानं प्रकृतास्याप्ययोग्यस्येव योग्यस्याप्यप्रकृतस्य "अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यादावनुपादानदर्शनात्" । तत्र हि केनाक्ता इत्यपेक्षायां तैलादिनाऽक्तत्वसंभवेऽप्यप्रकृतत्वात्तन्नादीयते तेजो वै घृतमित्याद्यर्थवादवाक्ये च घृतस्यप्रकृतत्वेन तदेवोपादीयत इति शङ्कनीयम् । उपनिषदन्तरे प्रकृतत्वात्सर्वा चोपनिषदेकमेव ज्ञानकाण्डमिति राद्धान्तात् ।

२. न्यायतः शास्त्रतो वेत्येतद्विवरीतुकामो भास्करमेवाङ्गारावक्षयणं करोति शाकल्यमिव—यच्चोक्तं भास्करेणेति ।

३. नहीत्यादि—तथा सति ईदूदेद्द्विवचनमिति प्रकृतत्त्वविशेषादेकारोऽप्यदसोमादित्यत्र संबध्येतेत्याद्युदाहार्यम् ।

४. एकां युक्तिमुक्त्वाऽपरामाह—किंचेति । ५. फलस्य व्यवधानमिति—अनेन सहकारस्यावसरं दर्शयति ।

६. दर्शादेरिति—आदिना पौर्णमासस्तयोः समुच्चयात् । दर्शपौर्णमासयोर्हि समुच्चयोऽभ्युपेयते । ७. तत इति—ज्ञानफलयोः समकालत्वेन सहकारानवकाशादिति यावत् । ८. न्यायतः पराभिमतसमुच्चयासंभवमुपपाद्य-शास्त्रतस्तमुपपादयिष्यन्नाह—किंचास्या इति । प्रकृतोपनिषद्व्याख्यानभूते बृहदारण्यकाख्ये ब्राह्मणग्रन्थ इत्यर्थः । ९. विविदिषन्तीत्यत्र धात्वर्थं प्रधानीकृत्याह—इष्यमाणवेदेन इति । १०. दुर्बलेनेति—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसामाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादितिन्यायात्प्रकरणस्य श्रुत्यपेक्षया परत्वेन दुर्बलत्वमिति भावः । ११. सहकारितयेति—नहि साधनकरणं फले साधनसहकारि भवति । घटकरणस्य दण्डस्य जलाहरणे घटसहकारित्वादर्शनादिति भावः । १२. इत्यप्ययुक्तमिति— अनिन्द्यत्वप्रधानत्वयोः समानाधिकरणत्वासंभवादिति हेतुं गर्भयित्वा प्रधानस्य चेत्युक्तम् । १३. तत्रैव सूत्रविरोधं समुच्चिनोति—अत इति । ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वादेव मोक्षफले स्वस्वाश्रमविहितकर्मापेक्षानस्ति शुक्तिज्ञानस्येव रजतभ्रमनिवृत्ताविति । ३–४–२५ ब्र.सूत्रार्थः । अत्राग्नीन्धनादिशब्देन कर्माणि लक्षितानि । १४. ननु प्रधाननिन्दया प्रधानाप्रधानयोः समुच्चयासंभवे समप्रधानयोरिवविद्याकर्मणोः समुच्चयो भवतु तत्राह—समसमुच्चयश्चेति । १५. परेणापि—समुच्चयवादिनाऽपि । १६. न केवलं नेष्यते किन्तु परिहृतोऽपि सविरोधधिया तेनात्मग्रन्थाभास इत्याह—विरोधेन च परिजह्र इति । ग्रन्थाभासस्यावलोकनमप्याभास एवेतिकृत्वा लिटं प्रायुङ्क्त । यद्वा सिद्धान्तिभिरेव स परिहृतो ज्ञानकर्मणोर्विरोधमुपदर्शयद्भिरुपमर्दं चेत्यादि सूत्रेणेत्यर्थः । श्रुतियुक्तिभ्यामुपपादितं शुद्धब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानकर्मणोः समुच्चयासंभवमुपसंहरतितस्मादिति । १७. देवताज्ञानम्—देवतोपासनम् । १८. समुच्चयकर्मणेति शेषः । १९. न संभवतीति—सम्मुच्चयो हि फलातिरेकाय चिकीर्ष्यत उभयोरेकफलकत्वे चान्यतरलभ्यमेव द्वयलभ्यं नातिशयितमिति व्यर्थ एव सम्मुच्चयः स्यादिति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देवलोक इति [1]पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया

किमिति व्याख्यायते । [2]अध्ययनविधेर्मोक्षादर्वाक्पर्यवसानानुपपत्ते[3]र्देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वा-[4]त्प्रहाणार्थैव निन्दा किं नेष्यते तत्राऽऽह—तयोर्ज्ञानकर्मणोरिति । [5]न फलशब्दो [6]मोक्षे रूढो [7]मोक्ष-

यहाँ पर भट्ट भास्कर का कहना है, कि जब सम्पूर्ण उपनिषद् एक ब्रह्मविद्या का ही प्रकरण है तो फिर अमुक मन्त्र से संन्यासियों के लिये ज्ञाननिष्ठा और अमुक मन्त्र से उनमें असमर्थ अज्ञानियों के लिये कर्मनिष्ठा बतलाई गयी है, ऐसा प्रकरण-भेद करना सर्वथा अनुचित है । अतः ज्ञान, कर्म तथा उपासना के अधिकारी भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु एक ही व्यक्ति ज्ञान के साथ उपनिषद् में कहे गये कर्म तथा उपासना का भी अनुष्ठान कर सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है किन्तु विचार दृष्टि से भट्ट भास्कर का उक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उपनिषदों में प्राणादि उपासना का भी विधान देखा जाता है । उन उपासनाओं को ज्ञान का अंग बतलाना समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उनका फल पृथक् ही उपनिषदों में सुना जाता है । यदि उन उपासनाओं का स्वतंत्र फल नहीं कहे होते तो 'फलवत्संनिद्धौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से ज्ञान का अङ्ग मान सकते थे । यदि किसी वाक्य में फल का श्रवण होता हो और उसके समीप में पड़े हुए वाक्य में फल का श्रवण नहीं होता, तो वह फलशून्य वाक्य फलवाले वाक्य का अंग माना जाता है । प्रकृत में ब्रह्मज्ञान का और उपासनाओं का भी फल स्वतन्त्ररूप से श्रुति बतलाती है, फिर भला दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव कहना कैसे ठीक हो सकेगा ? इसी प्रकार व्याकृत तथा अव्याकृत उपासना का समुच्चय-विधान भी प्रकरण भेद से इष्ट है, क्योंकि उक्त उपासनाओं का प्रकरण भिन्न ही है। यथा कर्मकाण्ड में अधिकार भेद से अग्निहोत्रादि प्रकरण में भेद माना जाता है, वेसे ही उपनिषदों में भी अधिकार भेद से विद्या के प्रकरण में भेद मान लेने पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि कुछ विद्याएँ कर्म के विरुद्ध तथा कुछ अविरुद्ध देखी गयी हैं जिन विद्याओं का कर्म के साथ विरोध नहीं है उन्हीं का समुच्चय बतलाना श्रुति को इष्ट है । अतः संसार की निवृत्ति ही जिसका फल है, एवं जिसका कर्म के साथ विरोध है, ऐसे आत्मैक्य विज्ञान का किसी भी श्रौत अथवा स्मार्त कर्म के साथ समुच्चय करना विवेकियों को इष्ट नहीं होगा, किन्तु देवता विज्ञान अर्थात् उपसनाओं का ही उक्त कर्म के साथ समुच्चय करना इष्ट है ।

यह आपको कैसे अवगत हुआ कि 'अन्धं तमः' इत्यादि अग्रिम प्रसङ्ग कर्मनिष्ठ, जीने की इच्छावाले अज्ञानी के लिये प्रारम्भ किया जा रहा है, तत्त्ववेत्ता के लिये नहीं ?

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इस मन्त्र से सम्पूर्ण भूतों को आत्मरूप से देखने वाले के लिये साध्य–साधन भेद का उपमर्दन होने के पश्चात् उस आत्मैकत्वदर्शी को उस समय क्या शोक और क्या मोह ? ऐसे शोक-मोह की निवृत्ति करने वाला आत्मैकत्व विज्ञान का किसी भी कर्म तथा उपासना

१. पृथक्फलश्रवणादिति—न समुच्चयानुपपत्तिरिति शेषः । कर्मणस्तु पितृलोकाख्यं पृथक्फलमनुपदमेव वक्ष्यतीत्य-वधेयम् । २. कथं तर्हि व्याख्यायतां तत्राह—अध्ययनेति । ३. मोक्षात्मकं नित्यं फलमनुद्दिश्य वेदाध्ययनं विदधानः स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्येषविधिर्न साफल्यमश्नुवीत न च तथा सति प्रामाण्यमियादिति भावः । ननु मोक्षादर्वाचीनमपि स्वर्गादिफलमुद्दिश्य प्रवर्तनमानोऽपि स साफल्यमाप्नोतु नेत्याह—देवेत्यादिना । ४. तथा च किमर्था निन्देत्यत्राह—प्रहणार्थे वेति । देवताविज्ञानादि मोक्षासाधनस्य तित्याजयिषयेति यावत् ।

५. यदुक्तमध्ययनिविधेरित्यादि तद्भाष्यभावोक्तिमिषेण परिहरति—न फलशब्दो मोक्षरूढ इति । असाधारण इत्यर्थः । मोक्षातिरिक्ताशक्तत्वे सति मोक्षे शक्त इति यावत् । ६. न मोक्षे रूढ इति—येन मोक्षातिरिक्त-साधनत्वेनाप्यध्ययनविधिरफलत्वेनाप्रामाण्यं गच्छेदितिभावः । ७. तत्र हेतुमाह—मोक्षमित्यादिना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न निन्दापरैवैकैकस्य[1] पृथक्फलश्रवणात्[2]। [4]विद्यया [5]तदारोहन्ति। विद्यया देवलोकः। न [6]तत्र दक्षिणा यन्ति। कर्मणा [7]पितृलोक इति। [8]नहि शास्त्रविहितं किंचिदकर्तव्यतामियात्। [9]तत्रान्धं तमोऽ[10]दर्शनात्मकं तमः [11]प्रविशन्ति। के। येऽविद्यां विद्याया [12]अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः। [13]कर्मणो विद्याविरोधित्वात्। तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव[14] [15]केवलामुपासते [16]तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव

के साथ समुच्चय करना विवेकशील व्यक्ति नहीं चाहता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय कथमपि सम्भव नहीं है। यहाँ पर तो विद्या एवं अविद्या के समुच्चय विधान की इच्छा से ही अविद्वानों की निन्दा की जा रही है।

'जिस ब्रह्मविद्या का प्रसङ्ग इस उपनिषद् के प्रथम मंत्र में प्रारम्भ किया गया, समुच्चय की दृष्टि से उसी की आगे निन्दा की जा रही है', यह भट्टभास्कर का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रसङ्ग मात्र से कर्म के साथ ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, योग्यता भी देखनी चाहिये। कर्म के साथ सम्बन्ध के लिये ब्रह्मविद्या में योग्यता नही है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्मात्मैक्य बोध सम्पूर्ण कर्तृत्वादि अध्यास का नाशक होने के कारण कर्म के साथ उसका कैसे समुच्चय होगा? अर्थात् नहीं हो सकता है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि जिसके निष्पन्न होने पर भी तत्काल फल नहीं मिलता, तो उसे सहकारी के साथ समुच्चय करने की आवश्यकता होती है। दर्शपूर्णमास इत्यादि कर्म के निष्पन्न होने पर तत्काल स्वर्गादि फल नहीं मिलता, अतः ऐसे कर्मों के साथ अन्य किसी का समुच्चय किया जा सकता है। आत्मैकत्वविज्ञान प्राप्त हो जाने पर तत्त्वदर्शी में शोक-मोह की निवृत्ति तत्काल ही देखी जाती है। यही श्रुति भी कह रही है 'तत्र को मोहः कः शोकः'। एकत्व दर्शन काल में ही मोहादि की निवृत्ति होने के कथन से उस ज्ञानादि का फल कालान्तरीय नहीं है। अतः वहाँ पर जिसका जिसके साथ न्यायतः वा शास्त्रीय दृष्टि से समुच्चय सम्भव हो सकता है, उसी के प्रसङ्ग में यहाँ पर कहा जा रहा है। देवता विषयक विज्ञान को दैववित् कहते हैं, उसी का कर्म

---

१. न निन्दापरैवेति—न कर्मोपासन योजिहापयिषयेति यावत्। २. अत्र हेतुमाह—पृथगिति। ३. एकैकस्य सफलं च जिहापयिषितं चेति विप्रतिषिद्धमिति भावः। ४. पृथक्फलमेव श्रावयति—विद्ययेत्यादिना। ५. तदारोहन्तीति—तद्धिरण्यगर्भपदमुपासनचाधिगच्छन्तीत्यर्थः। एवमग्रेऽपि नेयम्। ६. दक्षिणाः—दक्षिणोपलक्षितयज्ञादिकर्मानुष्ठातारः। दक्षिणमार्गानुगामिनः कर्मिण इति यावत्। ७. पितृलोक—स्वर्गः। ८. ननु सफलमपि कुतो न जिहासितव्यं स्यात्तत्राह—नहीति। तथाहि सति शास्त्रस्याननुष्ठापकत्वलक्षणप्रामाण्यं प्रसज्येत तच्चानिष्टमिति भावः। ९. तत्र=तथा सति। उपपत्त्या प्रकृते विद्यापदेन देवताज्ञानस्यैव ग्राह्यत्वनिश्चये सतीति यावत्। १०. अदर्शनात्मकमिति—आज्ञानात्मकमहन्ताद्यभिमानात्मकाज्ञानकार्यप्रचुरां निःश्रेयससंपादनाक्षमप्रायान्देवादियोनिमिति यावत्। ११. प्रविशन्ति—प्राप्नुवन्तीति यावत्। १२. अविद्यामित्यत्र विद्यासम्यग्ज्ञानं नञर्थस्तु विरोधित्वमित्याशयेन व्यचष्टे—विद्याया अन्येति। १३. ननु विद्याया अन्यत्वं घटादावपि भवति तत्कुतः कर्मैव गृह्यते तत्राह—कर्मणो विद्याविरोधित्वादिति। अविद्याशब्दस्य कर्मार्थत्वेऽयं हेतुः। तथा च विरोधित्वमेवात्र नञर्थः। विद्यया अन्येत्यादि तु व्युत्पत्तिमात्रं विरोधित्वमेव वा अन्यत्वं विवक्षितम्। विरोधित्वस्य नञर्थत्वे च निगदन्ति "सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता, अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता" इति। विरोधित्वञ्चानयोर्निरूपितमधस्ताद्भिन्नाधिकारित्वमुपपादयद्भिर्वक्ष्यते चेति भावः। १४. सर्वं वाक्यं सावधारणमितिन्यायेनाह—एवेति। १५. तदेव विवृणोति—केवलमिति उपास्त्यसम्मुचितामित्यर्थः। १६. कर्मणः केनाप्यनुपास्यमानत्वादुपासत इत्यस्थाने प्रयुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—तत्परा इति। तत्कर्मैव परं परमपुरुषार्थसाधनत्वेनाभिप्रेतं येषामिति विग्रहः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति । के, कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रता [2]अभिरताः । [3]तत्रा[4]वान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह । [5]अन्यथा [6]फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गा[7]ङ्गितैव स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

सम्बन्धी रूप से उपन्यास किया गया है, परमात्म विज्ञान का नहीं। 'उपासना से देवलोक को प्राप्त करता है' ऐसा उपासना का पृथक् फल सुना गया है, केवल कर्म और केवल उपासना के अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, जबकि केवल कर्म और उपासना का पृथक्-पृथक् फल सुना गया है इसलिये निन्दा करने वाली श्रुति वाक्य का तात्पर्य निन्दा में नही है, अपितु समुच्चय विधान में ही है। अन्यथा एक-एक अनुष्ठान का फल-कथन व्यर्थ हो जायेगा। श्रुति कहती है कि 'देवोपासना से देवपद पर आरूढ़ होते हैं, उपासना से देवलोक प्राप्त होता है, उपासना से जिस स्थान को प्राप्त करता है, वहां पर दक्षिणायन से जाने वाले नहीं जाते हैं। केवल कर्मानुष्ठान से पितृलोक प्राप्त होता है'। इस प्रकार उपासना तथा कर्मानुष्ठान का पृथक्-पृथक् फल का श्रवण हो रहा है। दोनों का अनुष्ठान जब शास्त्र विहित है तो भला शास्त्रविहित कोई भी कर्म अकर्तव्य कैसे होगा? अतः एक-एक की निन्दा समुच्चय विधान के अभिप्राय से ही की गयी है।

उक्त मंत्र का अर्थ यह है कि जो विद्या के विरोधी अविद्यात्मक कर्म में लगे हुये हैं, वे तो अदर्शनरूप तम में प्रवेश कर रहे हैं। अविद्या का अर्थ कर्म इसलिये भी किया गया है, क्योंकि कर्म विद्या का विरोधी है। ऐसी केवल अग्निहोत्रादि रूप अविद्या की उपासना अर्थात् अनुष्ठान जो करते हैं वे तो घोर अन्धकार में जा रहे हैं, किन्तु उनसे भी अधिक घोरतम अन्धकार में वे प्रवेश कर रहे हैं, जो शास्त्रविहीन अग्निहोत्रादि कर्म का परित्याग कर देवता ज्ञानरूप उपासना में ही अभिरत हो रहे हैं। यहाँ पर दोनों का अवान्तर फलभेद समुच्चय का कारण कहा गया है। अन्यथा एक वाक्य फल वाला और तत्संनिधान में दूसरा वाक्य फलशून्य हो तो 'फलवत्संनिद्धौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से उक्त संनिहित दो वाक्य में अङ्गाङ्गी-भाव होने लग जायेगा ॥९॥

स्वतन्त्र कर्म और उपासना का फल

नवम मन्त्र से केवल कर्मानुष्ठान अथवा केवल उपासनानुष्ठान की निन्दा की गयी, इतना ही नहीं, अपितु उनसे अनिष्ट-प्राप्ति भी बतलायी गयी है। अतः कर्म एवं उपासना दोनों ही निष्फल हैं? इस शंका का समाधान मन्त्र स्वयं ही कर रहा है कि 'विद्या (उपासना) से अन्य ही फल प्राप्त होता है और अविद्या (कर्म) से अन्य फल प्राप्त होता है, ऐसे बिद्वान् लोग कहते हैं, एवं हमने उन विद्वानों की बात भी सुनी है, जिन्होंने ज्ञान और कर्म की सम्यक् व्याख्या की थी। 'उपासना से देवलोक को

१. बहुतरमिति—तमसो बहुतरत्वं तत्कार्यस्याभिमानादेराधिक्यम् ।

२. अभिरता इति—रतिमन्तः सन्तो घटन्त इति यावत् । ३. ननु तर्हि त्याज्यमेव कर्मोपासनद्वयमित्याशङ्कामपनुदन्मन्त्रान्तरमवतारयति—तत्रेत्यादिना । तत्रप्रत्येकं निन्दित्वेन त्यागायोगे च सतीति यावत् । ४. अवान्तरफलेति—मुख्यं तु चित्तशुद्धिज्ञानद्वारकमोक्ष एव फलमित्याशयः ।

५. अन्यथेति—अवान्तरफलभेदानुक्तावित्यर्थः । ६. फलवदफलवतोरित्यादि—फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायादिति भावः । संनिहितत्वं चानयोरेकशास्त्रविहितत्वं शास्त्रं चैकं वेद एवेत्यवधेयम् । ७. अङ्गाङ्गितैवेति—प्रधानयोर्हि सहानुष्ठानस्य समुच्चयव्यपदेशो दर्शपूर्णमासयोरिव नत्वङ्गाङ्गिनोर्दर्शादिप्रयाजाद्योरिवेत्यभिप्रायः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

[विद्या (देवोपासना) से (देवलोक की प्राप्तिरूप) अन्य ही फल बतलाते हैं तथा अविद्या (अग्नि होत्रादि कर्म) से (पितृलोक की प्राप्तिरूप) अन्यफल कहते हैं। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उन (फल के सहित ज्ञान और कर्म) की व्याख्या की थी ॥१०॥]

अन्यदेवेत्यादि । अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति विद्यया देवलोको विद्यया तदारोहन्तीतिश्रुतेः । अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः । इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । य 'आचार्या नोऽस्मभ्यं

प्राप्त करता है' इस श्रुति से उपासना का फल देवलोक की प्राप्ति बतलायी है, और 'कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है' इस श्रुति से कर्मानुष्ठान का फल पितृलोक की प्राप्ति बतलायी गयी है, ऐसा हमने उनके रहस्य जानने वाले विद्वानों का व्याख्यान सुना है। इस वाक्य से श्रुति बतला रही है कि यह रहस्यमय ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त किया जाता है, केवल अपने मनःकल्पित विचारों से उक्त रहस्यमय ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्र में आया हुआ 'अन्य' शब्द उपासना तथा कर्म में सफलत्व का बोधक है, एवं 'एव' शब्द से दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव का निषेध भी किया है। मंत्र में उपासना का फल बतलाते समय अवधारणार्थक 'एव' शब्द से देवता-विज्ञान का फल केवल देवलोक की प्राप्ति है, किन्तु कर्म का फल अन्तः-शुद्धि द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति भी है। अत एव कर्म का फल बतलाते समय केवल 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया गया वहाँ पर अवधारणार्थक एव शब्द नहीं है।

इस रहस्य के व्याख्याता ऋषि मन्त्रद्दष्टा हुए हैं, इसलिये 'धीराणाम् पद से कहा गया है, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा से भिन्न व्यक्ति स्वातन्त्र्येण अर्थ-प्रतिपादन में भूल कर सकता है, किन्तु मन्त्रद्रष्टा, आप्तकाम ऋषि कर्म तथा उपासना के तन्त्र को जानने वाले कभी भी भूल नहीं कर सकते। उन्हीं का यह आगम परम्परा से हमारे सामने उपस्थित है। अतः पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा का तात्पर्य इन दोनों की निष्फलता बतलाने में नहीं है; अपितु उन दोनों का समुच्चय बतलाने में है। एक-एक का पृथक् अनुष्ठान यदि सर्वथा निष्फल हो तो उन दोनों का समुच्चय अनुष्ठान कैसे हो सकता है? लोक में देखा गया है कि एक सिकता तेल देने में असमर्थ है। सिकता-समूह से तेल नहीं निकलता; किन्तु एक तिल या सरसों तेल देने में समर्थ है, तो उनके समूह में भी तेल देने का सामर्थ्य है। अतः उक्त अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उन दोनों के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान का भी फल है, जिसे दशम मन्त्र से बतलाया गया है।

दो सफल एवं समर्थ का ही साहचर्य लोक में भी देखा जाता है, यथा कृषि वाणिज्यादि में एक समृद्ध एवं समर्थ है, और दूसरा दरिद्र तथा असमर्थ पङ्गु एवं प्रमादी है, तो उन दोनों का कभी साहचर्य नहीं चल सकता है। इसके विपरीत दोनों समृद्ध तथा सशक्त हों और मिलकर कृषि-बाणिज्यादि करें, तो पूर्व की अपेक्षा अधिक लाभ होता देखा गया है। वैसे ही कर्म और उपासना दोनों ही निष्फल हों, अथवा एक का फल होता हो और दूसरे का नहीं; तो दोनों परिस्थिति में कर्म और

---

१. के ते धीमन्त इत्यत आह—य इति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय्ँसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

[जो कोई विद्या और अविद्या इन दोनों को एक साथ ही एक पुरुष से अनुष्ठेय जानता है (और वैसे ही अनुष्ठान करता है वह कर्म रूप) अविद्या से (स्वाभाविक प्रवृतिरूप) मृत्यु को पार कर विद्या से (देवात्म भाव रूप आपेक्षिक) अमृतत्व को प्राप्त करता है ॥११॥]

तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्त[1]स्तेषामय[2]मागमः [3]पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥१०॥ [4]यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः। यस्तदेतदुभयं सहैकेन

मनिच्छतामपि [5]समीहिते [6]फलव्यवहारदर्शनात्ततो[7] यो देवलोकादिमुपादित्सते तस्य तदपि फलं [8]भवत्येवेत्यर्थः[9] ॥६॥१०॥११॥

उपासना का समुच्चय बन नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में 'फलवत्संनिधौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से अंगांगी भाव प्राप्त होगा, समुच्चय नहीं। समुच्चय के लिये दोनों की सफलता अनिवार्य है। इसीलिये मंत्रद्रष्टा ऋषियों की व्याख्या को प्रमाण मानकर कर्म तथा उपासना का फल पृथक्-पृथक् बतलाया गया है।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि विद्या का अर्थ उपासना तथा अविद्या का अर्थ कर्म लेना ही उचित है, क्योंकि तत्त्वज्ञान का किसी के साथ समुच्चय सम्भव नहीं और अविद्या पद में नञर्थ विरोधी होने के कारण विद्या का विरोध कर्म के साथ ही है। अतः अविद्या पद का अर्थ कर्म किया गया है, जिसे श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के आधार पर बतला रही है ॥ १० ॥

कर्मोपासना समुच्चय का फल

इस प्रकार देवोपासना तथा कर्मानुष्ठान दोनों ही शास्त्रविहित होने के कारण सफल हैं, ऐसा कहने के बाद अब दोनों का समुच्चय बतला रहे हैं। जब कि ऐसी बात है, इसीलिये देवोपासना और शास्त्रविहित कर्म इन दोनों को जो कोई एक ही पुरुष से एक साथ अनुष्ठेय समझता है, वह अग्नि-होत्रादि कर्म से स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप मृत्यु को जीतकर देवोपासना से देवभाव की प्राप्तिरूप अमृत को प्राप्त कर लेता है।

समुच्चय का अर्थ होता है सहानुष्ठान। वह समुच्चय दो प्रकार का होता है, क्रमसमुच्चय और सहसमुच्चय। जीवन में कुछ दिनों तक कर्म का अनुष्ठान करने के बाद उपासना या ज्ञान के अनुष्ठा-

१. तेषां च तद्व्याख्यानं नात्मकल्पनयेत्याह—तेषामिति। २. आगमः—उपदेशः ३. पारम्पर्यागत इति—आचार्यपरम्पराप्राप्त इत्यर्थः। यतस्तेऽपि श्रुत्यवष्टम्भेनाहुरिति जगदुः। ततो नास्यागमस्याप्रामाण्यं शङ्कनीयमिति भावः। ४. उभयोः फलवत्त्वेन त्यागायोगात् प्रत्येकानुष्ठानस्य च निन्दितत्वादिति वदन्समुच्चयविधिमन्त्रमवतारयति—यत एवमत इति। ५. समीहिते—लिप्सिते स्वर्गादावित्यर्थः। ६. फलव्यवहारदर्शनादिति—शक्त्यैव फलशब्दप्रयोगसद्भावादिति यावत्। ७. तत इति—मोक्षादर्वाचीनफलेनापि स्वाध्यायविधिप्रामाण्यस्याक्षतत्वादिति यावत्। ८. भवत्येवेति—तथा च न सफलस्य तित्याजयिषा घटत इति प्रहाणार्हं वचः प्रहाणार्थैव निन्देत्येतदिति भावः। ९. इत्यर्थ इति—ततः समुच्चिचीषयैव निन्देति राद्धान्त इत्युपसंहर्तव्यम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरुषेणानुष्ठेयं [1]वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण [2]एवैकपुरुषार्थसंबन्धः [3]क्रमेण स्यादित्युच्यते—— अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं [4]स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च [5]मृत्युशब्दवाच्यमुभयं

में लग जावें, तो उसे क्रमसमुच्चय कहते हैं, वैसे ही प्रतिदिन कुछ समय तक अग्निहोत्रादि कर्म करना उसके बाद देवोपासना और तदनन्तर वेदान्त ज्ञान प्राप्ति के साधन वेदान्तश्रवणादि में प्रवृत्त होना, इसे भी क्रमसमुच्चय कहते हैं। किन्तु एक ही पुरुष से एक ही समय में अग्निहोत्रादि कर्म, देवोपासना अथवा ब्रह्मज्ञान के अनुष्ठान को सहसमुच्चय कहते हैं। एक ही समय में भिन्न-भिन्न पुरुष से कर्म, उपासना और ज्ञान के अनुष्ठान को भी कथञ्चित् सहसमुच्चय कहा जा सकता है। इस प्रकार क्रम-समुच्चय तथा सहसमुच्चय के भी दो-दो भेद हो जाते हैं। इनमें से भिन्न-भिन्न पुरुष से एक काल में कर्मादि के अनुष्ठान रूप सहसमुच्चय मानने में कोई विरोध नहीं है अर्थात् एक पुरुष अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान में लगा हुआ है तो दूसरा देवोपासना में एवं तीसरा ज्ञान के साधन में निरत है। ऐसे समुच्चय मानने में किसी को कुछ भी विरोध नहीं होता, लेकिन श्रुति को ऐसा अभिमत नहीं है, क्योंकि 'तीर्त्वा' पद में 'त्वा' प्रत्यय किया गया है, जो एक कर्ता में पूर्वकालिक क्रियावाचक धातु से हुआ करता है। अतएव पाणिनीय सूत्र में कहा है 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१)

यहाँ पर 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है)। इस प्रकार मृत्यु का सन्तरण करने वाला तथा अमरत्व प्राप्त करने वाला एक ही व्यक्ति है, जिसने विद्या एवं अविद्या का एक साथ अनुष्ठान किया है। अतः विद्या एवं अविद्या के अनुष्ठान का कर्ता भिन्न-भिन्न श्रुति को इष्ट नहीं है किन्तु एक ही कर्ता इष्ट है।

क्रमसमुच्चय के दो भेद बतलाये गये थे। उनमें से प्रथम पक्ष मानने में कोई विरोध तो नहीं है किन्तु श्रुति में 'यस्तद्वेदोभयं सह' इससे क्रमसमुच्चय का प्रतिपादन करना श्रुति को अभीष्ट नहीं जान पड़ता। अन्यथा 'उभयं सह' कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्रमसमुच्चय के द्वितीय पक्ष में बतलाया गया है, कि प्रतिदिन कुछ समय तक अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान, तत्पश्चात् उपासना का एवं ज्ञान का साधन कर लेना चाहिये, किन्तु विचार करने पर यह पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि सर्वात्म भाव के चिन्तन में लगे हुए व्यक्ति से क्रिया-कारक तथा फल भेदवाले कर्म का अनुष्ठान कैसे सम्भव हो सकेगा? ऐसे व्यक्ति के लिये तो 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इस वाक्य से क्षणभर भी अनात्म चिन्तन का निषेध कर तैलधारावत् नित्य-निरन्तर ब्रह्म और आत्मा की एकता का चिन्तन

---

१. वेदेति—विदित्वाऽनुतिष्ठतीत्यर्थः तस्यैवं समुच्चयकारिण इत्युत्तरस्माद्भाष्यात्। २. एकपुरुषार्थसंबन्ध इति—एकः पुरुषार्थो देवात्मभावाख्यममृतं तत्प्राप्तिरित्यर्थः। ३. क्रमेणेति—स्वाभाविककर्मज्ञानाख्यमृत्युतरण-पूर्वकमिति यावत्। ४. मृत्युपदं व्याचष्टे—स्वाभाविकं कर्मज्ञानं चेति। शास्त्रानाधेयं पुरुषबुद्धिप्रभवं प्राक्तनसंस्कारानुसारिक्रियासामान्यमुपासनसामान्यं चेत्यर्थः। ५. ननु मृत्युशब्दो मारके यमादौ प्रसिद्धस्त-त्कुतोऽन्यथा व्याख्यायते तत्राह—मृत्युशब्दवाच्यमुभयमिति। सा वा एषा देवता (प्राणाख्या) एतासां देवतानां (वागादीनां) पाप्मानं मृत्युमपहृत्य यत्रासां दिशामन्तः (शास्त्रीयज्ञानादिसंस्कृतजनाधिष्ठितमध्यदेशा (आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यंविन्ध्यहिमागयोः) तिरिक्तो देशो दिशामन्तः) तद्गमयाञ्चकारेत्यादिश्रुतौ। (आदिना असतो मा सद्गमयेति मन्त्रव्याख्यानभूता श्रुतिर्गृह्यते। तत्र हि मृत्युर्वा असदित्यसच्छब्दितं स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म च मृत्युत्वेन व्याख्यायत इति। स्वाभाविकज्ञानकर्मणी एव पाप्मपदेन परामृश्य तयोर्मृत्युत्वव्यपदेशात्ते एवात्र मृत्युत्वेन मारकत्वानुगमात्। कर्मणा मृत्यवन्तरतरणायोगाच्चेति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीर्त्वाऽतिक्रम्य [1]विद्यया देवताज्ञानेनामृतं [2]देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । [3]तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥११॥

ही बतलाया गया है। इसके विपरीत क्रिया-कारक फल भेदवाले कर्म में निरत व्यक्ति अद्वैतात्मा का चिन्तन कैसे कर सकेगा ? अतः क्रमसमुच्चय का द्वितीय पक्ष भी श्रुति, युक्ति एवं अनुभव से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। परिशेषतः एक कालावच्छेदेन एक ही व्यक्ति से विद्या एवं अविद्या का सहानुष्ठान रूप समुच्चय बतलाना ही श्रुति को इष्ट है। इसी अभिप्राय से एक-एक के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है और साथ ही दोनों का दशममन्त्र से फल भी बतलाया गया है। अतएव एकादशमन्त्र की व्याख्या करते हुये भगवान् भाष्यकार ने कहा है, कि जो कोई विद्या एवं अविद्या को एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठेय समझता है, ऐसे समुच्चय अनुष्ठान करने वालों को क्रमशः दोनों के फल के साथ सम्बन्ध हो जाता है। वह सहानुष्ठान कर्ता पहले शास्त्रविहित-अग्निहोत्रादि-श्रौतकर्म तथा स्ववर्णाश्रमानुसार स्मार्त कर्म के द्वारा स्वाभाविक पाशविक प्रवृत्तिरूप कर्म तथा स्वाभाविक चिन्तनरूप ज्ञान से मृत्यु को पार करके देवोपासना से देवात्मभाव (अमरत्व) को भी प्राप्त कर लेता है। देवता भी अमर कहे जाते हैं, इसलिये देवात्माभाव-आपेक्षिक अमृतत्व माना गया है।

जल की भाँति जीव की प्रवृत्ति नीचे की ओर होती है, शास्त्र उसे संयम का मार्ग बतलाकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर जाने की प्रेरणा देता है। इसीलिये स्वाभाविक प्रवृत्ति प्राणी को पतन की ओर ले जाने के कारण मृत्यु शब्द से कही गयी है। इस स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप मृत्यु को जीतने के साधन शास्त्रोक्त कर्म ही हैं। वे कर्म देवोपासना के साथ अनुष्ठान किये जाने पर देवात्मभाव के

१. अतिक्रम्येति—निरुध्येत्यर्थः। तत्प्रयुक्तदुरदृष्टोत्पत्तिं प्रतिबध्येति यावत् । शास्त्रीयमेव कर्मादि सदानुतिष्ठतस्तत्संस्कारप्राचुर्येण स्वाभाविकज्ञानकर्मसंस्कारा उपमृदिता भवन्तीति प्रसिद्धमेव । तदुत्थपुण्यप्रभावाच्च ते क्षर्णि ततस्तदनुसारिप्रवृत्त्यभावेन पापोत्पत्तिप्रतिबन्धः। २. एवं कर्मणा निष्पापो विशुद्धः सन्देवतोपासनोत्थपुण्यादृष्टवशेन देवभावाख्यममृतमधिगच्छतीत्याह—विद्ययेत्यादिना। ३. देवतात्मभावमश्नुत इति—नन्वेकैकस्यापीदमेव फलम् । विद्यया देवलोकः, कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः। तत्तल्लोकप्राप्तिर्हि तत्तल्लोकेषु देवात्मनाऽवस्थानमेव तत्कथं निन्दितमेवैकैकस्य फलम् । समुच्चयफलत्वेनाभिधीयत इति चेन्न । अमृताख्यदेवतात्मभावप्राप्तिर्नाम देवतासायुज्यम् । व्यष्ट्युपाधिकृतपरिच्छेदनिर्मोकेन समष्ट्युपाध्युपहितत्वाधिगम इति यावत् लोकप्राप्तिस्तु लोकाभिमानिदेवतासामीप्यादिरूपेति भेदात् । वस्तुतस्तु देवतात्मभावो ज्ञानद्वारामोक्षसाधनम् "ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमिति" ब्रह्मलोकगतानां ब्रह्मणा सहैव मोक्षश्रवणात् । लोकप्राप्तिस्तु भोगमात्रसाधनमित्येव भेदः तथा च सकामकर्मोपासने निन्दित्वा निष्कामतत्समुच्चयोऽत्र विधीयत इति मन्तव्यम् । सकामनिष्कामयोरेव तयोर्भोगमोक्षहेतुत्वात् । ज्ञानकाण्डे चात्र ज्ञानसाधनकर्मोपासनयोरेव विधातुमर्हत्वादिति । ननु निष्कामानुष्ठानस्य मोक्षहेतुत्वे एकैकस्यापि तदनुष्ठानं परम्परया मोक्षपर्यवसाय्येव भविष्यतीति समुच्चयविधानमफलमेवेति चेन्न । सत्वरं फलजननानुकूलतया सफलत्वात् । एकैकानुष्ठाने हि विलम्बेन फलं समुच्चयेन तु सद्य एव, समुच्चयेन मलविक्षेपयोर्युगपदपाकरणादेकैकतस्तु क्रमेणेत्यलम् । ४. नन्वमृतं नाम पीयूषापरपर्यायं नाकिनां पेयं किमपि द्रव्यं प्रसिद्धम् । देवात्मभावस्तु नामृतत्वेन प्रसिद्धस्तत्कथं प्रसिद्धमपहायाप्रसिद्धमुच्यते शास्त्रप्रसिद्धत्वान्नैवमित्यभिप्रेत्याह—तद्धीति। मृत्योर्माऽमृतं गमयेत्यादेर्देवतात्मभाव एवामृतत्वेनोच्यते तथा च तत्र ब्राह्मणम् "अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाहेति ।" नाकिपेयस्य तु केवलेनापि कर्मणा लब्धुं शक्यतया समुच्चयफलत्वोक्तेरसाङ्गत्यादनवकाश एवेति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्ति में सहायक हो जाते हैं। यदि अग्निहोत्रादि—शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग कर केवल उपासना में निरत होता हो, तो निश्चित है कि वह प्रत्यवाय का भागी होगा। वैसे ही देवार्पण बुद्धि से कर्म को करते हुए देवतोपासना नहीं करता तो वह भी नवम मन्त्रोक्त रीति से घोरतम अन्धेरे में जायेगा।

यहाँ पर इस बात को कभी न भूलें कि कर्म का समुच्चय देवतोपासनादि के साथ ही सम्भव है, ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान के साथ नहीं। अतः उक्त प्रसंग में कर्म तथा उपासना का समुच्चय ही बतलाया गया है, क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से कर्ता, साधन तथा फलभेद का बाध हो जाने के कारण भला अद्वैतज्ञान के साथ कर्म का कैसे समुच्चय हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

कर्म एवं उपासना के समुच्चय-विधान के लिये प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है। ऐसी व्याख्या क्यों की गयी? ऐसा क्यों न माना जाय कि आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्तिरूप परम-पुरुषार्थ ही वस्तुतः फल है। शेष देवादि-लोक की प्राप्ति तो फलाभास है। जो फल के समान प्रतीत होता हो, किन्तु दुःखमिश्रित होने के कारण वस्तुतः फल नहीं है, तो उसे फलाभास कहते हैं। देवादि लोक की प्राप्ति ऐसी ही है। इसीलिए मोक्षाभिलाषी पुरुषों को दूर से ही परित्याग करने के लिये उसकी निन्दा की गयी है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ऐसे चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं। इनमें नित्य, निरतिशय होने के कारण मोक्ष परम पुरुषार्थ है और शेष तीन अनित्य तथा सातिशय होने के कारण केवल पुरुषार्थ हैं। अन्यथा मोक्ष के लिये 'परम' विशेषण देना व्यर्थ ही हो जायेगा, साथ ही फल शब्द केवल मोक्ष अर्थ में रूढ़ नहीं है। मुमुक्षु से भिन्न व्यक्ति में भी फलाभिलाषी शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः समुच्चय विधान के लिये ही प्रत्येक के पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, एवं दोनों का फल भी बतलाया गया है। इससे भी समुच्चय विधान करना इष्ट जान पड़ता है, जिसे ग्यारहवें मन्त्र से बतलाया गया है।

देवता तथा उनके लोक को शास्त्रों में अमृत कहा गया है। परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं का ब्रह्मज्ञान से अन्त हो जाता है। व्यवहार दृष्टि से भी इस लोक एवं अस्मदादि शरीर के समान ही देवलोक एवं देवशरीर का नाश श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से सिद्ध है, फिर इन्हें अमर कैसे कहा जाता है? 'अमरा निर्जरा देवाः' ऐसा अमरकोश में भी देवताओं को अमर और अजर कहा गया है, किन्तु पूर्वोक्त श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं का अन्त ही देखा जाता है, फिर उन्हें अमर क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि मरण शब्द का अर्थ स्थूल-सूक्ष्म शरीर का वियोग होता है 'मृङ् प्राणत्यागे' ऐसे 'मृ' धातु से मरण शब्द बना है। लोक में प्राणादि सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से निकल जाने को मरण शब्द से कहा जाता है, जो इस मृत्युलोक की परिपाटी है। देवलोक में देवताओं का शरीर 'दिव्य' कहा गया है। शुभ कर्म के फलस्वरूप देवलोक की प्राप्ति होती है। वहाँ पर देवलोकानुरूप कर्म का फल भोग लेनेपर शेष कर्म के अनुसार जीव इस संसार में उत्तमाधम शरीर को प्राप्त करता है। यह सब होते हुए भी देवलोक में देवताओं का शरीर प्राण निकल जाने पर इस लोक के समान लाशरूप से पड़ा रहता है, जिसकी अन्त्येष्टि करने के लिये उनके सम्बन्धियों को मृतदेव शरीर को श्मशान में ले जाना पड़े, ऐसी बात नहीं है, किन्तु देवलोक के उचित फल भोग समाप्ति की चिन्ता से उसका शरीर पिघलकर वैसे ही पंचमहाभूतों में मिल जाता है, जैसे उष्णता से बर्फ गलकर पानी बन जाता है। अतः उसमें मरण शब्द का प्रयोग न होने के कारण उन्हें अमर कहा गया है। वैसे ही देवताओं को अजर कहने का तात्पर्य यह है कि इस लोक में शुक्र शोणित के सम्बन्ध से गर्भ में पकता हुआ जीव योनि से बाहर आता है और पुनः अन्नादि से पुष्ट हो शैशव,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳬरताः ॥१२॥

[जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति काम कर्म के बीजभूत अविद्या) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (हिरण्यगर्भरूप कार्य ब्रह्म) में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिकतर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥१२॥]

[1]अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—अन्धं तमः

[2]चित्तन्त्रा माया [3]परमेश्वरस्योपाधिः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमित्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धाऽत्रासंभूतिशब्देनोच्यते न ब्रह्म । तस्य निर्विकारस्य

कुमार, युवा इत्यादि अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ वृद्ध हो जाता है, ऐसी परिपाटी भी देवलोक की नहीं है, अपितु देवलोक में गये व्यक्ति को प्रारम्भ से अन्त तक षोडश वर्ष की अवस्था में रह कर अपने कर्मानुसार दिव्य भोगों को भोगना पड़ता है। वह शरीर सांकलिपक हुआ करता है। जब बाल्यावस्था ही नहीं हुई तो भला वृद्धावस्था क्यों कर आने लगे ? अतएव देवताओं को अजर कहा गया है। जरावस्था का लक्षण होता है कि शरीर में झुरियाँ पड़ जायें, बाल सफेद हो जायें, दाँत गिर जायें एवं इन्द्रियाँ शिथिल हो जायें। देवताओं के शरीर में ये सब नहीं होते। अतएव उन्हें अमर कहा दिया गया है। इस प्रकार अस्मदादि शरीर एवं लोक की अपेक्षा चिरस्थायी होने के कारण देवताओं के शरीर एवं लोक को अमृत शब्द से कहा गया है, जिसे कर्म तथा उपासना का सहानुष्ठान कर्ता प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कर्म एवं उपासना के सहसमुच्चय प्रसङ्ग को बतलाकर अब व्याकृत एवं अव्याकृत उपासना के सहसमुच्चय विधान के लिये आगे का प्रसङ्ग प्रारम्भ किया जाता है ॥११॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासना का समुच्चय

श्रुति को व्याकृत एवं अव्याकृत उपासना का भी समुच्चय करना इष्ट है। इसीलिये इन दोनों के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इत्यादिक मंत्र से निन्दा कर रही है, कि 'जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति) की उपासना कर रहे हैं, वे अन्धेरे में प्रवेश कर रहे हैं। उनसे भी अधिक अन्धकार में वे प्रवेश कर रहे हैं, जो सम्भूति की (व्याकृत की) उपासना में रत हैं।'

इस मंत्र में आये हुए असम्भूति पद का अर्थ—अव्याकृत प्रकृति है। अर्थात् 'सम्भूति—सम्भवनम्—उत्पत्तिर्यस्य कार्यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्भूति का अर्थ नामरूप वाला कार्य होता

१. शुद्धान्तःकरणेभ्यो विरक्तेभ्यः संन्यासिभ्य ईशावास्यमित्यादिना ब्रह्मात्मैकत्वविद्या सफलोक्ता । अन्धं इत्यादिना त्वशुद्धान्तःकरणानां ज्ञानाधिकारित्वसम्पत्तये प्रकरणान्तरमारब्धं तत्र ये मलविक्षेपात्मकाशुद्धिमन्तस्तेभ्यः सत्वरफललाभाय कर्मोपास्तिसमुच्चयो व्यधायि । ये तु विक्षेपमात्राशुद्धिमन्तस्तेभ्यः केवलोपास्ति वक्तव्या तत्रापि सत्वरफलसम्पत्तये व्याकृताऽव्याकृतोपासनयोः समुच्चयमेव विधित्सति वेद इत्याशयेनावतारयति—अधुनेत्यादिना । कार्यकारणे हिरण्यगर्भप्रकृती व्याकृताव्याकृतशब्दाभ्यां भण्येते ।

२. ननु प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति ब्रह्मण एव प्रकृतित्वनिर्णयात्तस्या अविद्याऽव्याकृताख्येति व्याहतं विरुद्धेत्याशङ्क्याह—चित्तन्त्रेत्यादि । चित्तन्त्रत्वोक्त्याऽस्याः प्रधानत्वं व्यवच्छिनत्ति । ३. परमेश्वरस्योपाधिरिति—ब्रह्मणि जगज्जन्मादिहेतुत्वरूपपरमेश्वरत्वस्य निबन्धनमित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रविशन्ति येऽसंभूतिं संभवनं संभूतिः सा यस्य कार्यस्य [1]सा संभूतिस्तस्या अन्याऽसंभूतिः प्रकृतिः कारणम[2]विद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां [3]कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ संभूत्यां [4]कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

[5]साक्षात्प्रकृतित्वानुपपत्तेः। [6]भास्कराभिमतस्तु परिणामवादस्तत्त्वालोके निरस्त एवास्माभिः। [7]सांसारिक-

उससे भिन्न अव्याकृत कारणरूप प्रकृति को असम्भूति पद से कहा गया है। ये दोनों ही चेतन ब्रह्म के परतंत्र हैं। उनमें से कार्य अपने कारण के अधीन होता है, इस नियम के अनुसार व्याकृत जगत् अव्याकृत प्रकृति के अधीन है एवं अव्याकृत प्रकृति चेतन ब्रह्म के आश्रित है, क्योंकि 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुत्यन्तर में भी परमेश्वराधीन माया को जगत् की प्रकृति कहा गया है। यद्यपि प्रकृति के उत्पत्ति रहित होने के कारण ब्रह्म भी असम्भूति पद से कहा जा सकता है, तथापि निर्विकार होने से ब्रह्म विकारयुक्त प्रपञ्च का साक्षात् कारण नहीं हो सकता। अतः प्रपञ्च का साक्षात् प्रकृतित्व असम्भूति पद वाच्य अव्याकृत प्रकृति में ही है। इसी को अविद्या पद से भी कहा जाता है। यही सम्पूर्ण कामनाओं तथा शुभाशुभ कर्मों का बीज है तथा बुद्धि के ऊपर आवरण डालने वाली होने के कारण अदर्शनरूपा भी है। अतएव ऐसी असम्भूति की उपासना करने वाले को तदनुरूप अदर्शनात्मक अन्धेरे में प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु उससे भी अधिक अन्धेरे में वे प्रवेश करते हैं, जो हिरण्यगर्भ नामक सम्भूति पद वाच्य कार्य ब्रह्म में निरत हैं।

विद्या और अविद्या के अर्थ के समान ही सम्भूति एवं असम्भूति के व्याख्यान में भी अनेक विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। उन सभी कल्पनाओं का निराकरण यहाँ सम्भव नहीं एवं इष्ट भी नहीं है। हम तो शाङ्कर-भाष्य-सम्मत अर्थ को सिद्धान्त मानकर विचार करना उचित समझते हैं।

भाष्य में सम्भूति का अर्थ कार्य ब्रह्म और असम्भूति का अर्थ कारणब्रह्म किया गया है।

नामरूप (कार्य जगत्) उपाधि से विशिष्ट चेतन को सम्भूति पद से कहा गया है। क्षुद्रजन्तु

१. सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिरिति—धर्मशब्दो धर्मिणि लाक्षणिकस्तेजोऽतिशयवति तेज एवायमितिवत्। छान्दसो वा मतुपोलुगित्यभिप्रायः संभूत्यां रता इत्यत्र तथैव योगादसंभूतिपदेऽपि नञ्बहुव्रीहिर्नादृत इति ध्येयम्।

२. सांख्याभिमतां प्रकृतिं वारयति—अविद्याऽव्याकृताख्येति। "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे," इति मन्त्रवर्णात्। तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति श्रुतेश्चेति भावः। ३. अविद्यायाः कारणत्वमुपपादयितुं विशिनष्टि—कामेत्यादिना। अविद्या नाम नात्र विद्याऽभावो येन हिरण्यगर्भादिभावोपादानत्वासंभवः किन्तु त्रिगुणात्मकभावरूपायास्तस्या विद्यायाविरोधादविद्यात्वमित्याशयेनाह—कामेति। ४. संभवनं संभूतिरित्याद्युक्तविधया कार्यसामान्यवचनोऽपि संभूतिशब्दोऽत्र हिरण्यगर्भमेव परामृशति। तस्यैव कार्येषु प्राथम्यात्प्राणादिभावेन चोपनिषत्सु बहुधोपास्यत्वश्रवणादित्याशयेन संभूतिशब्दं व्याख्याति—कार्येत्यादिना। ५. साक्षादिति—मायोपधानं विनेत्यर्थः। विकारावर्ति च तथाहि स्थिति माहेति ब्रह्मणोर्निर्विकारत्व निश्चयान्मायोपाधिकस्यैव प्रकृतित्वं मायायामेवपर्यवस्यतीति भावः।

६. ब्रह्मणोऽपि परिणामवादिनं तु ग्रन्थान्तरे शिक्षितवन्त एव वयमित्याह—भास्करेति। ७. ननु सुखस्यैव पुरुषेणार्थ्यमानत्वात्प्रकृतिलयस्य च सुखरूपत्वाभावात्कथंपुरुषार्थत्वं तत्राह-सांसारिकेत्यादि। सुखस्येव दुःखाभावस्यापि पुरुषार्थत्वादिति भावः। सुषुप्तौ स्वरूपसुखस्य सत्त्वेऽप्यावृतत्वादिनाऽस्फुटत्वेन तदुपेक्ष्य दुःखानुभवाभावेनैव पुरुषार्थत्वमुक्तमिति ध्येयम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

[कार्य ब्रह्म की उपासना से अन्य ही (अणिमादि ऐश्वर्यरूप) फल बतलाते हैं तथा अव्यक्त की उपासना से (प्रकृतिलय रूप) अन्य ही फल बतलाते हैं ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (फल के सहित व्यक्त और अव्यक्त उपासना) की व्याख्या की थी ॥१३॥]

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारण[1]मवयवफलभेदमाह—अन्यदेवेति । अन्यदेव पृथगेवाऽऽहुः फलं संभवात्संभूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुरसंभवादसंभूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तमन्धं तमः प्रविशन्तीति [2]प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

दुःखानुभवाभावेन चसुषुप्तिवत्प्रकृतिलयस्य पुरुषेणार्थ्यमानताऽप्युपपद्यते । फलं च कर्मोपासन इव प्रकृत्यु-

---

से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी कार्य ब्रह्म के अन्तर्गत आ जाने से सम्भूति पद के अर्थ हैं, एवं सम्पूर्ण नामरूप का कारण अव्यक्त प्रकृति से विशिष्ट चेतन ही असम्भूति पद का अर्थ होता है। इन दोनों कार्यब्रह्म तथा कारणब्रह्म की समुच्चयरूप से उपासना ही इस प्रसङ्ग में बतलाई जा रही है।

यह बात ध्रुव सत्य है कि जब तक प्रकृति एवं उसके कार्य ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी से सर्वथा असङ्ग कार्य-कारण से अतीत सर्वाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य का आत्मरूप से साक्षात्कार नहीं हो जाता है, तब तक कर्तव्य की शृंखला से कोई छूट नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में शास्त्रविहित कर्म एवं उपासना का परित्याग करने पर उसे अवश्यमेव प्रत्यवाय का भागी होना पड़ेगा। शास्त्रविधि का परित्याग करके भी कर्म पाश से तो जीव बन्धा ही रहता है। अतएव गीता में कहा गया कि 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।' (गी० ३।५) अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न गुणों से बन्धा हुआ व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता, वह परवश काम करता है। फिर वेदविहित कर्म का परित्याग कर पाप का भागी क्यों बने? अतः सहस्र माताओं से भी बढ़कर वात्सल्य प्रेमवाली श्रुति भगवती प्राणीमात्र के लिये उचित मार्ग का प्रदर्शन कर रही है ॥ १२ ॥

स्वतन्त्र व्यक्त और अव्यक्त उपासना का फल

पहले मन्त्रों में कर्म एवं देवोपासना के समुच्चय का फल बतलाया गया है वही सम्भूति तथा

---

१. अवयवफलभेदमिति—एकैकस्य फलभेदमित्यर्थः। समूहस्यैकैकमवयवो भवति। २. प्रकृतिलय इति पौराणिकैरुच्यत इति—यथाहुस्ते "दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः। बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः। पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यत" इति। अत्राव्यक्तं प्रकृतिस्तच्चिन्तकास्तत्रैव लीनाः सन्तः पूर्णं शतसहस्रं मन्वन्तराणि तिष्ठन्ति। इत्येष तेषां प्रकृतिलयो वायुपुराणोक्तः। इमे च श्लोका भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानामिति योगसूत्रे भाष्यादावुद्धृता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असम्भूति की उपासना का नहीं है, किन्तु उसकी अपेक्षा विलक्षण है।

इस संसार में आये हुए मानव अज्ञान दशा में एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, इसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। संसार में अन्य की अपेक्षा रखने वाला व्यक्ति अन्य के प्रति यदि अपने कर्तव्य का उत्तरदायित्व निभाता हो, तो वह निश्चित ही मानव कहा जायगा, अन्यथा दानव की पंक्ति में उसे बैठना पड़ेगा।

यह संसार मायाविशिष्ट चेतन का ही नानात्व है और यदि इसे परमेश्वर का रूप मानकर इसकी सेवा की जाय, तो निश्चित ही कार्य ब्रह्म की उपासना हो जाने के कारण उसे अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी। अन्यथा उसे उक्त ऐश्वर्यादि से वंचित रहना पड़ेगा। इसे 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' इस तेरहवें मन्त्र से श्रुति स्वयं बतला रही है। वैसे ही अव्याकृत प्रकृति से विशिष्ट चेतन की उपासना करने वाले को अन्य ही फल बतलाया गया है, अर्थात् अव्याकृत की उपासना से प्रकृति में विलयरूप फल पौराणिकों ने भी कहा है, उसे असम्भूति की उपासना करने वाले प्राप्त कर लेते हैं। प्रकृति में विलय होना जड़ता की प्राप्ति है, क्योंकि प्रकृति जड़ है। उसमें विलीन होनेवाला व्यक्ति जाड्य धर्म से आक्रान्त हो जाता है। इस रहस्य को जानने वाला असम्भूति की उपासना कर चेतन से जड़ क्यों होने लगे और भला जड़ प्रकृति फल भी कैसे दे सकेगी? इसका उत्तर यह है कि यथा कर्म और उपासना का फल देवताओं के माध्यम से परमेश्वर ही देता है, वैसे ही प्रकृति की उपासना करने पर भी फल देने वाला तो परमेश्वर ही है, एवं प्रकृति में विलीन होने पर सुषुप्ति के जैसे दुःखों का अभाव हो जाने से सुषुप्ति के समान ही प्रकृति में विलय की आकांक्षा हो सकती है। अतएव कुछ दार्शनिकों ने दुःख के अत्यन्ताभाव को ही मोक्ष मान लिया है। सम्भूति एवं असम्भूति की पृथक्-पृथक् उपासना के फल का व्याख्यान मनीषी, तत्त्वदर्शी ऋषियों के मुख से हमने सुना है। दोनों के फल बतलाने का तात्पर्य यही है, कि यदि पृथक्-पृथक् अनुष्ठान का फल न कहे होते, तो समुच्चय अनुष्ठान से भी कैसे फल मिलेगा? एक तिल में तेल देने का सामर्थ्य है, इसलिये तिलसमूह से तेल निकलता है। सिकता के एक कण से तेल नहीं निकलता। अतः सिकता-समूह से भी तेल नहीं निकलता है। तदनुसार सम्भूति एवं असम्भूति की उपासना का भी फल होना ही चाहिये, अन्यथा समुच्चयानुष्ठान ही निष्फल हो जायेगा।

पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा का तात्पर्य समुच्चय विधान में ही है, न कि निन्दा में। वैसे ही एक के अनुष्ठान से फल और दूसरे के अनुष्ठान से फल न हो, तो दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव होने से समुच्चय नहीं बन सकता है।

यदि कार्य ब्रह्मरूप सम्पूर्ण प्राणियों के साथ मानवता एवं अपने उत्तरदायित्व का परित्याग कर केवल अव्याकृत प्रकृति विशिष्ट चेतन की उपासना में लग जाता है, तो उसे अवश्य प्रकृति में विलीन होने से कुछ काल के लिये सुषुप्ति के समान दुःखाभाव का अनुभवरूप फल होगा, किन्तु उस उपासना का फल निस्सीम नहीं है। अतः सुषुप्ति से जागने के समान प्रकृति विलय से उत्थान होने पर उसे अत्यधिक दुःख का अनुभव करना पड़ेगा, क्योंकि स्वकर्त्तव्य का परित्याग करने से अव्याकृत की उपासना काल में पाप का सञ्चय भी तो होता ही है, जिसके फलस्वरूप उसे पश्वादि योनियों में भी जाना पड़ेगा। अतएव 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इस वाक्य से अव्याकृत की उपासना करनेवाले को अन्धेरे में प्रवेश करना बतलाया गया है। वैसे ही अव्याकृत-विशिष्ट परमेश्वर (कारण ब्रह्म) की उपासना का परित्याग कर केवल इस प्रपञ्चरूप कार्य ब्रह्म में रत रहनेवाले को उसकी अपेक्षा भी घोरतम अन्धेरे में प्रविष्ट होना बतलाया गया है, क्योंकि समष्टि भावना का परित्याग कर देने से उत्तरोत्तर व्यष्टि भावना प्रबल हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

[जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) और कार्य ब्रह्म, इन दोनों को साथ-साथ (एक पुरुष से अनुष्ठेय) जानता है वह कार्य ब्रह्म की उपासना से (अनैश्वर्य, अधर्म कामादि दोष रूप) मृत्यु को पारकर असम्भूति के द्वारा (प्रकृतिलय रूप) अमरत्व को प्राप्त करता है ॥१४॥]

[1]यत एवमतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्त एवैक[2]पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह--संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँसह । विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति । तेन तदुपासनेना[3]नैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा [4]हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम् । तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्यासंभूत्याऽव्याकृतोपासनयाऽमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते । [5]संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः । [6]प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

पासनेऽपि परमेश्वर एव दास्यति । [7]ततो जडत्वात्प्रकृतेः फलदातृत्वानुपपत्तेरुपास्यत्वानुपपत्तिरित्यपि कुचोद्यमेव ॥१२॥ १३॥ १४॥

जाती है और अन्त में वह व्यक्ति अपने शरीर एवं विषय भोग को ही जीवन का सर्वस्व समझने लग जाता है, क्योंकि पर्वत से गिरे हुये पत्थर को अन्यत्र सहारा मिलना दुःशक्य है, वह तो समतल भूमि में आकर ही टिक सकता है । ऐसी भावनाओं का उत्कर्ष एवं अपकर्ष होता ही रहता है । इसलिये अव्याकृत की अपेक्षा कार्य ब्रह्म की उपासना करनेवाले को घोरतम अन्धेरे में जाना बतलाया गया है ।

यों तो कोई भी व्यक्ति कार्य जगत् का चिन्तन सर्वथा छोड़ नहीं सकता, क्योंकि शरीर का निर्वाह भी कार्य जगत् के चिन्तन बिना हो नहीं सकता, फिर अन्य बातों का होना तो दूर ही रह गया । अतः दोनों के समुचितरूप से चिन्तन के लिये एक-एक की पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा की गयी है एवं फल भी बतलाया है ॥१३॥

व्यक्ताव्यक्त समुच्चयोपासना का फल

व्याकृत तथा अव्याकृत उपासनाओं का भी फल है, इसलिये ही दोनों का समुच्चय बतलाना युक्ति युक्त है । यहाँ पर भी विद्या एवं अविद्या की सहसमुच्चयोपासना के समान एक ही पुरुष से

१. यत एवमत इति—यतः प्रत्येकं फलभेदः श्रूयते तस्मादित्यर्थः । २. एकपुरुषार्थत्वादिति—बहुकालमैश्वर्यसुखानुभवपूर्वकदुःखानुभवाभावरूपैकपुरुषार्थहेतुत्वादिति यावत् । नासौ समुच्चयानुष्ठानमन्तरेण सद्यः शक्यो लब्धुमिति भावः । ३. अनैश्वर्याद्येव मरणहेतुत्वादिह मृत्युत्वेन विवक्षितमित्याशयेन मृत्युपदं व्याचष्टे—अनैश्वर्यमित्यादिना । ४. कुतस्तेन तादृशमृत्युतरणं तत्राह—हिरण्यगर्भेत्यादि । यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति श्रुतेरणिमादिसम्पन्नो हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भावयतस्तादृशफलावाप्तेरौचित्यादिति भावः । ५. संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देश इति—अकारलोपश्छान्दस इति भावः । पूर्वमन्त्रेण साकमस्यमन्त्रस्य संहितापाठे तु एङःपदान्तादतीति पूर्वरूपत्वमपि शक्यमवगन्तुमिति ध्येयम् । ६. प्रकृतिलयश्रुत्यनुरोधादिति—अमृतत्वस्य प्रकृतेऽर्थान्तरत्वासंभवादसंभूत्युपासनमन्तरेण च प्रकृतिलयाख्यामृतावाप्त्यनुपपत्तेरिति भावः । ७. फलं चेत्याद्युक्तिनिवर्त्यं शङ्काभासं भासयति—तत इत्यादिना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

[आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि-समष्टि अहंकार-रूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! मुझ सत्य धर्मा जिज्ञासु को उस सत्यात्मा की उपलब्धि कराने के लिये तू उस आवरण को हटा ले ॥१५॥]

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं [1]शास्त्रलक्षणं [2]प्रकृतिलयान्तम्। एतावती [3]संसारगतिः।

विस्तरेणोक्तमर्थजातं संक्षिप्योपसंहरति—मानुषदैववित्तसाध्यमित्यादिना। शरीरपाटवं गोभूहिरण्यादिसाधनसंपत्तिश्च मानुषं वित्तम्। दैवं वित्तं देवताज्ञानमुत्तरग्रन्थस्य संबन्धाभिधित्सयाऽ-

म्बन्धित होने के कारण एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठान के लिये सहसमुच्चय का विधान करना ष्ट है। इसलिये श्रुति कहती है कि असम्भूति और विनाश इन दोनों को जो कोई एक साथ अष्ठेयनु मझता है, वह व्यक्ति विनाश अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य के अभावरूप त्यु कोपारकर असम्भूति (कारण ब्रह्म)की उपासना से प्रकृति में विलयरूप अमृत को प्राप्त करता है।

तेरहवें मन्त्र के अन्त में 'तद्विचचक्षिरे' पद आया है एवं चौदहवे मन्त्र के प्रारंभ में सम्भूति पद या है जो असम्भूति अर्थ में प्रयोग किया गया है। संहिता-पाठ में असम्भति के अकार का 'एङः शान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप हो जाने के कारण अकार दीखता नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो म्भूति और विनाश का समान अर्थ हो जाता है, क्योंकि विनाश धर्म हो जिसका, ऐसे कार्य को ही नाश शब्द से कहा गया है और वही सम्भूति पद का भी अर्थ है। अतः संहिता पाठ का अनुसरण कर सम्भूति छेद करना ही उचित है, या अकार का लोप मान लेना चाहिये।

इस मंत्र में ऐश्वर्य का अभाव, अधर्म एवं कमादि सम्पूर्ण मानसिक्र दोषों को मृत्युपद से कहा गया। अज्ञान दशा में आणिमादि ऐश्वर्य के अभाव को मृत्यु एवं अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति को जीव अमृत नता है शास्त्रदृष्टि से अधर्म नरकादि दुःख-प्राति के साधन होने के कारण, वह भी मृत्युरूप ही है तथा मक्रोधादि शरीर एवं अध्यात्मबल के नाशक होनेके कारण साक्षात् मृत्युरूप है ही। इन सभी को विनाश-वाच्य हिरण्यगर्भ की उपासना से पार किया जा सकता है, क्योंकि हिरण्यगर्भ उपासना का फल ऐश्वर्य प्राप्ति बतलाई गयी है। कार्य जगत् को हिरण्यगर्भ का शरीर मानकर सदा ईश्वर भावना से न्तन किया जाय, तो इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोकों के ऐश्वर्य उसके लिये सुलभ जाते हैं। इनके उपानओ में अन्तर हो सकता है, किन्तु ये सब कार्य-ब्रह्म की ही उपासना मानी येंगी। जिनका फल सद्यः तथा शीघ्र मिलता है। ऐसा स्मृतियों में 'यो यो याँ यां ननु भक्तः र्याचितुमिच्छिति' इत्यादि श्लोक से स्पष्ट रूप से कहा गया है। वस्तुतः वहाँ पर फल देनेवाला मेश्वर ही है।

योग—दर्शन में अनेक प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति भी कार्यब्रह्म की उपासना का ही फल लाया गया है। जिन फलों को देख कर योग में श्रद्धा होती है और वह साधक तत्परता से उसके

शास्त्रलक्षणमिति—शास्त्रेण लक्ष्यमाणं ज्ञाप्यमानमिति यावत्। २. प्रकृतिलयान्तमिति—पितृलोकादिप्रकृतिल-यावधीत्यर्थः। प्रकृतिलयपर्यन्तमिति यावत्। ३. संसारगतिरिति—संसारान्तःपात्येव फलमित्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम् । [2]एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने [3]प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुप[4]युक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत[5]ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तं तत्र [6]निषेकादिश्मशा-

र्थविशेषमनुवदति—तत्र निषेकादीत्यादिना । तदुक्तमिति तं प्रत्युक्तं मन्त्रेण विद्यां चेत्यादिनाऽऽपेक्षिकामृतत्वं फलमित्युक्तमस्माभिरिति ॥१५॥

अभ्यास में लग जाती है। अतः विनाश की उपासना से ऐश्वर्यादि के अभाव रूप मृत्यु को पार कर के अव्याकृत की उपासना से प्रकृति में विलयरूप अमृत को प्राप्त कर लेती है।

यद्यपि प्रकृति में विलय होना अमरत्व नहीं है, क्योंकि उपासना का वेग शान्त होने पर पुनः जन्म-मरणादि दुःख को प्राप्त करता ही है, फिर भी जैसे देवलोक की प्राप्ति को चिरस्थायी होने के कारण अमृत कहा गया है, वैसे ही चिरकाल तक संसारिक दुःखाभाव का अनुभव होने से प्रकृतिलय को भी गौण दृष्टि से अमृत कहा गया है ॥१४॥

उपासक की मार्ग याचना

नवम मंत्र से लेकर चतुर्दश मंत्र पर्यन्त वर्णन किये गये कर्म एवं देवोपासना के समुच्चय तथा कार्यब्रह्म एवं कारणब्रह्म के समुच्चय की उपासना से उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचा हुआ उपासक मोक्षाभिलाषा से आवरण भङ्ग के लिये परमात्मा के सामने अगले दो मंत्र से प्रार्थना करता है।

कार्य-कारणरूप आदित्य मण्डलस्थ पुरुष ही पूर्वोक्त दोनों समुच्चयों से प्राप्त करने योग्य है। अत एव प्रार्थना करता है कि 'हे पूषन्! आप सम्पूर्ण संसार का पोषक होने के कारण कार्य-कारण रूप से पूषादेव हो। आप सुवर्ण विकार के समान ज्योतिर्मण्डलरूप हिरण्यपात्र से बाधरहित सत्य के आच्छादित मुख को आवरण रहित कर दो, क्योंकि सत्यस्वरूप आपका मैं दर्शन करना चाहता हूँ'।

अब तक जिसे विस्तारपूर्वक बतलाया गया, उसी अर्थ का संक्षेप-रूप से भाष्यकार उपसंहार कर रहे हैं—स्वस्थ शरीर, गौ, भूमि, सुवर्णादि साधन सम्पत्ति को मानुषवित्त, एवं देवताज्ञान को दैववित्त कहते हैं। इनसे सिद्ध होनेवाला फल इस लोक से लेकर प्रकृति विलय होने तक बतलाया गया है। इस विषय में शास्त्र प्रमाण है। ये सब संसार गतियाँ हैं, अर्थात् इन्हें प्राप्त कर लेने के बाद पुनः संसार में आना पड़ता है, किन्तु इसके बाद होनेवाला जो फल है, वह तो लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा इत्यादि सम्पूर्ण एषणाओं का संन्यास कर ज्ञान में निष्ठा प्राप्तिरूप सर्वात्मभाव ही बतलाया गया है, जिसे 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः' इत्यादि मंत्र से पहले ही बतलाया गया है। सर्वात्मभाव

१. अतः परम्=अत ऊर्ध्वं संसारबाह्यं नित्यमिति यावत्। २. एवमिति—यथोक्तफलभेदपुरस्कारेणेति यावत्। ३. प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमिति—बृहदारण्यकस्यादितोऽध्यायद्वयात्मकं प्रवर्ग्याख्यकर्मान्तकर्मसमूहप्रतिपादकं ब्राह्मणमित्यर्थः। ४. उपयुक्तम्—अर्थवदित्यर्थः। ५. अत ऊर्ध्वमिति—प्रवर्ग्यान्तब्राह्मणानन्तरं तृतीयाध्यायमारभ्य प्रवृत्तमिति यावत्। ६. निषेकादिश्मशानान्तमिति—गर्भाधानादारभ्यान्त्येष्टिपर्यन्तमित्यर्थः। ७. आपेक्षिकममृतत्वमिति—उपास्यदेवतात्मभावावाप्तिरूपमित्यर्थः। ननु साक्षान्निष्प्रपञ्चब्रह्मावाप्तिरूपं निरपेक्षं निरतिशयममृतत्वम्। एतेन निष्काम समुच्चयानुष्ठानस्य निरतिशयामृतत्वहेतुत्वेऽपि देवतात्मप्राप्ति द्वारकत्वादापेक्षिकत्वोक्तिरक्षतेति ध्येयम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नान्तं कर्म कुर्वञ्जिजीविषेद्यो विद्यया सहा[1]परब्रह्मविषयया तदुक्तं विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इति । तत्र केन मार्गेणा-मृतत्वमश्नुत [2]इत्युच्यते—[3]तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष [4]एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीनो [5]यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते [6]सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते हिरण्मयेन पात्रेण । हिरण्मयमिव हिरण्मयं

की प्राप्ति सद्यः तथा क्रमशः बतलायी गयी है । उनमें से तत्त्वज्ञानियों को तो तत्त्व-क्षण में ही सर्वात्म-भाव की प्राप्ति श्रुति में बतलायी गयी है, किन्तु पूर्वोक्त दोनों प्रकार के समुच्चय की उपासना से विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष को अर्चिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोक में जाने पर ब्रह्मा के प्रलय काल में वहीं तत्त्वज्ञान सर्वात्मभाव को प्राप्ति होती है । तदर्थं मार्ग-याचना का प्रसङ्ग प्रारम्भ कर रहे हैं ।

वैसे ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति भेद से दो प्रकार का वेदार्थ भी यहाँ पर बतलाया गया है । उनमें 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' ऐसे विधिरूप और 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः,' ऐसे निषेधरूप से प्रवृत्ति-लक्षण वेदार्थ के दो भेद किये हैं । इन सभी विधि-निषेधरूप वेदार्थ के प्रकाशन में प्रवर्ग्य उपयुक्त हैं । इसके आगे निवृत्तिरूप वेदार्थ के बतलाने में बृहदारण्यक का उपयोग किया गया है । उनमें भी गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त सम्पूर्ण कर्म को करता हुआ जो जीना चाहता है, वह अपर ब्रह्मविषयक विद्या अर्थात् उपासना के साथ कर्मानुष्ठान करें । इसी की 'विद्याञ्चाविद्याञ्च' इत्यादि मंत्र से कहा गया है । इन दोनों के समुच्चयानुष्ठान से अमृतत्व की प्राप्ति बतलायी गयी है । पर किस मार्ग से जाने पर वस्तुतः अमृतत्व प्राप्त करता है, इस प्रश्न का उत्तर अन्यत्र तथा यहाँ भी दिया गया गया है । यथा 'वह जो सत्य है वही यह आदित्य है ।' जो इस आदित्यमण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण नेत्र है, दोनों ही सत्यब्रह्म हैं । उसकी उपासना करनेवाला और जो शास्त्रविहित कर्म करनेवाला है, वह मृत्यु के समय आदित्यमण्डल आत्मा से आत्मा की प्राप्ति के द्वार की 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्य-स्यापिहितं मुखम्' इत्यादि से याचना करता है ।

पात्र उसे कहते हैं, जिसमें अपनी आवश्यक वस्तु को रखा जाय अथवा जिससे तृप्तिकारक

---

१. अपरब्रह्म—हिरण्यगर्भाख्यं कार्यब्रह्म । २. इत्युच्यत इति—इत्यपेक्षायां येनाश्नुते स मार्गो हिरण्मयेनेत्या-दिनोच्यत इत्यर्थः । ३. ननु दक्षिणस्य पथः केवलकर्मिगन्तव्यतया समुच्चयकारिणामुत्तर एव पन्था इति तदर्थं स्वोपास्यदेवता हिरण्यगर्भ एवार्थनीयः । किमिति सूर्यो याच्यत इत्याशङ्कां शमयितुं बृहदारण्यकश्रुतिमाश्रित्याह—तद्यदित्यादि । तद्यत्सत्यं ब्रह्म पूर्वमुपास्यमुक्तं तदसौ स प्रसिद्ध आदित्यः स च न मण्डलमात्रं किन्तु तदभिमानी-पुरुषो दक्षिणाक्षिपुरुषाभिन्न इत्यर्थः । दक्षिणेऽक्षन्पुरुष इत्यनन्तरं तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषो-ऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति इति श्रुतिशेषः । अयं चाक्षुषः प्राणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्मण्डलं प्रकाशयन्नमुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठित इत्यर्थः । ४. अत्र च श्रुतौ चाक्षुषपुरुषाभिन्नो हिरण्यगर्भ एव मण्डलाभिमानितयाऽवस्थितःसन्नुपास्यतयाऽवगत इति स एव मार्गार्थमभ्यर्थनीय इत्याशयेनाह—एतदुभयं सत्य ब्रह्मोपासीन इति । समुच्चयं तस्यैवोपास्यत्वादीति भावः । ५. यथोक्तकर्मकृच्चेति—वेदे यथोक्तानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि तानि तथैव करोतीति यथोक्तकर्मकृदित्यर्थः । उपास्ति-समुच्चयार्थश्चकारः । समुच्चयकारीति यावत् । ६. सत्यात्मानमित्यादि—आत्मनः स्वस्य सत्यात्मप्राप्तिद्वारं तदवाप्तिमार्गं सत्यात्मानं स्वोपास्यं याचत इत्यन्वयः । "अकथितं चेत्यत्र दुह्याजित्यादिनियमेन याचतेर्द्विकर्म-कत्वम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्योतिर्मयमित्येतत् । [1]तेन पात्रेणेवापिधानभूतेन सत्यस्यैवाऽऽदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितमाच्छादितं मुखं [2]द्वारं [3]तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात्[4]सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्य[5]मथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

रमादि का पान किया जाय । समय-समय पर ऐसा पात्र किसी वस्तु को ढाँकने में भी काम आता है। ऐसे पात्र मिट्टी, लोहे, ताम्बे, पीतल, चांदी आदि अनेक धातुओं के होते हैं, जो टूट जाते हैं, एवं प्रखर अग्नि से जलकर राख में भी मिल जाते हैं, किन्तु सुवर्ण एक ऐसा धातु है, जो प्रकृष्ट अग्निसंयोग से भी जलता नहीं, बल्कि अग्निदाह से और अधिकाधिक चमक उठता है । ऐसे स्वर्ण-पात्र के समान जो पात्र है, उसी को 'हिरण्मयेन पात्रेण' शब्द कहा से गया है, वह अहंकार ही है । व्यष्टि तथा समष्टि भेद से अहंकार दो प्रकार का होता है । इसी अहंकार में प्राणियों के शुभाशुभ कर्म उनके संस्कार, वासना एवं कामनादि बैठे रहते हैं । तत्त्वज्ञान के बिना इन कामनाओं का आधारभूत जो यह अहंकार है, उसका कभी भी नाश नहीं होता । इसी अहंकार से स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों के द्वारा अपनी रुचि के अनुरूप शब्दादि विषयों का रस लेता रहता है । यह अहंकार अपने अधिष्ठान कूटस्थ आत्मा तथा व्यापक-ब्रह्म को ढाँकता रहता है । इसलिये पात्र के तीनों ही गुण इसमें विद्यमान होने एवं सुदृढ़ होने के कारण इस अहंकार को हिरण्मयपात्र शब्द से कहा गया है । अनादि काल से आजतक एवं तत्त्वज्ञान के अभाव में अनन्त काल तक भी यह अहंकार उस सत्य आत्मा को ढाँके बिना नहीं रह सकता।

आश्चर्य तो यह है कि जिस चेतन से इस व्यष्टि-समष्टिरूप अहंकार में सत्ता एवं स्फूर्ति आती है, उस अपने प्रकाशक चेतन को भी इसने ढाँक रखा है । स्वयं भी यह प्रकाशमय प्रतीत होता है, जो कि उसी अपने अधिष्ठानरूप चेतन आत्मा से इसने प्रकाश उधार ले रखा है। ऐसे उधार चमक-दमक से सज-धज कर लोक में अपनी ख्याति फैलाने के लिये साधारण पामर से लेकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ के हृदय में भी इसने अपना अधिकार कर रखा है । व्यष्टिरूप से यह अहंकार सर्वानुभव सिद्ध है और समष्टिरूपसे विद्यमान इस अहंकार को अनुमान एवं श्रुति से सिद्ध किया जा सकता है । यह अहंकार प्राणिमात्र में अनादिसिद्ध है, और कुछ शास्त्र के आधार पर पीछे से और भी आरोप कर लिया जाता है। सद्योजात शिशु में केवल अनादि सिद्ध मात्र अहंकार होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों वह समाज के सम्पर्क में आता है, त्यों त्यों उसका मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, संन्यासित्व एवं राष्ट्रीयता का अभिमान बढ़ता चला जाता है और वह अपने आपको चतुर, चालाक मानने लग जाता है, किन्तु वस्तुतः उस सत्य के ऊपर दोहरा परदा पड़ना माना जायेगा । कोई धीर, वीर, शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से इस हिरण्मय पात्र के सदृश सत्य के आवरक इस अहंकार को कुचलने में समर्थ हो पाता है । ऐसे हिरण्मय पात्र से आदित्यमण्डलस्थ सत्यब्रह्म का सुख अर्थात् प्राप्तिद्वार आच्छादित है । अतएव उस समष्टि-व्यष्टि अहंकार सत्य के आच्छादक को हटाने के लिए उसी सत्य-तत्त्व से साधक प्रार्थना करता है । चाहे उस अहंका

१. तेन पात्रेण=पात्रतुल्येन तेजोमण्डलेनेत्यर्थः । २. द्वारमिति=प्रप्तिमार्गमिति यावत् । ३. तत्=पात्रम्

४. उपासनाख्यस्य धर्मस्य तदुत्थापूर्वविशेषरूपस्य वा धर्मस्योपास्यदेवताऽधीनत्वादुपास्ये ब्रह्मणि धर्मत्वमारोप्याह—सत्यमित्यादि । सत्याख्यं ब्रह्मैव धर्मो यस्य ममेत्यर्थः । ५. धर्मविशेषणं वा सत्यशब्दस्तथा च सत्योधर्मोयस्

स्यैव विग्रह इत्याशयेनाह—अथवा यथाभूतस्येत्यादि ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के हटाने में स्वयं साधक असमर्थ हो, किन्तु उसकी प्रार्थना सुनकर वह सत्य स्वयं ही अपने ऊपर रहे हुए आवरण को सत्यतत्त्व के दर्शन के लिये हटा लेता है। शर्त केवल इस बात की है, कि वह सत्यधर्मा होवे। वह भी सत्य को उपासना से ही प्राप्त होता है। साधन के प्रारम्भ में उस सत्य आत्मा के प्रति साधक के मन में उतना आग्रह नहीं होता, जितना कि साधन की परिपाक अवस्था में होता है। यों तो कुछ न कुछ सत्य के प्रति आग्रह सब किसी के मन में है, किन्तु इतने मात्र से वह सत्याग्रही या सत्यधर्मा नहीं कहलायेगा। फल खाने वाले सभी को फलाहारी नहीं कहते किन्तु जो केवल फल ही खाता है अन्य वस्तु नहीं खाता, तो ऐसे व्यक्ति को लोक में फलाहारी कहते हैं, वैसे ही कदाचित् असत्य अनात्मा के प्रति आग्रह हो और कदाचित् सत्य आत्मा के प्रति भी आग्रह हो, तो वह इतने मात्र से सत्यात्मा नहीं कहा जा सकता, किन्तु असत्य अनात्मा के प्रति आग्रह का सर्वथा परित्याग कर केवल आत्मा का आग्रह हो, तो इसी कीमत से सत्याग्रही की प्रार्थना सुनकर वह सत्य तत्त्व उस सुदृढ़ हिरण्मय पात्र के सदृश समष्टि-व्यष्टि अहंकार को पृथक् कर देता है, जिससे उस सत्य तत्त्व की उपलब्धि साधक को हो जाती है। इसी बात को पञ्चदश मन्त्र में बतलाया गया है। अन्यत्र भी 'असतो मा सद् गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' इत्यादि मन्त्र से इसी बात को बतलाया गया है।

इस मन्त्र में परमात्मा को पूषा शब्द से सम्बोधित किया गया है। 'पुष्यतीति पोष्टा, पूषा' अर्थात् पुष्टि अर्थवाले पुष् धातु से पूषा शब्दनिष्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण विश्व में सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान कर परमात्मा ही सबका पोषक है। शरीर का पोषण अन्न से होता है किन्तु ज्ञान का पोषण शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से होता है। परमेश्वर सब का गुरु है। 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इस योगसूत्र से भी परमेश्वर ही सबका गुरु है एवं उपास्य है। अतः पूषा शब्द से सम्बोधित कर सत्यधर्मा जिज्ञासु हिरण्मय पात्र रूप अहंकार-सत्य के आवरक को हटाने के लिये परमेश्वर से प्रार्थना कर रहा है, क्योंकि आवरण के हटने पर ही सत्यधर्मा अधिकारी सत्य-तत्त्वरूप परमेश्वर का दर्शन कर सकेगा।

मन्त्र में 'दृष्टये' शब्द का अर्थ साक्षात्कार होता है। वह परब्रह्म सदा अपरोक्ष रूप है, किन्तु अनादि अविद्याजन्य अनात्माभिमान के कारण ढंका हुआ-सा प्रतीत होता है। आवरण हटते ही उसका साक्षात्कार हो जाता है।

वास्तव में पूछा जाय तो, वह अहंकार रूप आवरण सत्य तत्त्व को नहीं ढाँकता, किन्तु साधक की दृष्टि को ढाँकता है। बादल सूर्य को नहीं अपितु सूर्य को देखनेवाले पुरुष की दृष्टि को ढाँकता है। फिर भी अविवेकी पुरुष, बादल से सूर्य ढंक गया, ऐसा कहता है। इसी को 'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा' इत्यादि वाक्य से आचार्यों ने बतलाया है। मानस में भी तुलसीदास जी ने कहा है कि 'यथा गगनघन पटल निहारी। झंपेऊ भानु कहहिं कुविचारी' इत्यादि। अतः यहाँ पर भी अनादि अविद्याजन्य अनात्माभिमान उस साधक की दृष्टि को ही ढाँक रहा है, सत्य परमात्मा को नहीं। सत्य एक सार्वभौम धर्म है, वह किसी सम्प्रदाय विशेष, आचार्यविशेष, ग्रन्थविशेष या देशविशेष से परिछिन्न नहीं है। जो तीनों काल में एकरस, अपरिवर्तनशील है, जिसके बिना नास्तिकों का भी अस्तित्व नहीं, ऐसे सत्यधर्म के अवलम्बन करने वाले साधक ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

सत्यधर्म अधिकारी एवं परमात्मा का भी विशेषज्ञ है। जो धर्म-सत्यरूप ही हो, जिसका धर्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्यव्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

[हे जगत् पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करने वाले ! हे यम ! हे (प्राण और रस का पोषण करने वाले) सूर्य ! हे प्रजापति के लाडले ! तू अपने किरणों को हटा ले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ, यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ ॥१६॥]

[1]पूषन्निति । हे पूषन् । [2]जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः । हे एकर्षे । तथा [3]सर्वस्य संयमनाद्यमः । हे यम । [4]तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च

सत्य ही हो तथा जो सत्य का धारण करनेवाला हो, इन सभी को सत्यधर्मा कहते हैं । अतः मुझ सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले की सत्यधर्मा परमेश्वर ? अपने साक्षात्कार के लिये हिरण्मय पात्र सत्य के आवरण को हटा लो, यही इस मन्त्र का तात्पर्य है ॥१५॥

पिछले मन्त्र में हिरण्मय पात्र के सदृश सत्य के द्वार का आवरक समष्टि अहंकार को हटाने के लिये परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है। अब प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा के अनेक सम्बोधनों से सम्बोधित कर आवरण हटाने के प्रकार को तथा सत्य की वास्तविकता को बतलाते हुये साधक स्पष्ट कह रहा है कि—मैं आपके उस कल्याणतम रूप को देखता हूँ, क्योंकि वह समष्टि आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष तथा व्यष्टि शरीरस्थ पुरुष एक ही तो है। इसीलिये कहता है कि—हे पूषन ! हे एकाकी गमन करने वाले ! हे संसार का नियमन करने वाले यम ! हे प्राण और इसका शोषण करने वाले सूर्य ! हे प्रजापति नन्दन! तू अपनी किरणों को हटा ले, अर्थात् अपने तेज को समेट ले। तेरा जो अतिकल्याणतम रूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यादि मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ।

पूषन् शब्द का अर्थ पहले कर आये हैं। जगत् का पोषक होने से सूर्य को भी पूषा कहते हैं क्योंकि सूर्य भी जड़ एवं चेतन सभी संसार के पदार्थों का प्रकाशक है। वैसे ही एकाकी जो चलता है उसे एकर्षी कहते हैं। यहाँपर 'हे एकर्षी!' इस सम्बोधन से परमात्मा में एकत्व (अद्वितीयत्व) बतलाया गया है। सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य तत्त्व को ही एकर्षी शब्द से कहा जाता है। जो परमात्मा ही हो सकता है, क्योंकि सत्य के सजातीय सत्य नहीं। विजातीय माया एवं उसके कार्य का अस्तित्व नहीं एवं निराकार होने से उस सत्य में अवयव नहीं, ऐसी स्थिति में उसमें सजातीय, विजातीय, स्वागत भेद कैसे हो सकते हैं ? ऋष्यति—गच्छतीति ऋषिः, अर्थात् ज्ञानस्वरूप । ..

१. पूषन्निति—आत्मार्थेऽनुकूलयितुं भगवन्तं सत्यात्मानं बहुमानं सम्बोधयन्नाहेत्यादिः । २. जगतः पोषणादिति—"अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा" इति स्मृतेरिति भाव
३. सर्वस्य संयमनादिति—अहोरात्रादिकालविभागेन नियतस्य लोकानां सर्वव्यवहारस्य सूर्यगत्यधीनत्वादिति भाव
४. स्वीकरोतीति सूर्य इति व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—तथा रश्मीनामित्यादि । रश्मयो मरीचयः प्राणाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि रसाश्च जलप्रमुखानि द्रवद्रव्याणि । तत्र रश्मिरसस्वीकरणं व्यक्तमेव, प्राणानां स्वीकरणन्तु प्रश्नोपनिषदि वक्ष्यते । तथा च तत्र श्रुतिः "अथाऽऽदित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरादिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते" इति । सन्निधत्ते—सन्निवेशयति । स्वकिरणैर्व्याप्नोतीति यावत् । तदेव तेषां स्वीकरणमिति ध्येयम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वीकरणात्सूर्यः । हे सूर्य । [1]प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः । हे प्राजापत्य । [2]व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान् । समूह, एकी कुरु, उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः । [3]यत्ते तव रूपं

प्रकाशक होने से विश्व का ज्ञानदाता एवं हिरण्यगर्भ समष्टि अन्तःकरण का प्रकाशक होने से ज्ञानी कहा जाता है। सम्पूर्ण संसार का नियमन करता है, इसलिये परमेश्वर को यम भी कहते हैं तथा संसार का जनक होने से उसे सूर्य भी कहा जाता है।

'सूरिभिर्ज्ञानिभिर्गम्यते इति सूर्यः' अर्थात् जो ज्ञानियों से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे परमेश्वर को सूर्य कहा जाता है। प्रजापति के लाड़ले को प्राजापत्य कहते हैं, क्योंकि परमेश्वर ने प्रजापति को भी सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान प्रदान किया है। इन सभी शब्दों से परमात्मा को सम्बोधित कर अब साधक कार्य का निर्देश करता है। हे प्रभो ! आप अपनी रश्मियों को सम्यक् प्रकार से एकत्रित कर लीजिये, जिससे कि आपका वह तेजोमय अत्यन्त शोभनरूप आपकी कृपा से मैं देख सकूँ।

इस मंत्र में रश्मियों को एकत्रित करने के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गयी है, जिसे पहले ही हिरण्मय पात्र शब्द से कहा गया था, उसी को यहाँ पर रश्मि शब्द से कहते हैं। अविद्या और अहंकार जिस प्रकार चेतन के आवरक हैं, वैसे ही चिदाभास युक्त अन्तःकरण की अहंता एवं ममतारूप वृत्तियाँ भी परमात्मतत्त्व के दर्शन में अवरोधक हैं। सूर्य के यथार्थ रूप के देखने में जैसे बादल समूह प्रतिबन्धक है, वैसे ही सूर्य की रश्मियाँ भी। बल्कि बादल तो केवल सूर्य के अदर्शन का कारण है, परन्तु रश्मियाँ तो देखने वाले पुरुष की दृष्टि को भी नष्ट कर देनेवाली भी हो जाती हैं। सूर्य के सौंदर्य, लावण्य एवं क्षियता का वस्तुतः दर्शन तो प्रातःकाल ही होता है। ठीक वैसे ही चिदाभास युक्त माया एवं अविद्या से उत्पन्न संसार तथा उसमें अहंता-ममताकार वृत्तियाँ रश्मि के समान लम्बायमान हैं, जिनसे द्रष्टा की दृष्टि का अवरोध ही नहीं होता, अपितु नाश होने का भी भय रहता है। इन किरणों को हटाने में वह परमात्म देव ही समर्थ है, साधक नहीं। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' एवं 'ये गुणसाधन ते नहीं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई' इन वाक्यों से भी यही बात बतलायी गयी है। परमात्मा सच्चिदानन्द है और निःसंदेह सम्पूर्ण जगत् में सत्ता स्फूर्ति एवं आनन्द रूपता उस परमेश्र की ही है, किन्तु विषय सङ्ग से प्रतीत होनेवाला आनन्द जीव की दृष्टि का सूर्य की रश्मियों के समान ही नाशक है। अतः परमात्मा विषयों में रही हुई अपनी आनन्दरूपी रश्मियों को खींचकर विषय के प्रति साधक के मन में अनास्था पैदा करा दें, तभी परमात्मा के कल्याणमय शोभनतमरूप का दर्शन जीव कर सकता है, अन्यथा नहीं। परमात्मा का वह रूप केवल आनन्दमय ही नहीं है, किन्तु 'तेजः' अर्थात् ज्ञानस्वरूप भी है। क्योंकि उससे भिन्न माया एवं उसके कार्य सभी जड़ होने से अन्धकारमय हैं। यदि वह परमात्मा चेतनस्वरूप न रहे तो संसार में किसी भी पदार्थ का दर्शन दुर्लभ हो जायेगा। इसलिये उसे तेजोरूप तथा कल्याणतम कहा गया है। लोक में अनुकूल वस्तु को कल्याण प्रद कहते हैं किन्तु किसी भी पदार्थ में अनुकूलता स्थिर नहीं है। अतः संसार का कोई भी पदार्थ जीव के लिये कल्याणतम नहीं हो सकता। तद्विपरीत अन्तरात्मा परमात्मा किसी के लिये कभी भी प्रतिकूल नहीं होता। अत एव वह कल्याणतम स्वरूप है। कौषीतकी उपनिषद् में इन्द्र के अनुरोध से प्रतर्दन ने

१. प्रजापतेरपत्यमिति—कस्मात् प्रजाकामो वै प्रजापतिस्तपस्तप्त्वा मिथुनमुदपादयद्रयिं च प्राणं च, आदित्यो ह वै प्राण इत्यादि श्रुतेः। २. व्यूह विगमयेति—ऊहवितर्के इत्यात्मनेपदिनोऽपि धातोरुपसर्गादस्यव्यूह्योर्वेति वाच्यमित्यात्मनेपदस्य विकल्पनात्पाक्षिकं परस्मैपदम्। उपसर्गवशाच्चार्थान्तरेवृत्तिरिति भावः। समूहेत्यत्राप्येवमेव।
३. प्रार्थितयोर्व्यूहनसमूहनयोः प्रयोजनं दर्शयति—यत्त इत्यादिना।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कल्याणतममत्यन्तशोभनं तत्ते [1]तवाऽऽत्मनः प्रसादात्प[2]श्यामि । [3]किंचाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो[4] व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि ॥१६॥

व्याहृत्यवयव इति । [5]तस्य भूरिति शिरः भुव इति बाहुः सुवरिति [6]प्रतिष्ठा पादावित्यर्थः ॥१६॥१७॥

यही तो माँगा था कि 'स उवाच प्रतर्दनः त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' (३।३।१) इत्यादि । अतः प्राणी के लिये कल्याणतम पदार्थ परमेश्वर ही है, उसी के साक्षात्कार से अनर्थ संसार की निवृत्ति हो सकती है ।

यहाँ एक प्रश्न होता है, कि ऐसी दशा में साधक यदि परमात्मा को देखता है, तो किस रूप में ? इसका उत्तर श्रुति स्वयं दे रही है, कि जो वह आदित्यमण्डलस्थ 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि व्याहृतरूप अवयव वाला है, वह मैं हूँ और जो यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अज्ञान का साक्षी इस शरीर में दीखता है, वह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष ही तो है, क्योंकि संपूर्ण संसार में अथवा संसाररूप पुर में पूर्णरूप से व्याप्त होने के कारण तथा शयन करने के कारण उसे पुरुष कहते हैं । आदित्यमण्डलस्थ एवं शरीरस्थ पुरुषको एक बतलाकर श्रुति साधक के द्वारा यह भी सूचित करा रही है, कि यहाँ पर आवरण हटाने एवं रश्मिसमूह को पृथक् करने और कल्याणतमरूप दर्शन के लिये प्रार्थना जो साधक कर रहा है, वह सब इसे परमात्मा से अभिन्न होने के कारण अधिकारतः प्राप्त है । भृत्य के समान मैं आपसे याचना नहीं करता, किन्तु स्वभावतः अपने कल्याणतमरूप आपको मैं अभिन्न भाव से देखता हूँ, न कि देखूँगा ।

इस मंत्र में 'असौ-असौ' ऐसे दो बार कहा गया है, उसका तात्पर्य द्वित्व व्याप्ति अर्थ में है अर्थात् मैं केवल आदित्य मण्डलस्थ पुरुष ही नहीं हूँ, परन्तु जड-चेतन, चींटी से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी में विद्यमान परमात्मा मेरा स्वरूप है । मैं उससे भिन्न नहीं हूँ । भेदवादियों ने मुझे परमात्मा से भिन्न कहकर भेद का संस्कार सुदृढ़ कर दिया था, वह आज अनात्मा अहंकाररूप आवरण के हट जाने से तथा अहंता-ममतारूप किरणों के दूर हो जाने से मैं अभिन्नरूप से उस परमात्मा का साक्षात्कार कर रहा हूँ ॥१६॥

मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना

समुच्चय-अनुष्ठान करनेवाले को 'हिरण्मयेन पात्रेण' यहाँ से लेकर मार्ग याचना के सभी अंगो का प्रतिदिन अनेक बार स्मरणचिन्तन करना चाहिये, जिससे अन्तकाल में आदित्यरूप आत्मा

१. तवाऽऽत्मनः=भवतः । २. पश्यामि—पश्यानीत्यर्थः । ३. अहंग्रहोपासकेनान्तकालेऽपि तथैव वाङ्मनसे व्यापारयितव्ये इति—सूचयन्नाह—किं चाहमित्यादि । अनेन च भेदोपासनं भृत्यवद्याचनं च न देवताप्रसादकरं वेदाऽभिप्रेतमिति ध्वन्यते । ४. द्वितीयस्यासौशब्दस्यार्थमाह—व्याहृत्यवयव इति । ५. मण्डलपुरुषस्य व्याहृत्यवयववत्वं—श्रुति चोदितमेवेति विवक्षन्नपेक्षितान्येव श्रुत्यक्षराणि निक्षिपति—तस्येत्यादिना । तत्रैवं समग्रा बृहदारण्यकश्रुतिस्तथाहि—य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एक१७शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे सुवरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे ऐते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेदेति । अत्र देवतामुपनयतीत्युपनिषद्रहस्यं नामाभिधानमनेनाभिधीयमानमेतल्लोकवदभिमुखीभवतीति वृत्तिः । ६. अत्र प्रतिष्ठापदं व्याकरोति—प्रतिष्ठा पादावित्यर्थं इति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥१७॥

[अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक वायु, आधिदैविक वायुरूप) सूत्रात्मा को प्राप्त हो, और यह शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे संकल्प विकल्पात्मक मन ! अब तू मेरे स्मरणीय का स्मरण कर, मेरे किये हुए का स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय उपस्थित हो गया है) ॥१७॥]

वायुरिति । अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः । [1]लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम् । [2]मार्गयाचनसामर्थ्यात् । [3]अथेदं शरीरमग्नौ हुतं [4]भस्मान्तं

का ध्यान करनेवाले का प्राणवायु अध्यात्म-परिच्छेद का परित्याग कर अधिदेव समष्टि प्राण में मिल जावें।

यहाँ पर प्राणवायु से उपलक्षित लिङ्ग शरीर—सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ के सूक्ष्म शरीर से एकीभूत होकर अमृतत्व को प्राप्त होवें एवं स्थूल शरीर भस्मीभूत होकर पृथ्वी में मिल जावें, क्योंकि स्थूल शरीर की अन्तिम गति यही है।

हे संकल्पात्मक प्रधान पुरुष ! तुम परमात्मा का स्मरण करो, तुम अपने द्वारा किये हुये कर्म एवं उपासना का बार-बार स्मरण करो।

इस मन्त्र में 'वायुरनिलममृतम्' इस वाक्य में क्रिया का पाठ नहीं है फिर भी उसका अध्याहार कर लेना चाहिये, अर्थात् उपासना तथा कर्म से संस्कृत यह लिंग शरीर अध्यात्म-परिच्छेद का परित्याग कर सूत्रात्मारूप अमृतवायु को प्राप्त करें, क्योंकि मार्ग-याचना का प्रकरण चल रहा है। इस स्थूल शरीर की अग्नि में आहुति कर देने पर भस्मीभूत हो जावें, यहाँ भी क्रिया का अध्याहार करके ही ऐसा अर्थ करना चाहिये।

ओम् यह परमेश्वर का नाम है, क्योंकि 'ओम् इति ब्रह्मनाम' 'ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति-स्मृति में परमात्मा का ओम् नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसकी आलम्बन उपासना तथा प्रतीक उपासना इत्यादि भेद से बहुविध उपासनाएं बतलायी गयी हैं। यहाँ पर प्रतीक रूप से उस अग्निसंज्ञक परमात्मा को ओम् पद से श्रुति बतला रही है, क्योंकि ओम् उसका प्रतीक है। सम्पूर्ण विश्व संकल्प से उत्पन्न हुआ है। यागादि क्रिया भी संकल्प के ऊपर आधारित हैं। इसलिये यज्ञकर्ता एवं महापुरुष परमात्मा दोनों को क्रतु शब्द से कहा गया है। 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' इस गीता वाक्य के अनुसार अन्तकालीन भावना के अनुरूप ही गति होती है। अतः स्मरणीय पदार्थ का स्मरण करना चाहिये, क्योंकि मृत्यु के समय सद्भावना अत्यन्त आवश्यक है। अतः मैंने बाल्यकाल से जो कुछ भी सत्कर्म किया है, उसे स्मरण कर 'स्मर-स्मर' पौनः पुन्यम् उच्चारण आदरार्थ है ॥१७॥

---

१. वायुरनिलमित्येतदुपलक्षणीकृत्य निष्कर्षमाह—लिङ्गं चेत्यादिना । २. मार्गयाचनसामर्थ्यादिति—न ह्युत्क्रमणे विवक्षिते मार्गयाचनं घटत इति भावः । ३. इदं शरीरं—स्थूलमित्यर्थः । ४. भस्मान्तमिति—भस्म अन्ते= अन्तिमपरिणामो यस्य तत् । दग्धं भवत्विति यावत् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूयात् । [1]ओमिति यथोपासनमोंप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते । हे [2]क्रतो संकल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मरैतावन्तं कालं भावितं कृत [3]मग्ने स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर । क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमा[4]दरार्थम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मृत्यु के समय उत्तमगति प्राप्ति के लिये जीवात्मा को क्या स्मरण करना चाहिये, यह बतलाया गया है। अब उसकी रीति बतलाते हैं,—एवं अब तक उपास्य देव की प्रार्थना कर रहे थे, अब कर्म के साधनभूत देवता की प्रार्थना करते हैं।

हे अग्निदेव ! आप हमारे सम्पूर्ण ज्ञान तथा कर्मों के जानने वाले हो। अतः हमें अभीष्ट फल प्राप्ति के लिये सुन्दर मार्ग से ले चलो। कुटिल एवं पापमय कर्मों को हम उपासकों से पृथक् कर डालो। इस समय हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं।

अष्टादश मन्त्र से पुनः मार्ग की याचना करता है कि हमें सुन्दर मार्ग से ले चलो। यहाँ पर मार्ग में 'सु' विशेषण दक्षिणायन की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि दक्षिण मार्ग से गये हुए को पुनः संसार में आना पड़ता है। अतः वह मार्ग तो गमनागमनरूप है। ऐसे मार्ग से जाते-आते मैं अत्यन्त दुःखी हो गया हूँ। अतः मैं आप से यही चाहता हूँ कि बार-बार गमनागमन से रहित मार्ग द्वारा मुझे अपने कर्म एवं उपासना के फल भोग के लिये ले चलो। हम जैसे कर्म उपासना रूप सत्कर्म से विशिष्ट हैं, उसे हे देव ! आप जानते ही हैं। यदि हमारा कुटिल एवं वञ्चनात्मक कुछ पाप हो, तो उसे हम से पृथक् कर डालो, तभी हम शुद्ध होकर अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकेंगे। एतदर्थ इस समय तो हम आपकी कुछ भी सेवा नहीं कर सकते। इसीलिये केवल बार-बार आपको नमस्कार वचन द्वारा ही कर रहे हैं, क्योंकि अन्य कोई सेवा मरणासन्न हम मुमुक्षुओं से होना सम्भव नहीं है। काण्व शाखा तथा माध्यन्दिनी शाखा दोनों ही का यह अष्टादश मन्त्र है। इस उपनिषद् में आये हुए अष्टादश मन्त्रों की व्याख्या पदशः भाष्यकार ने की, तत्पश्चात् संक्षेपतः विचार करते हैं कि 'अविद्या से मृत्यु को पार कर अव्याकृत की उपासना से अमृतत्व को प्राप्त करता है।' ऐसा सुनकर कुछ लोगों को संशय हो सकता है। अतः उसका उत्थापन कर निराकरण के लिये संक्षिप्त रूप से विचार कर रहे हैं—

अच्छा, यहाँ पर पहले आप बताइये, कि किस निमित्त को लेकर आपको संशय हो रहा है?

१. ओमिति यथोपासनमिति—ओं खं ब्रह्मेति श्रुत्योङ्कारालम्बने खं ब्रह्मेति दृष्टिविधानात्तथोपासने सत्यब्रह्मण ओम्प्रतीकत्वात्सत्यंब्रह्मैव प्रतीकाभेदेनोमिति सम्बोध्यते। तस्यैव सत्यब्रह्मणः पुनरयमग्निर्वैश्वानरो योयमन्तः पुरुषे इत्यादि श्रुत्वा जाठराग्नित्वेनोपासनोक्तेराह—अग्न्याख्यमिति। २. तदेव सत्यं ब्रह्म संकल्पेन विषयीकरणान्निगीर्णमिव सत्तदभिन्नात्मतामिवापन्नं तदात्मना सम्बोध्यते। संकल्पवाचिना क्रतुशब्देनेत्याशयेनाह क्रतो संकल्पात्मकेति। संकल्पाभिन्नेत्यर्थः। क्रतुशब्दो निघण्टौ द्वितीयाध्यायारम्भे "अपः अप्न इत्यादि कर्मनामसु पठित्वा पुनस्तृतीयाध्याये नवमखण्डे "केतः केतुः चेतः चित्तं क्रतुः असुः धीः शचीः माया वयुनम् अभिख्या इत्येकादश प्रज्ञानामानीत्यत्र प्रज्ञानामसु चित्तपर्यायत्वेन पठ्यत इत्यतस्तस्य संकल्पवाचित्वमिति ध्येयम्। ३. आम्रेडितस्य क्रतो स्मर कृतं स्मरेत्यस्यार्थमाह—अग्ने स्मरेत्यादिना। यज्ञादिपूजितोऽग्निरेव क्रतो इति सम्बोधितः। उपास्यं वा सत्यं ब्रह्म। जुहुराणस्य कुटिलस्यैनसः पापस्याग्रे निरास्यत्वं प्रार्थयिष्यमाणत्वाद्बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितस्य स्मरणमत्राभ्यर्थितमिति ध्येयम्। ४. आदरार्थमिति—यथाभ्यर्थितस्य स्मरणस्यानुपेक्ष्यत्वज्ञापनार्थमिति यावत्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्ति विधेम ॥१८॥
[1]ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥
इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्संपूर्णा ॥१॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

[हे अग्नि! हमें अपने कर्म फल भोग के लिये सन्मार्ग से ले चलो, हे देव ! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और कर्म को जानने वाला है। अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो (अर्थात् नष्ट कर दो)। हम (मुमूर्षु सम्प्रति) तेरे लिये अनेकों नमस्कार मात्रसे परिचर्या करते हैं ॥१८॥]

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—अग्ने नयेति। हेऽग्ने नय गमय सुपथा [2]शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण [3]गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय [4]कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान्यथोक्तधर्मफल[5]विशिष्टान्विश्वानि सर्वाणि हे देव [6]वयुनानि कर्माणि

इस पर पूर्व पक्षी कहते हैं, कि विद्या शब्द से मुख्य परमात्म-विषयिणी विद्या एवं अमृत पद से मुख्य निरपेक्ष अमृतत्व का ग्रहण क्यों नहीं किया जावे, क्योंकि मुख्यार्थ के परित्याग में कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये ?

सिद्धान्ती—हम तो पहले ही बतला चुके हैं कि परमात्मविद्या और कर्म का परस्पर विरोध होने के कारण उन दोनों का समुच्चय बन नहीं सकता। अतः ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की अन्यथानुपपत्ति ही विद्या एवं अमृतत्व शब्द के मुख्यार्थ के परित्याग में बीज है।

पूर्वपक्ष—ठीक है, विरोध आप बतलाते हैं, किन्तु वह प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान तथा कर्म का विरोध एवं अविरोध शास्त्र से ही समझा जा सकता है। जिस प्रकार अविद्या का अनुष्ठान और विद्या की उपासना शास्त्र प्रमाण से जानी जाती है, वैसे ही उनके विरोध और अविरोध को भी शास्त्र से ही समझा जा सकता है। यथा किसी प्राणी की हिंसा न करें, यह शास्त्र से

---

१. समाप्तावपि शान्तिपाठस्य सम्प्रदायिकत्वाद्यथोक्तप्रयोजनकत्वाच्च तां पाठयितुं प्रतीकतो विन्यस्यति—ओं पूर्णमद इति।

२. सुपथेत्यत्र न पूजनादिति समासान्तप्रतिषेधः, इत्याशयेन व्याचष्टे शोभनेनेति। ३. गतागतलक्षणेनेति—अन्यथाऽऽवर्तते पुनरिति स्मृतेरिति भावः। ४. कर्मफलभोगायेति—निष्कामेनाप्यानुषङ्गिकत्वेन भोगस्यावर्जनीयत्वमवगन्तव्यम्। ५. धर्मविशिष्टस्य फलवैशिष्ट्यावश्यंभावनिश्चयादधुनैव तदाह—फलविशिष्टानिति।

६. निघण्टौ वयुनशब्दस्य प्रज्ञानामसु पठितत्वेऽपि कर्मनामपठित क्रतुशब्दपर्यायत्वात्तदर्थकत्वमपि न विरुध्यत इत्यभिप्रेत्य व्याकरोति—वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वेति। वाशब्दः समुच्चयप्रकरणात्तदर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्ज्ञानन्। किं च युयोधि वियोजय विनाशयास्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुं भूयिष्ठां बहुतराम्। ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं 'विधेम नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुत इति श्रुत्वा केचित् संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। नन्वूक्तायाः

मन्त्रान्पदशो व्याख्याय संक्षेपतो विचारमारभते—अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यादिना। अमृतत्वं चेति। अमृतत्वं च मुख्यमेव कस्मान्न गृह्यत इति संबन्धः। शास्त्रीययोर्ज्ञानकर्मणोर्विरोधाविरोधौ

जाना गया। पुनः शास्त्र प्रमाण से ही 'याग में पशु की हिंसा करनी चाहिये' इस विशेष वाक्य से पूर्वोक्त सामान्यतया सम्पूर्ण प्राणीहिंसा की निवृत्ति बतलाने वाला शास्त्र बाधित हो जाता है। ऐसे ही विद्या और अविद्या के विषय में भी समझना चाहिये। अतः विद्या और कर्म का समुच्चय होने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं ?

सिद्धान्ती—परमात्म विद्या एवं कर्म का समुच्चय नहीं बन सकता, क्योंकि श्रुति ने इन दोनों को अत्यन्त विरोधी बतलाया है। कठोपनिषद् में भी विद्या और अविद्या को सर्वथा विपरीत मार्ग कहा गया है। अतः दोनों का सहानुष्ठान कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी—'विद्याञ्चाविद्याञ्च' ऐसे वचन होने के कारण यहाँ पर दोनों में कोई विरोध नहीं है, चाहे कठोपनिषद् में विरोध रहा हो। अतः शास्त्र वचन से ही इन दोनों में क्या अविरोध सिद्ध हो रहा है ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनों के कारण स्वरूप एवं फल इन सभी में परस्पर विरोध है।

पूर्वपक्षी—विद्या और अविद्या एवं विरोध और अविरोध का विकल्प होना तो सम्भव नहीं है, और इनके समुच्चय का विधान किया गया है। इसलिये इनका परस्पर विरोध नहीं ही है। क्रिया में विकल्प होता है, उसमें पुरुष करने न करने तथा अन्यथा करने में स्वतन्त्र होता है। 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोति' इन दोनों वाक्य से सूर्योदय के बाद अथवा उससे पूर्व हवन करने एवं सर्वथा न करने में पुरुष स्वतन्त्र होता है, किन्तु ज्ञान तो पुरुष तन्त्र नहीं है वह तो प्रमाण एवं वस्तु के अधीन

---

१. विधेमेति—कुर्यामित्यर्थः। कुर्म इति यावत्। विध विधाने इत्यनुशासनात्। २. फलितमाह—नमस्कारेण परिचरेमेति। तदुक्तं निघण्टौ "इरज्यति विधेम सपर्यति नमस्यति दवस्यति ऋध्नोति ऋणद्धि ऋच्छति सपर्यति विवासति" इति दशपरिचरणकर्माण इति। ३. इति श्रुत्वेति—इत्यस्यार्थमस्मद्भाषितमाकर्ण्येत्यर्थः। ४. संशयम्—किमत्र तत्त्वज्ञानं विद्याशब्दार्थोऽन्यद्वेति रूपम्। ५. कुर्वन्ति—करिष्यन्ति। ६. ननु व्याख्यानस्य निर्णयार्थत्वात्कुतः संशय इत्याशङ्क्य समाधत्ते—तत्र तावदित्यादिना। ७. कस्मान्न गृह्यत इति—मुख्यत्वाग्रहे हेत्वदर्शनात्संशय इति भावः। ८. अमृतत्वं चेति—अत्रापि मुख्यमापेक्षिकं वेति संशयाकारो द्रष्टव्यः। यद्वा संशयं कुर्वन्तीत्यत्र आक्षेप एव संशयशब्दार्थः। किन्निमित्त इत्यस्य किमाकारक इत्यर्थः। विद्याशब्देनेत्यादिराकारोक्तिरिति व्याख्येयम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः । सत्यम् । विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात् । [1]यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि । यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति । [2]एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात् । [3]विद्याकर्मणोश्च समुच्चयो न दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति-श्रुतेः । विद्यां चाविद्यां चेतिवचनादविरोध इति चेन्न । [4]हेतुस्वरूपफलविरोधात् । विद्याविद्या[5]विरोधाविरोधयो[6]र्विकल्पासंभवात्[7]समुच्चयविधानादविरोध एवेति चेन्न । सहसंभवानुपपत्तेः । क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति

शास्त्रीयावेव ग्राह्यौ न तर्कमात्रेणेति परेणोक्ते सिद्धान्ती शास्त्रसिद्ध एव विरोध इत्याह—न दूरमेते इति । विषूची [8]नानागती विद्याविद्ये दूरं विपरीते अतिशयेन विरुद्धे इत्यर्थः । सहसंभवानुपपत्तेरिति । [9]काऽनुपपत्तिः । [10]काठके विरोधश्रवणात् । [11]तद्गतविद्याविद्ययोर्विरोधोऽस्तु । [12]इह त्वविरोधश्रवणादविरोधो भविष्यतीति [13]न च वाच्यम् । विरोधाविरोधयोः [14]सिद्धत्वेन विकल्पासंभवादुदितानुदितहोमयोर्हि पुरुषतन्त्रत्वाद्युक्तो विकल्प [15]इत्युक्तं, तर्ह्यविरोध एवास्तु समुच्चयविधिबलादिति चेन्न । मुख्यब्रह्मविद्याविद्ययोः शुक्तिविद्याविद्ययोरिव सहसंभवानुपपत्तेः समुच्चयविधिरसिद्धः । (सिद्धे समुच्चयविधौ तद्बलादविरोधावगमोऽविरोधावगमाच्च समुच्चयसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः) । सहसंभवानुपपत्तावपि क्रमेणैकाश्रये विद्याविद्ये स्यातामिति चेद्यदि पूर्वमविद्या पश्चात्तु विद्येति क्रमस्तर्हीष्यत एव

१. यथाचेत्यादि—यथाऽन्यत्र हिंसाया न हिंस्यादिति शास्त्रोक्ताऽहिंसया विरोधो हिंसायास्तत्राशास्त्रीयत्वात् । अध्वरे तु न विरोधः हिंसायाऽपि शास्त्रीयत्वात् । अध्वरे हिंसायां स्वरूपतो हिंसात्वेऽपि पापाजनकत्वेनाहिंसात्वात् । हिंसात्वाहिंसात्वयोः सहवर्तनात् । तथा च शास्त्रीयाशास्त्रीययोरेव विरोधो न तु द्वयोरपि शास्त्रीययोरिति भावः । २. एवं विद्याविद्ययोरपि स्यादिति—विद्याविद्ययोः सहानुष्ठानस्य शास्त्रेणैव विहितत्वादन्यतरस्याशास्त्रीयत्वाभावेनाविरोधः स्यादित्यर्थः । ३. एवमविरोधे सति सिद्धमभीष्टं पूर्वपक्षी स्पष्टयति—विद्याकर्मणोश्च समुच्चय इति । अत्र चकारस्य तथा च सतीत्यर्थः । ४. हेतुस्वरूपफलविरोधादिति—तत्रात्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासोत्थित्वादिकञ्चाविद्याया हेतुः । विवेकादिपूर्वामुमुक्षा तु विद्याहेतुरिति हेतुविरोधः । वाक्यजन्यस्तत्त्वावगाहीन्द्रियान्तरचेष्टानिर्व्यपेक्षो मानसपरिणामविशेषो विद्यास्वरूपम् । सर्वेन्द्रियक्रियौघस्त्वविद्यास्वरूपमिति स्वरूपविरोधः । नित्यं सुखं विद्याफलमनित्यमविद्याफलमिति फलविरोधस्तस्मादित्यर्थः । ज्ञापकं हि वचनं न तु कारकं येन विरुद्धमपि हेत्वादिकमविरुद्धं कुर्यात । अस्मदर्पितार्थेनैव वचनस्य निराकाङ्क्षतया त्वदभीष्टार्थानापादकत्वादिति भावः । ५. विरोधाविरोधयोरिति—दूरमेते विपरीते इत्यादि विद्याञ्चाविद्यां चेत्यादिश्रुतिभ्यामवगम्यमानयोरित्यर्थः । ६. विकल्पासंभवादिति—विकल्पस्य साध्यैकगोचरत्वाद्विरोधाविरोधयोश्च सिद्धत्वेन पुंस्प्रयत्नासाध्यत्वादिति भावः । ७. समुच्चयविधानादिति—विद्याञ्चाविद्यां चेत्यादेर्विधित्वाद्दूरमेते इत्यादेस्तु श्रेयसस्तत्कामस्य च प्रशंसाप्रसङ्गेनोच्यमानतयाऽर्थवादत्वाद्वेदे च विध्यविध्योर्विधेरेव बलीयस्त्वनिश्चयादर्थवादस्य तदनुकूलत्वेनैव नेयतया समुच्चयानर्ह वैपरीत्यबोधकत्वाकल्पनादविरोधो निर्विरोध इति भावः । ८. नानागती—विभिन्नफलिके । ९. व्यवस्थितविकल्पोऽत्रावकल्पत इति संकल्प्याऽऽक्षेप्ताऽऽह—काऽनुपपत्तिरिति । १०. विकल्पं व्यवस्थापयति—काठक इत्यादिना । दूरमेते इत्यादौ काठक इत्यर्थः । ११. तद्गतेति—तदा काठकपरामर्शः । १२. इहेति—वाजसनेयोक्तिः । १३. समाधाताऽऽह—इति न च वाच्यमित्यादि । १४. सिद्धत्वेनेति—तमःप्रकाशादौ तयोः सिद्धत्वदर्शनादिति भावः । १५. इत्युक्तम्—पूर्वतन्त्र उक्तमित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चेन्न । विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः । न ह्यग्निरुष्णः प्रकाश-श्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाऽऽश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो 'वेत्य-विद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा । 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति शोकमोहाद्यसंभवश्रुतेः । अविद्याऽसंभवा-

यदि पश्चात्तर्ह्यसंभव इत्याह—न विद्योत्पत्ताविति । पूर्वसिद्धाया अविद्यायाः प्रध्वस्तत्वादन्यस्याश्चोत्पत्तौ कारणासंभवान्मूलाभावेन भ्रमसंशयाग्रहणानामपि विदुषोऽनुपपत्तिरित्यर्थः । विद्योत्पत्तौ मा भूदविद्या कर्म तु भविष्यति विदुषोऽपि व्याख्यानभिक्षाटनादिदर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्यासंभवादिति ।

है । शास्त्र प्रमाण से दोनों का समुच्चय विधान किया गया है, इसलिये विद्या और कर्म में विरोध मानना उचित नहीं है ।सिद्धान्ती—इन दोनों का एक साथ रहना सर्वथा असम्भव है । पूर्वपक्षी—यदि एक साथ एक ही व्यक्ति में विद्या और अविद्या दोनों नहीं रह सकती, तो क्रमशः एक व्यक्ति दोनों का अनुष्टान कर लेगा । इस प्रकार सह समुच्चय न सही, क्रम समुच्चय तो होगा ही ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर अविद्या का नाश हो जाता है । पुनः उस अन्तःकरण में अविद्या नहीं रह सकती । क्या जिस व्यक्ति को वह्नि उष्ण एवं प्रकाश स्वरूप है, ऐसा ज्ञान हो गया, तो उस व्यक्ति के हृदय में वह्नि शीतल, तथा अप्रकाश-स्वरूप है, ऐसी अविद्या उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् नहीं । विशेष क्या कहें—उसे तो वह्नि की उष्णता एवं प्रकाशस्वरूपता के विषय में सन्देह अथवा भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति ज्ञानी के लिये स्पष्ट कहती है कि "जिस पुरुष को सम्पूर्ण भूत आत्मा ही है, ऐसा ज्ञान हो गया, उस अभेद-दर्शी में क्या शोक और क्या मोह ?" ऐसे वाक्य से तत्त्वज्ञानी में शोक-मोहादि सम्पूर्ण अविद्या-कार्य को श्रुति असम्भव बतला रही है । जब उस तत्त्ववेत्ता में अविद्या का रहना ही असम्भव है, तो भला अविद्या के कार्य कर्म की सिद्धी कैसी हो सकेगी ? इत्यादि वाक्य को हम पहले कह आये हैं । बिना कामना के किसी भी व्यक्ति द्वारा कोई कार्य हों नहीं सकता है । जीव जो कुछ भी चेष्टा करता है वह कामनापूर्वक ही करता है ऐसा 'अकामिनः क्रिया काचित् दृश्यते नेह कस्यचित् । यद्यद्धि कुरु जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इस स्मृति वाक्य से कहा गया है । विद्वानों की शरीर यात्रा के लि अविद्या लेश को सिद्धान्त में माना गया । ऐसी लेशाविद्या से तो भिक्षाटनादि मात्र ही कर्म उनसे हो सकते हैं, इनके लिए शास्त्रविधि की आवश्यकता नहीं है । यह तो स्वतः प्राण और शरीर के सम्बन्ध रहने तक होता ही रहता है । अतः इसे कर्माभास कहा गया है । विद्वान् उसे अपने आप में मानता भी नहीं है, क्योंकि आत्मा में कर्तृत्वाध्यास का कारण मूलाज्ञान उसमें है नहीं, साथ ही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति में रहने के कारण 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' ऐसी दृढ़ प्रतीति उ सदा बनी रहती है । इसलिए तत्त्वज्ञानी में कर्म-की असिद्धि बतलायी गयी है ।

आपने कहा था मन्त्रोक्त अमृत शब्द से मुख्य अमृतत्व अर्थ क्यों नहीं किया जाता एवं विद्या शब्द से परमात्मविद्या अर्थ क्यों नहीं किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि यदि विद्या शब्द से परमात्मविद्या का ग्रहण किया जाय एवं अमृत शब्द का अर्थ मुख्य अमृतत्व किया जाय तो 'हिरण्मयेन पात्रेन' इत्यादि मन्त्र से मार्गादि की याचना असंगत हो जायेगी । अतः उपासना के साथ ही कर्म क

१. अविद्यायाः=भ्रमस्य । २. दृष्टान्तनिर्दिष्टं दार्ष्टान्तिके स्पष्टयति—यस्मिन्निति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्ति[1]मवोचाम । अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्मादुपासनया

---

[2]चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानं हि कर्म ज्ञानेन सह तव समुच्चिचीषितं ब्रह्मात्मैकत्वं तु साक्षादनुभवतो न चोदना संभवति कामाभावात्कामिनो हि सर्वाश्चोदनाः। 'अकामिनः क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कस्य चित्। यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इति स्मरणात्। विद्वच्छरीरस्थितिहेत्वविद्यालेशाश्रयकर्मशेषनिमित्तं तु विदुषो भिक्षाटनादि, न कर्म चोदनाभावात्किंतु यावत्प्राणशरीरसंयोगभावि तत्कर्माभासं तच्च विद्वान्न स्वगतं मन्यते कर्माध्यासोपादानाविद्याया असंभवान्नैव किंचित्करोमीति प्रत्ययाच्चेति भावः। यदुक्तममृतशब्देन मुख्यमेवामृतत्वं किं न गृह्यते। विद्याशब्देन च परमात्मविद्येति तत्राऽऽह–अमृतमिति। मुख्यामृतत्वग्रहणे हिरण्मयादिमन्त्रेण द्वारमार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात्। न [3]तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्र ब्रह्म समश्नुत इत्यादिश्रुतेः। ततो मुख्यार्थबाधाद्गौणार्थग्रहणं युक्तमित्यर्थः। यस्मादर्थान्तरं न संगच्छते तस्मादित्युपसंहारः ॥१८॥

समुच्चय हो सकता है, परमात्मविद्या के साथ नहीं। इस प्रकार की व्याख्या हमने यथोक्त मन्त्रों के व्याख्यान के समय की है। तत्त्वज्ञानी के लिये तो कहा है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्र ब्रह्म समश्नुते' अर्थात् तत्त्वज्ञानी के शरीर से प्राण शरीरान्तर के लिये उत्क्रमण नहीं करते। लोकदृष्टि से समष्टि में मिल जाते हैं। और वह तत्त्ववेत्ता वहाँ ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार मुख्य अर्थ का बाध हो जाने से गौण अर्थ का ग्रहण करना उचित ही है। अतएव विद्या शब्द से देवोपासना एवं

---

१. अवोचाम—आरम्भभाष्यादौ तत्र तत्र बहुशोऽवादिष्मेत्यर्थः।

२. चोदना प्रयुक्तानुष्ठानमिति—चोदनया वैदिकेन विधिवाक्येन प्रयुक्तं विहितमनुष्ठानं करणं यस्य तत्तथा।

३. तस्य—निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारवतो विदुष इत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥ १८ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशंकरभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

ईशाप्रभृतिभाष्यस्य [1]शांकरस्य [2]परात्मनः ।
मन्दोपकृतिसिद्ध्यर्थं प्रणीतं टिप्पणं स्फुटम् ॥
इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृता
वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यटीका समाप्ता ॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

अमृत शब्द से आपेक्षिक अमृतत्व अर्थ लिया जाना ही ठीक है ।

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् की श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचित
शाङ्करभाष्य की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यकैलासपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि
कृत भाष्यार्थदीपिका नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।
। श्रीशङ्करः प्रीयताम् ।

---

१. शांकरस्य—शंकरप्रोक्तस्येत्यर्थः । शंकरस्येति तु सुगमः पाठः । सा कर्तरि षष्ठी ।

२. परात्मन इति—परम् आत्मा यस्मिंस्तस्येति विग्रहः । परं ब्रह्म आत्मभिन्नत्वेन भासमानं वा सर्वमात्मत्वेन प्रतिपादितं यस्मिन्निति यावत् । पर उत्कृष्ट आत्मा स्वरूपं यस्येति वा भाष्यान्तराद्यतिशायिन इत्यर्थः । भूतभविष्यद्व्याख्यानान्तरैरस्पर्धनीयस्येति यावत् ।

गुरोरधीत्य विधिवत् कृतमात्मविशुद्धये ।
आनन्दविष्णुदेवेन गिरिणाऽत्र सुटिप्पणम् ॥

इति श्रीशाङ्करभाष्योपेतेशावास्योपनिषदः
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पति-
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता
गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीसमालिङ्गिता

❀❀❀❀❀❀

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्री विभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज की अनुपम कृतियाँ

१. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सुबोधिनी व्याख्या)।
२. वैदिक दशशान्ति मन्त्राः (राष्ट्रभाषानुवाद)।
३. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद विद्यानन्दवृत्ति)।
४. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति परीक्षोपयोगी)।
५. ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्योपेता)।
६. ईशावास्योपनिषद् (शाङ्करभाष्यन्वित भाष्यार्थदीपिका हिन्दी व्याख्यासमलङ्कृत)
७. ईशादिद्वादशोपनिषदः (विद्यानन्दीमिताक्षरा) हिन्दी व्याख्या।
८. ईशावास्य प्रवचन-सुधा।
९. माण्डूक्यकारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य)।
१०. माण्डूक्यकारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्य)।
११. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्ययुता)।
१२. श्रुतिसार समुद्धरणम् (हिन्दी टीका युतम्)।
१३. शिवमहिम्नः स्त्रोत्र (सान्वय व्याख्या)।
१४. शिवताण्डव-स्तोत्र (हिन्दी व्याख्या)।
१५. शङ्करवचनामृत (हिन्दी व्याख्या)।
१६. हरिहरतारतम्य-स्तोत्र (हिन्दी व्याख्या)
१७. मानस सूक्ति-सुधा।
१८. गंगा लहरी (सानुवाद)

अनन्त श्री स्वामी प्रकाशानन्द पुरीजी महामण्डलेश्वर द्वारा विरचित ग्रन्थ

१९. ब्रह्मसूत्रम् (शाङ्करभाष्यव्याख्यान्यायनिर्णयमङ्गलव्याख्यानसहितम्) अमुद्रितम्
२०. चित्सुखीटीकास्थमहाविद्यानुमानविवरणम्,
२१. शिवानुसन्धान (हिन्दी पद्यमय)।

अनन्त श्री विद्यावाचस्पति स्वामी श्रीविष्णुदेवानन्द गिरि जी महामण्डलेश्वर द्वारा विरचित ग्रन्थ

२२. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्ययुता) अनुवादक—डा. उमेशानन्द शा
२१. वेदान्त रत्नाकर (टीकाकार महामण्डलेश्वर चैतन्य गिरिजी महाराज)।
२२. वैराग्यपञ्चकम् (कुञ्जिका व्याख्या युतम्)।
२३. अद्वैतमुक्तावली (मूलपञ्जाबी का संकृत श्लोकात्मक अनुवाद)।
२४. आचार्य द्वयस्मृति (मूल तथा संस्कृत टीका)।
२५. वेदान्त डिण्डिम घोष (हिन्दी टी० श्री १०८ स्वामी नारायण गिरिजी)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीअभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टाविंशः सोपानः

अथर्ववेदीया

मुण्डकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्योपेता

टिप्पणकारः

अनन्तश्रीविभूषितमहामण्डलेश्वरविद्यावाचस्पतिः

श्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिः

राष्ट्रभाषाव्याख्याकारः

श्रीकैलासपीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वरः

श्रीस्वामिविद्यानन्दगिरिः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीअभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम्

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टाविंशः सोपानः

अथर्ववेदीया

मुण्डकोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्योपेता

गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणीपरिष्कर्ता :

विद्यावाचस्पति महामण्डलेश्वर अनन्त श्री

स्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि जी महाराज

★

राष्ट्रभाषाव्याख्याता :

श्रीकैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर अनन्त श्री

स्वामी विद्यानन्दगिरि जी महाराज

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

★

सम्पादक :

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री, ब्र० रामानन्द शास्त्री

स्वामी सुरेश्वरानन्द गिरि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशक :

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति,

ऋषिकेश, (उ. प्र.)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण २२००, सन् १९७८

★ पुस्तक प्राप्ति स्थान ★

- श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१ (उ. प्र.)
- श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१५३ (उ. प्र.)
- श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार (उ.प्र.)
- श्री दक्षिणामूर्ति सं. म. विद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी-२२१००१
- श्री चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी-२२१००१
- श्री चौखम्बा विश्व भारती, चौक, वाराणसी-२२१००१
- श्री मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक-श्री कैलास विद्या प्रेस, श्री ब्रह्मानन्द आश्रम, मुनि-की-रेती, ऋषिकेश (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रस्तावना

किसी भी अर्थ के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है। अनधिगत अबाधित वस्तुविषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं और ऐसे प्रमा ज्ञान के करण को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि भेद से छः माने गये हैं। इनमें से शब्द एक ऐसा प्रमाण है, जिससे परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। असन्निहित एवं व्यवधान युक्त वस्तु का शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है, ऐसा दशम-पुरुष में देखा गया है। धर्म एवं धर्म के फल स्वर्गादि में कार्य-कारण भाव का ज्ञान आगम वाक्य के सिवा अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं हो सकता है; क्योंकि मर्त्यलोक-वासी प्राणी के लिये धर्म का फल स्वर्ग, धर्मज्ञान तथा तदनुष्ठान काल में असन्निहित ही रहता है, परन्तु आत्मविद्या का विषय आत्मा एवं आत्मज्ञान का फल मोक्ष जीवितदशा में ही अनुभव किया जा सकता है। अतः आत्मज्ञान का फल सर्वदुःख-निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष स्वर्गादि के समान परोक्ष नहीं है।

आत्मा के स्वरूप परिमाण, कर्तृत्वाकर्तृत्वादि के विषय में सभी दार्शनिकों के मत में परस्पर विरोध दीख पड़ता है। किं बहुना वेद-वेदान्त को प्रबल प्रमाण मानकर तदनुसार चिन्तन करने वालों के मत में भी विरोध दीखता है। उन सभी पक्षों का निराकरण कर सिद्धान्तानुसार उक्त विषयों में निर्णय देने वाले जगद्गुरु आद्यभगवान् शंकराचार्य का विचार अत्यन्त श्लाघनीय है; क्योंकि उक्त विषयों में जहाँ नास्तिकों ने अटकल बाजी से काम लिया है वहाँ अनुमानैकचक्षुः आस्तिकों ने भी उन्हीं भूलों का अनुसरण किया है। इसीलिये भाष्यकारों ने ऐसे मतों का अनादर 'मदोन्मत्तवदुपेक्षणीयम्' इत्यादि वाक्यों से किया है।

पौरुषेय तथा अपौरुषेय भेद से आगम प्रमाण भी दो प्रकार का माना गया है। इनमें वेद अपौरुषेय आगम है और वेद से अविरुद्ध स्मृत्यादि पौरुषेय आगम कहे गये हैं। प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध आने पर स्मृत्यादि उपेक्षणीय हैं। ऐसा भगवद्पाद आचार्य शंकर ने कहा है। अतः धर्म तथा ब्रह्मतत्त्व के निर्णय में वेद ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। वह वेद मन्त्र तथा ब्राह्मण दो भागों में विभक्त है 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसा कहा है। ऐसे वेद के कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीन काण्ड बताये जाते हैं, इनमें वेद के शिरोभाग ज्ञानकाण्ड को उपनिषत् कहते हैं। उपनिषत्, मन्त्र तथा ब्राह्मण इन दोनों ही भागों में उपलब्ध है। तदनुसार यह प्रस्तुत मुण्डकोपनिषत् अथर्ववेदीय मन्त्रभाग की मानी जाती है। कुछ लोग ऋक्, यजुः एवं सामवेद के समान अर्थववेद को प्रामाणिक नहीं मानते, किन्तु आस्तिक समाज में चारों वेदों को समानरूप से प्रमाण माना गया है। उपनिषदों का अध्ययन गुरु-परम्परा से करने का नियम है। शम, दमादि साधन-सम्पन्न अधिकारी की परीक्षा कर आचार्य औपनिषद ब्रह्मविद्या का उपदेश किया करते थे। इसीलिये इस मुण्डकोपनिषत् के प्रारंभ में गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख किया गया। औपनिषद ब्रह्मविद्या का मुख्य अधिकारी चतुर्थ आश्रमी संन्यासी को ही आचार्य शंकर ने माना है। इस स्थिति में इसके उपदेशक आचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, संन्यासी ही हो सकते हैं, किन्तु इस मुण्डकोपनिषत् के प्रारंभिक गुरु-शिष्य परम्परा वर्णन को देखते हुये उपर्युक्त भगवान् शंकराचार्य जी की मान्यता के साथ विरोध प्रतीत होता है। अतः इस उपनिषत् के प्रारंभिक सम्बन्ध भाष्य में आचार्य शंकर ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण दृढ़ता से किया है। आचार्य शंकर का स्पष्ट अभिप्राय है कि ब्रह्मविद्या और कर्म का सह समुच्चय कभी भी हो नहीं सकता; क्योंकि लौकिक तथा वैदिक वर्णाश्रम उचित कर्मों में प्रवृत्ति देहादि में अभिमान पूर्वक ही होती है, किन्तु ब्रह्मविद्या की साधना सम्पूर्ण अभिमान को छोड़कर प्रारम्भ किया जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मविद्या एवं कर्मों का परस्पर विरोध पर्वतवद् अकम्प आचार्य शंकर ने कहा। जहाँ ब्रह्मविद्या के आचार्य में गार्हस्थ सुना जाता है, वह केवल आभास मात्र है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस उपनिषत् का प्रारम्भ बड़े कौतुहलपूर्ण प्रश्न से किया गया है। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' इसके जानलेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि अंगिरा ने शौनक ऋषि से परा और अपरा दो प्रकार की विद्या का भेद बतलाते हुये कहा है, कि षडंग चारों वेद उनसे उत्पन्न ज्ञान तथा उनका फल धर्म, अर्थ, काम को विषय करने वाली विद्या अपरा है, इससे भिन्न परा विद्या है। जिससे अव्यक्त अक्षर सच्चिदानन्द ब्रह्म का बोध होता है। परा विद्या के विषय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण 'अदृश्यम्' आदि निषेध विशेषणों तथा 'नित्यं विभुम्' इत्यादि विधेय विशेषणों के द्वारा बतलाया है। ऊर्णनाभ (मकड़ी) से जैसे जाले की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही अक्षरब्रह्म से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। ऐसा कहकर अद्वय, असहाय ब्रह्म को ही जगत् का कारण श्रुति ने बतलाया है। अतएव अद्वितीय-ब्रह्म नाना प्रपंचरूप में से विवर्तित होता है, ऐसा बतलाया गया है।

प्रथममुण्डक के द्वितीयखण्ड में प्रायशः अपरविद्या का विस्तार बतलाकर पुनः अपरविद्या के विषय सम्पूर्ण लोकों एवं उनके भोगों से विरक्त उत्तम जिज्ञासु के लिये गुरूपसदन-पूर्वक परतत्त्व को जानने की बात बतलायी गयी है। द्वितीयमुण्डक के प्रथमखण्ड में अनेक प्रकार से विश्व उत्पत्ति का प्रसंग आया है और उस विश्वात्मा को जो अपने हृदयरूपी गुफा में जान लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धन से मुक्त हो जाता है, ऐसा भी कहा गया है। द्वितीयमुण्डक के द्वितीयखण्ड में अक्षरतत्त्व को जानने के लिये अनेक साधन बतलाये गये, उन साधनों में प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को लक्ष्य बतलाकर प्रणव का आश्रय लेकर ब्रह्मतत्त्व प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय प्रणव को ही कहा है।

तत्त्वज्ञानी के हृदयग्रन्थि का भेदन सर्वसंशय का उन्मूलन और कर्मों का क्षय बतलाते हुये जीवनमुक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अन्तिम मन्त्र में ब्रह्म की सर्वरूपता बतलायी गयी है। तृतीयमुण्डक के दोनों खण्डों में परविद्या के विषय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण अनेक प्रकार से किया गया है और अन्त में कलालय का निरूपण नदी के दृष्टान्त से करके विदेह कैवल्य का वर्णन किया गया है।

मुण्डकोपनिषत् स्वाध्याय के अंगरूप से शिरोव्रत का वर्णन मिलता है, जिसका अर्थ भाष्यकारों ने किया है—शिरपर अग्नि धारणकर उसका स्वाध्याय करना अर्थात् इसके अध्ययन एवं इसमें कहे गये साधनों के अनुष्ठान में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है।

इसका नाम मुण्डकोपनिषत् क्यों रखा गया? इसके उत्तर में विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनायें की हैं। किसी-किसी ने तो यह भी कह डाला कि शिर-मुण्डन कराकर अर्थात् संन्यास ग्रहण कर ही मुण्डकोपनिषद् का स्वाध्याय आदि करने का नियम होने से इसका नाम मुण्डकोपनिषत् रखा गया है। हमारी समझ से मुण्डक नामकरण का तात्पर्य यह हो सकता है कि हथेली पर अपने शिर रखकर इसका अध्ययन एवं अनुष्ठान किया जाय। आत्माभिमान का परित्याग ही हथेली पर शिर रखना है और ऐसा करने पर ही जीव-ब्रह्म का अभेद चिन्तन तथा बोध सम्भव है, इसी अभिप्राय से इसका नाम मुण्डकोपनिषत् रखा गया है।

प्रस्तुत प्रकाशन की आवश्यकता

यों तो उपनिषदों के भाष्य, टीका एवं विभिन्न भाषाओं में व्याख्यान अनेकों हो चुके हैं, पर भगवत्पाद आद्यभगवान् शंकराचार्य जी का भाष्य सर्वमान्य है, उस भाष्य के अर्थ गाम्भीर्य का अवगाहन आनन्दगिरि टीका के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिये संन्यासी समाज में प्राचीन परम्परा के अनुसार आनन्दगिरि टीका के सहित प्रस्थानत्रयी शांकरभाष्य पढ़ाने का क्रम रहा है, जो श्रीकैलास आश्रम की परम्परा में आज भी अक्षुण्णरूप से चल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहा है। इस आश्रम की परम्परा में अनेकानेक विद्वात्धौरेय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा हो चुके हैं, जिनमें महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी गोविन्दनन्द गिरिजी महाराज का नाम अधिक उल्लेखनीय है, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी और विशेषरूप से उपनिषदों पर गम्भीर चिन्तन के बाद 'टिप्पणी' का जन्म दिया और पाठ का संशोधन भी किया जिस टिप्पणी का पुनः संशोधन कर महामण्डलेश्वर विद्यावाचस्पति अनन्त श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराज ने अभिनवरूप दिया। जिस टिप्पणी के विना भाष्यादि-ग्रन्थों के तात्पर्य को समझना, समझाना अत्यन्त दुष्कर है, ऐसा पूर्व पुरुषों से प्राप्तधरोहर श्रीकैलास आश्रम में संग्रहीत पड़ा था, जिस टिप्पणी से कुछ सीमित लोगों को ही लाभ हो पाता था। अतः इस श्रीकैलास आश्रम में आने के बाद हमारे मनमें भगवान् भूतभावन तथा पूर्वाचार्यों की प्रेरणा से यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि पूर्व पुरुषों से प्राप्त धरोहर नष्ट न हो जाय। अतः इसकी रक्षा के साथ-साथ इस आलोक से सभी अधिकारी पुरुष लाभान्वित हों, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। उसी के फलस्वरूप श्रीकैलास आश्रम शताब्दी समारोह प्रसंग पर यह नूतन संस्करण पाठकों के सामने हम प्रस्तुत कर रहे हैं। संस्कृत पठन-पाठन की अप्रत्यासित विरलता को देखते हुये भाष्य का अभिप्राय राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही वतलाना आवश्यक समझा। अतः शांकरभाष्य की भाष्यार्थदीपिका हिन्दी टीका भी इसमें दी गयी है। टिप्पण की प्रेस कापी करने में डॉ. उमेशानन्दजी शास्त्री ने, हिन्दी टीका को लिपिवद्ध करने में श्रीदलपत एम. पुरोहित तथा शोध्यपत्र के संशोधन में श्री ब्रह्मचारी रामानन्दजी शास्त्री ने तथा श्री स्वामी सुरेशानन्दगिरिजी ने अथक परिश्रम किया है। हम इन सबकी मंगल कामना करते हैं। अन्त में पाठकों से निवेदन है कि यदि इस प्रस्तुत अभिनव संस्करण से लाभ हुआ हो तो उसे विश्वनियन्ता परमात्मा तथा पूर्वाचार्यों की कृपा समझें, साथ ही इसमें रही मानव सुलभ त्रुटियों का संकेत करें तो उसका परिशोधन द्वितीय संस्करण में कर दिया जायेगा।

गुरुपूर्णिमा
सम्वत् २०३५

भगवत्पादीयः
महामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरिः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुण्डकोपनिषत् ।

सटिप्पणटीकाद्वयसमलङ्कृतशाङ्करभाष्ययुता

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नःपूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

[हे देवताओं ! आपकी कृपा से हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्द सुनें । आँखों के द्वारा कल्याण प्रद दृश्य देखें । वैदिक यागादिक कर्म करने में हम समर्थ होवें । दृढ अंगों और शरीरों से स्तुति करते हुए हम लोग केवल देवहित याग के लिये संपूर्ण आयु व्यतीत करें ।

महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें । परम ज्ञानी पूषादेव हमारा कल्याण करें । संपूर्ण आपत्तियों के नाश करने में चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें । तथा देवताओं के गुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करें । आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक त्रिविध तापों की शांति होवे]

ॐ ब्रह्मा देवानामित्याद्याथर्वणोपनिषत् । अस्याश्च विद्यासंप्रदायकर्तृपारम्पर्यलक्षण-

---

यदक्षरं परं ब्रह्म विद्यागम्यमितीरितम् । यस्मिञ्ज्ञाते भवेज्ज्ञातं सर्वं तत्स्यामसंशयम् ॥१॥

ब्रह्मोपनिषद्गर्भोपनिषदाद्या अथर्वणवेदस्य बह्व्य उपनिषदः सन्ति । तासां शारीरकेऽनुपयोगित्वेनाव्याचिख्यासितत्वादहृ[1]श्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते (ब्र० १।२।२१) रित्याद्यधिकरणोपयोगितया मुण्डकस्य व्याचिख्यासितस्य प्रतीकमादत्ते—ब्रह्मादेवानामित्याद्याथर्वणोपनिषदिति । व्याचिख्यासितेति शेषः । नन्वियमुपनिषन्मन्त्ररूपा मन्त्राणां चेषे त्वेत्यादीनां कर्मसंबन्धेनैव प्रयोजनवत्त्वम् । एतेषां च मन्त्राणां कर्मसु विनियोजकप्रमाणानुपलम्भेन तत्संबन्धासंभवान्निष्प्रयोजनत्वाद्व्याचिख्यासितत्वं न संभवतीति [2]शङ्कमानस्योत्तरम् । सत्यं कर्मसंबन्धाभावेऽपि ब्रह्मविद्याप्रकाशनसा[3]मर्थ्याद्विद्यया संबन्धो

'ब्रह्मादेवानाम्' इत्यादि अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् की व्याख्या भगवान् शंकराचार्य करना चाहते हैं। यों तो गर्भोपनिषद आदि बहुत सी उपनिषदें अथर्ववेद की हैं । उनका उपयोग शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) में न होने के कारण उनकी व्याख्या भाष्यकार नहीं कर रहे हैं । किन्तु "अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः" इत्यादि अधिकरण में उपयोगी होने से मुण्डकोपनिषद् की व्याख्या अभीष्ट है । अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के मंत्रों का कर्म में विनियोजक कोई प्रमाण नहीं दीखता । इसलिये कर्म के साथ इनका संबंध संभव नहीं है । फिर भी इनका व्याख्यान करना इसलिये अभीष्ट है क्योंकि ब्रह्मविद्या के प्रकाशन में ये

---

१. अदृश्यत्वादीत्यादि यत्तदद्रेश्यमित्यादि श्रुतौअदृश्यत्वादिगुणकोभूतयोनिः परमात्मैव यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिश्रूयमाणसर्वज्ञत्वादेः परमेश्वरधर्मस्य भूतयोनौ निर्देशादितिसूत्राक्षरार्थः ।

२. शङ्कमानस्योत्तरमिति शङ्कमानं प्रतीदमुत्तरमुच्यत इत्यर्थः । ३. सामर्थ्यादिति तदात्मकाल्लिङ्गादित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संबन्धमादावेवाऽऽह स्वयमेव स्तुत्यर्थम् । एवं हि महद्भिः परमपुरुषार्थसाधनत्वेन गुरुणाऽऽयासेन लब्धा विद्येति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय विद्यां महीकरोति । स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः [1]प्रवर्तेरन्निति । प्रयोजनेन तु विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणसंबन्धमुत्तरत्र

भविष्यति । ननु विद्यायाः पुरुषकर्तृकत्वात्तत्प्रकाशकत्वेऽस्या उपनिषदोऽपि पौरुषेयत्वप्रसङ्गात्[2]पाक्षिकपुरुषदोषजत्वशङ्कयाऽप्रामाण्याद्ब्रह्मविद्याविषयसितत्वं नोपपद्यत इत्याशङ्कयाऽऽह—अस्याश्चेति । विद्यायाः [3]संप्रदायप्रवर्तका एव पुरुषा न [4]तूत्प्रेक्षया निर्मातारः । संप्रदायकर्तृत्वमपि नाधुनातनं येनानाश्वासः स्यात् किंत्वनादिपारम्पर्यागतम् । ततोऽनादिप्रसिद्धब्रह्मविद्याप्रकाशनसमर्थोपनिषदः पुरुषसंबन्धः संप्रदायकर्तृत्वपारम्पर्यलक्षण एव तमादावेवाऽऽहेत्यर्थः । विद्यासंप्रदायकर्तृत्वमेव पुरुषाणाम् । यथा विद्यायाः पुरुषसंबन्धस्तथैवोपनिषदोऽपि यदि पुरुषसंबन्धो विवक्षितः पौरुषेयत्वपरिहाराय तर्हि तथाभूतसंबन्धाभिधायकेनान्येन[5] भवितव्यं स्वयमेव[6] स्वसंबन्धाभिधायकत्वे [7]स्ववृत्तिप्रसङ्गादित्याशङ्कयाऽऽह—स्वयमेव स्तुत्यर्थमिति । विद्यास्तुतौ तात्पर्यान्न [8]स्ववृत्तिर्दोष इत्यर्थः । स्तुतिर्वा किमर्थेत्यत आह—श्रोतृबुद्धीति । प्रवर्तेरन्निति पाठो युक्तः । वृतुधातोरात्मनेपदित्वात् । विद्याया यत्प्रयोजनं

स्वतंत्र हैं । इस विद्या में पौरुषेयत्व की शंका नहीं कर सकते क्योंकि ब्रह्मादि देव एवं ऋषि इसके कर्ता नहीं हैं, अपितु संप्रदाय प्रवर्तक हैं । ब्रह्मादि वसिष्ठों की परंपरा से यह विद्या हम लोगों के पास तक आई है । ऐसा जानने से इसमें अनास्था नहीं होगी । इसलिये इसमें कहे गये पुरुष केवल विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं, विद्या के निर्माता नहीं ।

इस उपनिषद् में कही गई विद्या, संप्रदाय के कर्ता एवं परंपरा रूप सम्वन्ध को प्रारंभ में विद्या की स्तुति के लिये स्वयं ही श्रुति ने कहा है । इस प्रकार महान् पुरुषों द्वारा परम पुरुषार्थ के साधन रूप से अत्यन्तायास पूर्वक यह विद्या प्राप्त की गई । ऐसा जानने पर श्रोताओं की बुद्धि में इसके प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो जाय । इसीलिये विद्या की महिमा गायी है । क्योंकि स्तुति द्वारा विद्या में रुचि उत्पन्न करा देने पर अनायास ही आदर पूर्वक पुरुष प्रवृत्त हो जाता है ।

ब्रह्मविद्या का जो प्रयोजन है, वही इस मुण्डकोपनिषद् का भी प्रयोजन है । क्योंकि उपनिषद के श्रवण आदि से ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है । इसलिये मोक्षरूप प्रयोजन साध्य है और ब्रह्मविद्या उसका साधन है । ऐसे ही ब्रह्मविद्या साध्य है और उपनिषद् उसका साधन है । इस प्रकार प्रयोजन के साथ विद्या का और विद्या के साथ उपनिषद् का साध्य साधन रूप सम्बन्ध आगे श्रुति "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इस वाक्य से बतलायेगी । संसार एवं उसके कारण की निवृतिरूप फल परा विद्या से ही प्राप्त हो सकता है । अपर शब्द वाच्य षडंग-वेद आदि से नहीं, क्योंकि वेदविधि और प्रतिषेध मात्र-परक हैं । ऐसी अपरा विद्या में संसार के कारण अविद्या आदि दोषों को निवृत्त करने की शक्ति नहीं है । इस बात को

१. प्रवर्तेरन्निति मुमुक्षव इतिशेषः । तथा चाधिकारिप्रदर्शनमनेन सम्पद्यत इतिभावः । २. पुरुषस्य दोषवत्त्वेऽपि वाक्यमात्रस्य तद्दोषप्रयुक्तत्वनियमासंभवादाह-पाक्षिकेति संदिग्धपुरुषदोषजत्वेत्यर्थः । ३. सम्प्रदायेति उपदेशेति यावत् । ४. कल्पनया । ५. अन्येन भवितव्यमिति 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययमितिवदितिभावः । ६. स्वयमेवेत्यादि स्वपुरुषसम्बन्धस्य स्वप्रतिपाद्यत्वे स्वस्यापि स्वप्रतिपाद्यत्वाज्ज्ञप्तावात्माश्रयः स्यात् स्वज्ञाने स्वस्य प्रतिपादकत्वेनापेक्षणादितिभावः । ७. यद्वा स्ववृत्तीत्यत्र वृत्तिर्व्यापारःस्वस्य स्वस्मिन्प्रतिपादकत्वात्मकस्तथा चैकत्र विरुद्धकर्तृकर्मभावप्रसङ्गो दोष इतिभावः । ८. न स्ववृत्तिर्दोष इति तात्पर्यविशयीभूत एवार्थे सति सम्भव आत्माश्रयादीनां दोषत्वं प्रकृते तु स्वस्य प्रत्यक्षेणैवावगमान्न स्वप्रतिपादने तात्पर्यं स्तुतिमात्रविषयकत्वात्तात्पर्यस्येति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वक्ष्यति—"भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिना । अत्र चापरशब्दवाच्यायामृग्वेदादिलक्षणायां विधिप्रतिषेधमात्रपरायां विद्यायां संसारकारणाविद्यादिदोषनिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा परापरविद्याभेदकरणपूर्वकमविद्यायामन्तरे[1] वर्तमाना इत्यादिना। तथा परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवै[2]राग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां "ब्रह्मविद्यामाह-परीक्ष्य"लोका-

तदेवास्या उपनिषदोऽपि प्रयोजनं भविष्यतीत्यभिप्रेत्य विद्यायाः प्रयोजनसंबन्धमाह—प्रयोजनेन त्विति । संसारकारणनिवृत्तिर्ब्रह्मविद्याफलं चेत्तर्ह्यं परविद्ययैव तन्निवृत्तेः संभवान्न तदर्थं ब्रह्मविद्याप्रकाशकोपनिषद्व्याख्यातव्येत्याशङ्क्याऽऽह—अत्र चेति । संसारकारणमविद्यादिदोषस्तन्निवर्तकत्वमपरविद्यायाः कर्मात्मिकाया न संभवत्यविरोधात् । न हि शतशोऽपि प्राणायामं कुर्वतः शुक्तिदर्शनं विना तदविद्यानिवृत्तिर्दृश्यते । ततोऽपरविद्यायाः संसारकारणाविद्यानिवर्तकत्वं नास्तीति स्वयमेवोक्त्वा ब्रह्मविद्यामाहेति संबन्धः । किंच परमपुरुषार्थसाधनत्वेन ब्रह्मविद्यायाः परविद्यात्वं निकृष्टसंसारफलत्वेन च कर्मविद्याया अपरविद्यात्वम् । ततः समाख्याबलादपरविद्यायामोक्षसाधनत्वाभावोऽवगम्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—परापरेति । यच्चाऽऽहुः कर्मजडाः केवलब्रह्मविद्यायाः [6]कर्तृसंस्कारत्वेन कर्माङ्गत्वात्स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसाधनत्वं नास्तीति तदनन्तरश्रुत्यैव निराकृतमित्याह—तथा परप्राप्तिसाधनमिति । ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे कर्मणो निन्दा न स्यात् । न खल्वङ्गविधानाय प्रधानं विनिन्द्यते । अत्रतु सर्वसाध्यसाधननिन्दया तद्विषयवैराग्याभिधानपूर्वकं परप्राप्तिसाधनं ब्रह्मविद्यामाह । अतो ब्रह्मविद्यायाः स्वप्रधानत्वात्तत्प्रकाशकोपनिषदां न[7] कर्तुः स्तावकत्वमित्यर्थः । यद्युपनिषदां स्वतन्त्रब्रह्म-

पर और अपर विद्या का भेद बतलाकर "अविद्यायाम् अंतरे वर्तमानाः" इत्यादि वाक्य से स्वयं ही श्रुति बतलायेगी । अपराविद्या विधि-प्रतिषेध कर्मरूप है, उसका संसार के कारण अविद्या-आदि दोष के साथ कोई विरोध नही है । इसलिये वह अविद्या-आदि को निवृत्त नहीं कर सकती । सैकड़ों प्राणायाम करने पर भी सीप ज्ञान के बिना उसकी अविद्या एवं रजत भ्रांति मिटती हुई नहीं देखी गई है । अतः अपरा विद्या संसार के कारण अविद्या को नहीं मिटा सकती है । इसे स्वयं श्रुति कहती है । परन्तु परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का साधन होने से ब्रह्मविद्या को पर किन्तु निकृष्ट संसार रूप फल का साधन होने से दूसरी को अपर कहा गया है । ऐसी समख्या के बल से भी अपर विद्या में मोक्ष साधनत्वाभाव जाना जाता है । अपरा विद्या का साधन धनपुत्रादि हैं, और साध्य स्वर्गादि हैं । इन संपूर्ण साधन-साध्य विषयों से वैराग्य पूर्वक पर विद्या प्राप्त होती है । इसमें आचार्य कृपा भी असाधारण कारण है । इसीलिये दृष्टादृष्ट विषय वैराग्यपूर्वक गुरु कृपा से लभ्य ब्रह्मविद्या को "परीक्ष्यलोकान्" इत्रादि वाक्य द्वारा श्रुति बतलाती हैं । अतएव उपनिषद् श्रवण करने वाले अनेक साधको में से जिसके ऊपर गुरु कृपा होती है, ऐसे विशिष्ट अधिकारी को ही ब्रह्मज्ञान हो पाता है, सबको नहीं ।

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव व भवति" (जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है) 'परामृताः परिमुच्यन्तिसर्वे' (निरपेक्ष अमृतत्व को प्राप्त हुये मनुष्य सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं ।) ऐसे वाक्यों से श्रुति बार-बार ब्रह्मविद्या के प्रयोजन मोक्ष को बतला रही है । ब्रह्मज्ञान स्वतंत्र मोक्ष का साधन है, कर्म का अंग नहीं है । जिस प्रकार हाथ में कंकण होने पर भी विस्मृत हो जाने से कंकण अप्राप्तसा कहा जाता

१. मु० २।२।८ । २. मु० १।२।८ । ३. मु० वैराग्येति अनेनैव वा वैराग्यादिसम्पन्नोऽधिकारी सूचयितव्यः । ४. ब्रह्मविद्यामिति अनेन विषयमपि सूचयति । ५. मु० १।२।१२ । ६. कर्तृसंस्कारत्वेनेति विद्वान्यजेतेत्यादि श्रुत्या विद्याया यजमानसंस्कारत्वावगमादिति भावः । ७. ना स्तावकत्वमिति आत्मनो ब्रह्मत्वबोधनं स्तुत्यभिप्रायेणेति भावः । कर्तुः स्तावकत्वमिति अत्र कतृस्तावकर्त्वमित्येव लिखित पाठः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नित्यादिना। प्रयोजनं चासकृद्ब्रवीति 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति'। 'परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे इति च। ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारस्तथाऽपि संन्यासनिष्ठैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनं न कर्मसहितेति भैक्ष्यचर्यां चरन्तः 'संन्यासयोगादिति च ब्रुवन्दर्शयति। विद्या-कर्मविरोधाच्च। न हि ब्रह्मात्मैकत्वदर्शनेन सह कर्म स्वप्नेऽपि संपादयितुं शक्यम्।

विद्याप्रकाशकत्वं स्यात्तर्हि तदध्येतॄणां सर्वेषामेव किमिति ब्रह्मविद्या न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—गुरुप्रसाद-लभ्यामिति। गुर्वनुग्रहादिसंस्काराभावात्सर्वेषां यद्यपि न भविष्यति तथाऽपि विशिष्टाधिकारिणां भविष्यतीति भावः। ननु स्वतन्त्रा चेद्ब्रह्मविद्या तर्हि" प्रयोजनसाधनं न स्यात्। सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोः 'प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यतावगमात्तत्राऽऽह—प्रयोजनं चेति। स्मरणमात्रेण" विस्मृतसुवर्णलाभे सुखप्राप्ति-प्रसिद्धे रज्जुतत्त्वज्ञानमात्राच्च सर्पजन्यभयकम्पादिदुःखनिवृत्तिप्रसिद्धेश्च न प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यत्वं प्रयो-जनस्यैकान्तिकम्। अतो विश्रब्धं श्रुतिः प्रयोजनसंबन्धं विद्याया असकृद्ब्रवीति। तस्मात्तत्प्रकाशकोप-निषदो व्याख्येयत्वं संभवतीत्यर्थः। यच्चाऽऽहुरेकदेशिनः स्वाध्यायाध्ययनविधेरर्थावबोधफलस्य 'त्रैवर्णि-काधिकारत्वादधीतोपनिषज्जन्ये 'ब्रह्मज्ञानेऽस्त्येव सर्वेषामधिकारः। "ततः सर्वाश्रमकर्मसमुच्चितैव ब्रह्मविद्या मोक्षसाधनमिति तत्राऽऽह—ज्ञानमात्र इति। "सर्वस्वत्यागा"त्मकसंन्यासनिष्ठैव परब्रह्मविद्या मोक्षसाधनमिति वेदो दर्शयति। तादृशसंन्यासिनां च कर्मसाधनस्य "स्वस्याभावान्न कर्मसंभवः। "आश्रमधर्मोऽपि शमदमाद्युपबृंहितविद्याभ्यासनिष्ठत्वमेव। "तेषां शौचाचमनादिरपि तत्त्वो नाऽऽश्रम-धर्मो लोकसंग्रहार्थत्वात्। ज्ञानाभ्यासेनैवापावनत्वनिवृत्तेः। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इति स्मरणात्। "त्रिषवणस्नानविध्यादेरज्ञसंन्यासिविषयत्वात्। अतः कर्मनिवृत्त्यैव साहित्यं ज्ञानस्य न

है और स्मरण दिलाने पर प्राप्त कंकण की प्राप्ति मानी जाती है। एवं रज्जु में त्रैकालिक सर्प का अत्यन्ताभाव होता हुआ भी भ्रान्त पुरुष को सर्प जन्य भय कंप आदि दुःख होते ही हैं और रज्जु तत्त्व ज्ञान से इनकी निवृत्ति हो जाती है। ठीक वैसे ही आत्मरूप से नित्य प्राप्त ब्रह्म की भी अनादि अनि-र्वचनीय अविद्या के कारण अप्राप्ति कही जाती है और तत्त्व ज्ञान से उसकी प्राप्ति मानी जाती है वैसे ही अज्ञान जन्य संपूर्ण दुःख का वस्तुतः अभाव होता हुआ भी आत्मा में उनका आरोप होता है

---

१. मु० ३।२।६। २. मु० ३।२।६। ३. संन्यासनिष्ठेति निष्ठावत्त्वमत्र सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तथा च संन्या-समानाधिकरणेत्यर्थः। संन्यासनिष्ठैवेति अनेन च संन्यासिनां मुख्याधिकारित्वं सूच्यत इति ध्येयम्। ४. मु० १। २।११ भैक्ष्यचर्यामिति यद्यपि सगुणविद्यामधिकृत्येदमुक्तं तथापि सगुणविद्यायाः संन्यासनिष्ठत्वे निर्गुणविद्याया-स्तत् कैमुत्यन्यायसिद्धमिति भावः। ५. प्रयोजन साधनं न स्यादिति अत्रायं प्रयोगः विमता विफला प्रवृत्त्याद्यज-नकत्वाद्व्यतिरेकि निदर्शनं कर्म विद्या इति। ६. प्रवृत्तीत्यादि ब्रह्मविद्यायाश्च प्रवृत्त्याद्यजनकत्वादिति भावः। ७. व्यतिरेकव्याप्तिं व्यभिचारयति स्मरणेत्यादिना। ८. त्रैवर्णिकाधिकारत्वादिति त्रैवर्णिकोद्देश्यकत्वादिति यावत्। ९. अर्थाववोधफलस्येति विधिवेशेण फलं व्यनक्ति ब्रह्मज्ञान इति। १०. तत इति ब्रह्मविद्या आश्रमकर्मसमुच्चित-फलजनिका आश्रमिनिष्ठत्वात्कर्मविद्यावदिति भावः। ११. अनुमाने बाधं दर्शयन्ननाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। ससंन्यासीति सिद्धसाधनतामाशङ्क्य संन्यासं परिष्करोति सर्वस्वेत्यादिना। १२. त्यागात्मकसंन्यासेति भैक्ष्य-मित्येवात्र गमकमिति भावः। १३. धनस्य। १४. संन्यासाश्रम धर्मात्मककर्मणैव समुच्चयमाशङ्क्याह आश्रमेति यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिस्मृतेरिति भावः। १५. "एकालिङ्गे गुदेतिस्रस्तथा वामकरे दश। उभयोः स-दातव्या मृदः शुद्धिममीप्सता॥ एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्। त्रिगुणंतु वनस्थानां यतीनां चतुर्गुण"मिति शौचादि कर्माप्यस्ति संन्यासाश्रमधर्म इत्याशङ्क्य निषेधति तेषामित्यादिना। आसुप्तेरामृतेः का-नयेद्वेदान्तचिन्तयेत्याविवचनादिति भावः। १६. 'प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः। भिक्षूणां त्रिषवणं तु ब्रह्मचारिणामति व्यासोक्तलोकसंग्रहानुपयुक्तस्य गतिं वक्ति-त्रिषवणेत्यादिना। 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यादि-वचनादितिभावः। 'मु० ३।२।६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विद्यायाः [१]कालविशेषाभावादनियतनिमित्तत्वात्कालसंकोचानुपपत्तिः । यत्तु गृहस्थेषु ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृत्वादि लिङ्गं न [२]तत्स्थितन्यायं बाधितुमुत्सहते । न हि विधिशतेनापि तमःप्रकाशयोरेकत्वसंभवः शक्यते कर्तुं किमुत लिङ्गैः केवलैरिति । एवमुक्तसंबन्ध-[३]

कर्मणेत्यर्थः । इतश्च न कर्मसमुच्चिता विद्या मोक्षसाधनमित्याह—विद्याकर्मविरोधाच्चेति । अकर्तृ ब्रह्म वास्मीति करोमि चेति स्फुटो व्याघात इत्यर्थः । यदा ब्रह्मात्मैकत्वं विस्मरति तदोत्पन्नविद्योऽपि करिष्यति ततः समुच्चयः संभाव्यत इति न वाच्यमित्याह—विद्याया इति । ननु गृहस्थानामङ्गिरः-प्रभृतीनां विद्यासंप्रदायप्रवर्तकत्वदर्शनाद्गृहस्थाश्रमकर्मभिः समुच्चयो लिङ्गादवगम्यत इत्या-

एवं आत्मज्ञान से उनकी निवृत्ति मानी जाती है । इसलिये यह वेदांत-महावाक्य-जन्य ब्रह्मात्मैक्य बोध स्वतंत्ररूप से प्रयोजन का साधन है । यह कर्म का अंग नहीं है ।

यद्यपि ज्ञान मात्र में सभी आश्रमवासियों का अधिकार है, न कि केवल संन्यासी का । तथापि सर्वस्व-त्याग रूप संन्यासनिष्ठ ही पर-ब्रह्म विद्या मोक्ष का साधन है, कर्म सहित ब्रह्मविद्या नहीं । क्योंकि "संपूर्ण एषणाओं से ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं ।" "संन्यास योग से युक्त हो" ये सब श्रुति बतलाती हैं । ब्रह्मविद्या तथा कर्म का परस्पर विरोध होने से भी ब्रह्मज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय नहीं बनता । अकर्त्ता ब्रह्मस्वरूप ही मैं हूं, पुनः कर्म करता हूं ऐसा मानना व्याघातदोष-ग्रस्त है । अतः ब्रह्मात्मैकत्व अपरोक्ष-अनुभव के साथ कर्म का सह संपादन स्वप्न में भी कोई नहीं कर सकता, जाग्रत में करना तो दूर रहा । यदि कहो कि जब ब्रह्मज्ञानी अपने स्वरूप ब्रह्म को भूल जायेगा, उस समय ज्ञानकर्म समुच्चय की संभावना बन जायगी । ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि ब्रह्मविद्या किसी काल विशेष की परिधि से घिरी हुई नहीं है और इसका निमित्त भी नियत नहीं है । इसलिये ब्रह्मज्ञान में कालका संकोच मानना अनुचित है । यदि कहो कि अंगिरा प्रभृति ऋषियों में ब्रह्मविद्या-संप्रदाय प्रवर्तकत्व देखा गया है । अतः गृहस्थाश्रम कर्म के साथ ब्रह्मज्ञान के समुच्चय में उक्त लिंग स्पष्ट है । वैसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि गृहस्थ में भी ब्रह्मविद्या-संप्रदाय-कर्तृत्व आदि लिङ्ग पूर्वोक्त न्याय को बाधने में समर्थ नहीं हैं । न्याय-युक्त लिंग ही किसी अर्थ का बोधक हो सकता है । जब ज्ञान और कर्म के समुच्चय में न्याय नहीं है बल्कि दोनों परस्पर विरोधी हैं, तो भला ऐसे दो परस्पर विरोधी का लिंग से समुच्चय कैसे कह सकते हो ? ब्रह्मविद्या के संप्रदाय-प्रवर्तकों में गार्हस्थ्य केवल आभास मात्र है । क्योंकि तत्व चिंतन से उसका बार-बार बाध देखा गया है । इसलिये तो जनक ने अपना उदुगार प्रकट किया है 'मिथिलायां प्रदीप्तायाम् न मे दहति किंचन' अर्थात् मिथिलापुरी के जल जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता ।

परस्पर विरोधी अंधकार और प्रकाश को एक स्थान में सैकड़ों विधि वाक्य नहीं रख सकते, तो भला अकेले लिंग से तत्वज्ञान और कर्म (विरोधी तत्त्व) का समुच्चय कैसे हो सकता है ? इस प्रकार

१. कालसंकोचाभावे हेतुद्वयमाह—कालेत्यादिना यथा नित्यस्य सन्ध्यावन्दनादेर्नियतकालत्वात्कालसंकोचो यथा वा नैमित्तिकस्य पुत्रजन्मादिनियतनिमित्तकत्वादेव कालसंकोचो न तथोत्पन्नविद्यायाः कालनिमित्तनियम इति काल-संकोचानुपपत्तिरित्यर्थः । कालविशेषाद्यभावश्च "नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यन्नि" त्यादिस्मृते-रवगम्यते । न च प्रमाणेनापरोक्षीकृतस्य विस्मरणं संभवि वृत्त्यभावमात्रं तु न विस्मरणं चिन्तनादिनाप्यनुपतिष्ठ-माने एव विस्मृतं मयेति व्यवहारदर्शनादिति भावः । २. स्थितन्यायमिति न्यायसिद्धं विरोधमिति यावत् ।
३. उक्तसम्बन्धेति-विषयग्रन्थसम्बन्धस्तु प्रतिपाद्यादिरूपः प्रसिद्ध एवेति नोक्तोऽप्युक्तप्राय एव पुरुषप्रयोजनसम्बन्ध-श्चोक्त एव उपलक्षणं चैतदधिकारिविषययोस्तयोरपि सूचितत्वादिति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयोजनाया उपनिषदोऽल्पाक्षरं ग्रन्थविवरणमारभ्यते । य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत् । उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात् ।

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

[सम्पूर्ण इन्द्रादि देवताओं में (ज्ञान वैराग्यादि के कारण बढ़ा हुआ) ब्रह्मा पहले स्वयं उत्पन्न हुआ । वह विश्व का रचीयता तथा सम्पूर्ण भुवन का पालन करने वाला था । उसने समस्त विद्याओं की आश्रायभूत-ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया ॥१॥]

शङ्कचाऽह—यत्त्विति । लिङ्गस्य न्यायोपबृंहितस्यैव गमकत्वाङ्गीकारात्समुच्चये च न्यायाभावात्प्रत्युत विरोधदर्शनान्न लिङ्गेन समुच्चयसिद्धिः । संप्रदायप्रवर्तकानां च गार्हस्थ्यस्याऽऽभासमात्रत्वात्तत्त्वानुसंधानेन मुहुर्मुहुर्बाधात् ।

"यस्य मे चास्ति सर्वत्र यस्य मे नास्ति किंचन । मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते ॥"

इत्युद्गारदर्शनात्कर्माभासेन न समुच्चयः स्यात्तत्र च विधिर्न दृश्यत इति भावः । साधितं व्याख्येयत्वमुपसंहरति—एवमिति । ग्रन्थे कथमुपनिषच्छब्दप्रयोग इति शङ्कायामुपनिषच्छब्दवाच्यविद्यार्थत्वाल्लाक्षणिक इति दर्शयितुं विद्याया उपनिषच्छब्दार्थत्वमाह—य इमामिति । आत्मभावेनेति । प्रेमास्पदतयेत्यर्थः । अनर्थपूगं क्लेशसमूहं निशातयति शिथिलीकरोत्यपरिपक्वज्ञानादिद्वित्रैर्जन्मभिर्मोक्षसंभवादित्यर्थः ।

इस उपनिषद् का सम्बन्ध और प्रयोजन बतला दिये हैं । अब उसका अल्पाक्षर ग्रंथ—व्याख्यान प्रारंभ करना संभव हो गया है । जो साधक इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते हैं, अर्थात् श्रद्धा भक्ति आदि साधन-संपन्न हो आत्मभावेन ब्रह्म को जानते हैं उनके गर्भवास, जन्म, जरा, रोग आदि संपूर्ण दुःख-समूह को यह ब्रह्मविद्या शिथिल कर डालती है । परब्रह्म को प्राप्त करा देती है और अविद्या आदि संसार-कारण को सर्वथा नष्ट कर डालती है । इसीलिये ब्रह्मविद्या को उपनिषद् कहते हैं क्योंकि उप-नि-पूर्वक सद् धातु का ऐसा ही अर्थ होता है । ऐसी ब्रह्मविद्या का संपादक होने से ग्रंथ को भी औपचारिक दृष्टि से उपनिषद् कहा गया ।

"ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥"

---

१. सदेः प्रथमोक्तमर्थं विशरणमादायाह निशातयतीति । २. न्यायेति न हि निषादस्थपतिं याजयेदिति निषादस्याशेष यज्ञविद्याधिकारे लिङ्गमभ्युपेयते इति भावः । ३. न्यायविरोधाल्लिङ्गस्यान्यथानेयत्वं दर्शयन्नाह-सम्प्रदायेत्यादि । ४. अस्तु तर्ह्य विरोधात्कर्माभासेनैव समुच्चय इत्याशङ्क्याह-कर्मेत्यादि । ५. नेत्यत्र हेतुमाह-तत्र चेति । अविरोधेऽपि विध्यभावादेव न समुच्चयः । निष्फलत्वाच्चेति चार्थः । ६. अवसादयतीति वक्ष्यमाणेन पौनरुक्त्यभ्रमं वारयितुं निशातयतीत्येतत्परिष्करोति-शिथिलीकरोतीति । ७. परिपक्वज्ञानस्यात्यन्तमवसादयतीत्यत्र विवक्षितत्वादिह विवक्षितमाह-अपरिपक्वेति । विद्यामिति सामान्योक्तेरिति भावः । शिथिलीकरणं विशदयति द्वित्रैरिति । शनैर्नंक्ष्यद्धि लोके शिथिलीभवदव्यपदिश्यते । अपरिपक्वेत्युक्त्या न यथाश्रुतस्यैव कारणत्वमयोगात् पक्वीभूतादिति च विवक्षितत्वादित्यवधेयम् । ८. द्वित्रैरिति कपिञ्जलाधिकरणन्यायेनेति ध्येयम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मा परिवृढो महान्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिशेत इति । देवानां द्योतनवतामिन्द्रादीनां प्रथमो गुणैः प्रधानः सन्प्रथमोऽग्रे वा संबभूवाभिव्यक्तः सम्यक्स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः । न तथा यथा धर्माधर्मवशात्संसारिणोऽन्ये जायन्ते । "योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः" इत्यादिस्मृतेः । विश्वस्य सर्वस्य जगतः कर्तोत्पादयिता । भुवनस्योत्पन्नस्य गोप्ता पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये । स एवं प्रख्यातमहत्त्वो ब्रह्मा ब्रह्मविद्यां ब्रह्मणः परमात्मनो विद्यां ब्रह्मविद्याम् "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" इति विशेषणात्परमात्मविषया हि सा । ब्रह्मणा वाऽग्रजेनोक्तेति ब्रह्मविद्या । तां सर्वविद्याप्रतिष्ठां सर्वविद्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्सर्वविद्याश्रयामित्यर्थः । सर्वविद्यावेद्यं वा वस्त्वनयैव विज्ञायत इति । "येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति श्रुतेः । सर्वविद्याप्रतिष्ठामिति च स्तौति विद्यामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ज्येष्ठश्चासौ पुत्रश्चानेकेषु ब्रह्मणः सृष्टिप्रकारेष्वन्यतमस्य सृष्टिप्रकारस्य प्रमुखे पूर्वमथर्वा सृष्ट इति ज्येष्ठस्तस्मै ज्येष्ठपुत्राय प्राहोक्तवान् ॥ १ ॥

"ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥"

इति स्मरणाद्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैः सर्वानन्यानतिक्रम्य वर्तत इति परिवृढत्वं सिद्धमित्यर्थः

"योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एष स्वयमुद्बभौ ॥"

'स्वयमुद्भूतः' शुक्रशोणितसंयोगमन्तरेणाऽऽविर्भूतः'—इति स्मृतेः । स्वातन्त्र्यं गम्यत इत्यर्थः । वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तं ब्रह्मैव ब्रह्मविद्या । तच्च ब्रह्म सर्वाभिव्यञ्जकम् । ततः सर्वविद्यानां व्यञ्जकतयाऽऽश्रीयत इति सर्वविद्याश्रयाऽथवा सर्वविद्यानां प्रतिष्ठा परिसमाप्तिर्भवति यस्यामुत्पन्नायां ज्ञातव्याभावात्सा सर्वविद्याप्रतिष्ठेत्याह—सर्वविद्यावेद्यं वेति ॥१॥२॥

जिस जगत्पति में निःसीम ज्ञान, निःसीम वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म ये चारों एक साथ हों, उसको ब्रह्मा कहते हैं । इन ज्ञानादि के द्वारा ब्रह्मा सभी से बढ़ा-चढ़ा है । इसलिये उसे ब्रह्मा कहते हैं । द्योतन गुणवाले इन्द्रादि सभी देवताओं में गुणों के कारण वह ब्रह्मा प्रथम अर्थात् प्रधान है । अथवा इन्द्रादि देवताओं से पहले वह शुक्र शोणित सम्बन्ध के बिना ही स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त हुआ । जैसे पुण्य-पाप कर्मवशात् संसारी जीव उत्पन्न होते हैं, उस प्रकार ब्रह्मा उत्पन्न नहीं हुआ । किन्तु स्वतंत्र रूप से ही अभिव्यक्त हुआ था । 'जो वह इन्द्रियों से अतीत, अग्राह्य, सूक्ष्म और अव्यक्त सनातन कहा गया है । वह स्वयं ही प्रकट हुआ' ऐसी स्मृति भी है । वह संपूर्ण जगत् का उत्पादक है । एवं उत्पन्न हुए का पालक है । ब्रह्मा जगत् का स्रष्टा है, ऐसा कहना तो ठीक, किन्तु वह पालक भी है यह केवल ब्रह्मा का विशेषण ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये दिया है । इस प्रकार प्रख्यात महिमा वाले ब्रह्मा ने संपूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठा-रूप परमात्म-विद्या का उपदेश किया । "जिसके द्वारा त्रिकालाबाधित सत्य अक्षर पुरुष को

---

१. योऽसाविति । मनु० १।७ अत्र योऽसावतीन्द्रियग्राह्य इति पाठः कुल्लूकभट्टाभिमतः अतीन्द्रियं मनस्तद्ग्राह्य इति तेन व्याख्यातत्वादितिबोध्यम् । २. विशेषणमिति विशेषणद्वयमित्यर्थ । ३. मु० उ० १।२।१३ । ४. विशेषणोक्तिफलं वक्ति-सर्वेत्यादिना । ५. भृग्वादयः (भृग्वादय इति महर्षय इत्यस्यार्थतोऽयं संग्रहः । सप्तपूर्वे इत्यादि विरोधमाशङ्क्य कल्पभेदमादाय समाधत्ते-अनेकेष्वित्यादिना । ६. प्रमुखे आरम्भ इति यावत् । ७. पूर्वं प्रजान्तरापेक्षयेत्यर्थः । ८. भूत इत्यत्र भात इतियुक्तं वक्तुम् । ९. आश्रीयते-अपेक्ष्यतेऽङ्गीक्रियत इति वा अर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

[जिस विद्या का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था उसी ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राचीन काल में अथर्वा ने अंगी नामक मुनि को किया और अंगी ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवह नामक मुनि से कहा तथा भरद्वाज पुत्र सत्यवह ने शिष्य एवं पुत्र परंपरा से आई हुई उस विद्या को अंगिरा से कहा ॥२॥]

यामेतामथर्वणे प्रवदेतावदद्ब्रह्मविद्यां ब्रह्मा तामेव ब्रह्मणः प्राप्तामथर्वा पुरा पूर्वमुवाचोक्तवानङ्गिरेऽङ्गिर्नाम्ने ब्रह्मविद्याम्। स चाङ्गिर्भारद्वाजाय भरद्वाजगोत्राय सत्यवहाय सत्यवहनाम्ने प्राह प्रोक्तवान्। भारद्वाजोऽङ्गिरसे स्वशिष्याय पुत्राय वा परावरां परस्मात्परस्मादवरेण प्राप्तेति परावरा परावरसर्वविद्याविषयव्याप्तेर्वा तां परावरामङ्गिरसे प्राहेत्यनुषङ्गः ॥२॥

जानते हैं। वह ही ब्रह्म विद्या है।" ऐसा विशेषण परमात्म विद्या का कहा गया है। महावाक्य से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति में अभिव्यक्त ब्रह्म को ही ब्रह्म विद्या कहते हैं। अथवा अग्रजन्मा ब्रह्मा के द्वारा कही गई विद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं। संपूर्ण विद्याओं की अभिव्यक्ति का कारण होने से इसे संपूर्ण विद्याओं का आश्रय कहा गया है। अथवा सभी विद्याओं की वेद्य वस्तु इसी विद्या से जानी जाती है। इसके प्राप्त कर लेने पर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। अतः समस्त विद्याओं की समाप्ति रूप होने के कारण भी इस ब्रह्मविद्या को संपूर्ण विद्याओं की प्रतिष्ठा कहते हैं। 'जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है।' ऐसी दूसरी श्रुति भी है। अतः संपूर्ण विद्याओ की प्रतिष्ठा कह कर इसकी महत्ता-प्रतिपादन द्वारा स्तुति करते हैं, ऐसी ब्रह्मविद्या का उपदेश स्वयंभू ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को किया था। ब्रह्मा की अनेक प्रकार की सृष्टियां हुई हैं, उनमें एक सृष्टि में अथर्वा को ही सर्वप्रथम सर्जन किया था। इसलिये अथर्वा ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र माना गया है। उस अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मा ने पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्मविद्या का उपदेश स्पष्टरूप से कर दिया ॥१॥

ब्रह्मा ने जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश अथर्वा को किया था– ब्रह्मा से प्राप्त उसी ब्रह्म विद्या का उपदेश बहुत प्राचीन काल में अंगिरा तामक ऋषि को अथर्वा ने किया। पुनः अंगिरा ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न सत्यवह नाम वाले ऋषि को किया और भारद्वाज ने अपने शिष्य या पुत्र अंगिरस को किया। पहले के वृद्धों से पश्चात् भावी ऋषियों ने इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया था। इसलिये इसे परावर कहते हैं। अथवा ऊंची से ऊंची और निम्न कोटि की विद्याओं के विषय में व्याप्त होने के इस विद्या को परावर कहते हैं। ऐसी परावर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मविद्या का उपदेश भारद्वाज ने अंगिरस को किया। अन्तिम वाक्य में क्रिया वाचक पद न होने के कारण पूर्वोक्त वाक्य में कही गई 'प्राह' क्रिया का संबंध इस अन्तिम वाक्य में भी कर लेने चाहिये ॥२॥

शुनक का पुत्र महान् गृहस्थ शौनक ने शास्त्र विधि के अनुसार भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरस के पास जाकर पूछा। शौनक और अंगिरस के सम्बन्ध से पहले संभवतः गुरु उपसदन विधि पूर्वक नहीं किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है। इसलिये इस मंत्र में 'विधिवत् उपसन्नः' यह विशेषण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

[शुनक के पुत्र प्रसिद्ध महागृहस्थ शौनक ने भारद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरा के पास विधि पूर्वक जाकर पूछा भगवन् ! किस वस्तु के जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञातव्य पदार्थ जान लिया जाता है ? अर्थात् जिसे जानने के बाद फिर जानना शेष नहीं रह जाता ॥३॥]

शौनकः शुनकस्यापत्यं महाशालो महागृहस्थोऽङ्गिरसं भारद्वाजशिष्यमाचार्यं विधिवद्यथाशास्त्रमित्येतत् । उपसन्न उपगतः सन्पप्रच्छ पृष्टवान् । शौनकाङ्गिरसोः संबन्धादर्वा-[1]ग्विधिवद्विशेषणादुपसदनविधेः पूर्वेषामनियम इति गम्यते । [2]मर्यादाकरणार्थं [3]मध्यदीपिकान्यायार्थं वा विशेषणम् । [4]अस्मादादिष्वप्[5]युपसदनविधेरिष्टत्वात् । किमित्याह—

---

[6]प्रश्नबीजमाह—एकस्मिन्निति । [7]उपादानात्कार्यस्य पृथक्सत्त्वाभावादुपादाने ज्ञाते तत्कार्यं ततः पृथङ्नास्तीति ज्ञातं भवतीति सामान्यव्याप्तिस्तद्बलाद्वा पप्रच्छेत्याह—अथवेति । प्रश्नाक्षरा[8]ञ्जस्यमाक्षिप्य समाधत्ते—नन्वविदिते हीत्यादिना । किमस्ति तदिति [9]प्रयोगेऽक्षरबाहुल्येनाऽऽयासः स्यात्तद्भीरुतया कस्मिन्नित्यक्षरा[9]ञ्जस्ये लाघवात्प्रश्न इत्यर्थः ॥३॥४॥

दिया गया है । अथवा मध्य दीपिका न्याय बतलाने के लिये या मर्यादा करने के लिये उक्त विशेषण लगाया गया है । क्योंकि समित्पाणि होकर विधिपूर्वक गुरु के पास जाना तो हम लोकों को भी इष्ट ही है ।

क्या पूछा ? इस पर कहते हैं । हे भगवन् ! किसके जानने पर यह संपूर्ण विज्ञेय वस्तु विशेष रूप से ज्ञात हो जाती है ? ऐसा शौनक ने पूछा । इस मंत्र में 'भगवः' शब्द सम्बोधन के लिये आया है । और 'नु' यह अव्यय वितर्क अर्थ में है । एक के जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है ऐसा शिष्ट पुरुषों का वचन शौनक ने सुना था । अब उसके सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा से 'कस्मिन् नु' ऐसा वितर्क करता हुआ शौनक ने पूछा । क्योंकि शिष्ट-वचनों के द्वारा सामान्य रीति से ज्ञात होने पर भी विशेषरूप से ज्ञात न होने के कारण प्रश्न बन जाता है । अथवा जगत् कार्य है इसकी सत्ता अपने उपादान कारण से पृथक् नहीं है । अतः उपादान कारण के जान लेने पर कार्य ज्ञात होता है ऐसी सामान्य व्याप्ति के बल से प्रश्न का होना अनिवार्य है । इस प्रकार लोक सामान्य दृष्टि से जानकर ही शौनक ने पूछा । क्योंकि लोक में स्वर्णादि खण्ड विशेष लौकिक पुरुषों से स्वर्णत्वादि के जानने पर ज्ञात होते हुये देखे गये हैं । अतः सम्पूर्ण जगत् भेद का एक कौन-सा उपादान कारण है, जिसके जानने पर विश्व-ज्ञात हो जायेगा ? यदि शौनक को जगत् कारण सर्वथा अज्ञात था तो प्रश्न 'कस्मिन् इति' इस प्रकार बनता नहीं । ऐसी दशा में तो वह क्या है ? इस प्रकार पूछना चाहिये था, क्योंकि अस्तित्व के सिद्ध

---

१. अर्वागिति उदगित्यर्थः । २. पूर्वेषामनियमज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वेन विशेषणवैफल्यमाशङ्क्याह-मर्यादाकरणार्थमिति । उत्तरेषां नियमार्थमित्यर्थः । ३. अस्तु वा पूर्वेषामपि नियम इत्येवास्थायात्रैव विशेषणस्य गतिमाह-मध्यदीपिकेति। देहलीदीपकेत्यर्थः । ४. मर्यादेत्यादि व्यनक्ति- अस्मदादिष्विति । ५. मध्येत्यादि दीपयति- अपीति पूर्वेषु चेत्यर्थः । ६. प्रश्नबीजमिति सामान्यतो ज्ञानमित्यर्थः । ७. शाब्दबीजमुक्त्वाऽनुमानिकं तदाहेत्याह-उपादानादित्यादिना । ८. आञ्जस्यमिति आनुरूप्यमित्यर्थः । ९. अक्षराञ्जस्ये-अक्षरप्रयोगे इतियावत् । एवमपि नानुसूयं नाक्षराणामित्याख्यातुमेव- मुक्तिरिति ध्येयम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते नु इति वितर्के भगवो हे भगवन्सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवतीत्येकस्मिञ्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्शौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन्कस्मिन्निति वितर्कयन्पप्रच्छ। अथवा लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ। सन्ति लोके [१]सुवर्णादिशकलभेदाः सुवर्णत्वाद्येकत्वविज्ञानेन विज्ञायमाना लौकिकैः। तथा किन्वस्ति सर्वस्य जगद्भेदस्यैकं कारणम्। [२]यदेकस्मिन्विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति। [३]नन्वविदिते हि कस्मिन्निति [४]प्रश्नोऽनुपपन्नः। किमस्ति तदिति तदा प्रश्नो [५]युक्तः। सिद्धे ह्यस्तित्वे कस्मिन्निति स्यात्। यथा [६]कस्मिन्निधेयमिति। न। अक्षरबाहुल्यादायासभीरुत्वात्प्रश्नः [७]संभवत्येव कस्मिन्विज्ञाते सर्ववित्स्यादिति ॥३॥

होने पर ही 'कस्मिन् ?' इस सप्तम्यन्त पद का प्रयोग हो सकता है। जैसे बहुत मे आधार दीख रहे हों, तो इनमें में किस में अमुक वस्तु रक्खी जाय, ऐसा पश्न बनता है। सर्वथा अज्ञात रहने पर तो उक्त प्रकार का प्रश्न बनता ही नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह क्या है ? जिसके जानने पर सब ज्ञात हो जाता है, इस रीति से प्रश्न करने पर अक्षर अधिक हो जाने के कारण परिश्रम अधिक होगा। इस भय से मंत्रोक्त रीति द्वारा प्रश्न होना संभव हो जाता ही है कि किस एक के जानने पर ज्ञाता सर्ववित् हो जाता है। इस प्रकार प्रश्न करने में लाघव ही है। अतः शौनक का मंत्रोक्त प्रश्न करने का प्रकार ठीक ही है ॥३॥

उस शौनक से अंगिरा ने कहा कि दो विद्या संसार में जानने योग्य है। ऐसा वेद के तात्पर्य को जाननेवाले परमार्थदर्शी ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं। वे कौन सी दो विद्या जानने योग्य हैं ! इस पर ऋषि ने कहा कि परमात्मा को बतलाने वाली परा विद्या और पुण्य-पाप, उनके साधन एवं फल को बतलाने वाली अपरा विद्या है।

शंकाः–किसके जानने पर सर्वज्ञ हो जाता है ! ऐसा शौनक ने पूछा। इसके उत्तर में अंगिरा को यही बतलाना चाहिये था। दो विद्या जानने योग्य है, ऐसा अंगिरा का कहना बिना पूछे का ही उत्तर माना जायेगा। जिसके संबन्ध में शौनक ने पूछा ही नहीं, उसके उत्तर देने का उपक्रम अनुचित ही माना जायेगा। यह कोई दोष नहीं है। उत्तर देने में क्रम की अपेक्षा तो होती ही है। अपरा विद्या वस्तुतः अविद्या स्वरूप ही है। उसका निराकरण करना भी आवश्यक है। अपरा विद्या के विषय ज्ञात होने पर वास्तव में कुछ विदित नहीं होता है। इस प्रकार पूर्व पक्ष का खण्डन करने के बाद ही सिद्धांत का निरूपण आवश्यक होता है। इस न्याय से खण्डनीय पक्ष और निरूपणीय पक्ष उभय का बतलाना कोई अनुचित नहीं है ॥४॥

इन दोनो में अपरा विद्या कौनसी है ? इस प्रश्न का उत्तर श्रुति आगे दे रही है कि ऋगवेद,

---

१. सुवर्णादिशकलभेदा इति सुवर्णादिखण्डात्मकाभूषणभेदा इत्यर्थः। २. यदेकस्मिन्निति यस्मिन्नेकस्मिन्निति समासः। ३. अविदित इति अनिश्चितास्तित्वे इत्यर्थः। ४. प्रश्नोऽनुपपन्न इति कस्मिन्निति सप्तम्या अस्तित्व निश्चयावद्योतकत्वेन अस्तित्वनिश्चयात प्राक्सप्तमीघटितप्रश्नो न न्याय्य इतिभावः। ५. युक्त इति किमस्ति तदिति प्रथमाघटितप्रश्नस्यास्तित्वप्रश्नगर्भितत्वेन स न्याय्य इत्यर्थः। ६. कस्मिन्निधेयमिति निधानाधारनिश्चये हि सत्ययं प्रश्नस्तद्वदित्यर्थः। ७. संभवत्येवेति-अस्यापि प्रश्नस्यास्तित्वप्रश्नगर्भत्वानपायादिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

[उस शौनक से अंगिरा ने कहा, कि ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है, जानने योग्य विद्याएं दो ही हैं। एक परा और दूसरी अपरा। परमात्मा विद्या को परा और धर्माधर्म के साधन, उनके फल सम्बन्धी विद्या को अपरा कहते हैं ॥४॥]

तस्मै शौनकायाङ्गिरा ह किलोवाच । किमित्युच्यते । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति । एवं ह स्म किल [1]यद्ब्रह्मविदो वेदार्थाभिज्ञाः परमार्थदर्शिनो वदन्ति । के द्वे इत्याह । परा च परमात्मविद्या । अपरा च धर्माधर्म[2]साधनतत्फलविषया । ननु कस्मिन्विदिते सर्वविद्भवतीति शौनकेन पृष्टं तस्मिन्वक्तव्येऽपृष्टमाहाङ्गिरा द्वे विद्ये इत्यादि । नैष दोषः । क्रमापेक्षत्वात्प्रतिवचनस्य । [3]अपरा हि विद्याऽविद्या सा निराकर्तव्या । तद्विषये हि विदिते [4]न किंचित्तत्त्वतो विदितं स्यादिति । निराकृत्य हि पूर्वपक्षं पश्चात्सिद्धान्तो वक्तव्यो भवतीति न्यायात् ॥ ४ ॥

कल्पः [5]सूत्रग्रन्थः । अनुष्ठेयक्रमः कल्प इत्यर्थः । अविद्याया अपगम एव परप्राप्तिरुपचर्यते । अविद्यापगमश्च ब्रह्मावगतिरेवेति व्याख्यातमस्माभिर्ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽविद्यानिवृत्तिरित्येतद्व्याख्याना-वसरे । अतोऽधिगमशब्दोऽत्र प्राप्तिपर्याय एवेत्याह—न च परप्राप्तेरिति । साङ्गानां वेदानामपर-विद्यात्वेनोपन्यासात्ततः पृथक्करणाद्वेद[6]बाह्यतया ब्रह्मविद्यायाः परत्वं न संभवतीत्याक्षिपति—नन्विति । [7]"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" इति स्मृतेः कुदृष्टित्वादनुपादेया स्यादित्यर्थः । विद्याया वेदबाह्यत्वे तदर्थानामुपनिषदामप्यृग्वेदादिबाह्यत्वं प्रसज्येतेत्यर्थः । वेदबाह्यत्वेन पृथक्करणं न भवति । किंतु वैदिकस्यापि ज्ञानस्य [8]वस्तुविषयस्य [9]शब्दराश्यतिरेकाभिप्रायेणेत्याह —न वेद्यविषयेति ॥५॥

यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चारां वेद हैं और शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष ये छः वेद के अंग है। इन संपूर्ण अक्षर राशि को अपरा विद्या कहा है। उक्त अपरा विद्या से भिन्न यह परा विद्या कही गई है। जिसके द्वारा आगे कहे जाने वाले विशेषणों से विशिष्ट उक्त अक्षर ब्रह्म प्राप्त हो जाता है। अधिपूर्वक 'गम्' धातु का प्रायशः प्राप्ति अर्थ ही होता है। पर ब्रह्म की प्राप्ति और अवगम इन दोनों का कोइ भिन्न अर्थ नहीं है। अविद्या का हट जाना ही परमेश्वर की प्राप्ति है और कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

---

१. यदिति ये इत्यर्थः । यस्मादिति वा । २. तत् । ३. ननु क्रमापेक्षायामपि परां पुरोक्त्वा ततस्तद्विषयोक्तिरेव न्याय्याऽपरोक्तिस्तु क्वोपयुज्यत इत्याशङ्क्याह- अपराहीति । ४. न किंचिदिति-तया यद्विदितं न तद् याथात्म्येना-ध्यस्तमात्रविषयत्वात्तस्या इति भावः । त्रैगुण्यविषया वेदा इति स्मृतेः । ५. सूत्रग्रन्थ इति कात्यायनाश्वलाय-नापस्तम्बबौधायनादिमुनिरचितसूत्रसन्दर्भ इत्यर्थः । तद्विषयं व्यनक्ति-अनुष्ठेयक्रमः कल्प इति । कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽनेनेति व्युत्पत्तेः । ६. बाह्यतया --अनन्तर्गतत्वेनेत्यर्थः । ७. यावेदेति मनु. १२. अ. ९५श्लो. अत्र तमोनिष्ठत्वं नरकफलकत्वमिति कुल्लूकभट्टः--अज्ञानमूलकत्वमिति वाऽवगन्तुमर्हम् । ८. धर्मज्ञानस्यापि पृथ-गुक्तिप्रसङ्गं वारयितुं विशिनष्टि-वस्तुविषयस्येति । ९. शब्दराश्यतिरेकेति शब्दसमूहात्मकवेदापेक्षया भेदेत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

[उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये सांग चतुर्वेद अपरा विद्या है और जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है ॥५॥]

तत्र काऽपरेत्युच्यते । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इत्येते चत्वारो वेदाः [1]शिक्षा कल्पो व्याकरणं [2]निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमित्यङ्गानि षडेषाऽपरा विद्या । अथेदानीमियं परा विद्योच्यते यया [3]तद्वक्ष्यमाणविशेषणमक्षरमधिगम्यते प्राप्यते । अधिपूर्वस्य गमेः प्रायशः प्राप्त्यर्थत्वात् । न च [4]परप्राप्तेरवगमार्थस्य च भेदोऽस्ति । [5]अविद्याया अपाय

शंकाः—ऋग्वेदादि से यदि बाह्य ब्रह्मविद्या है तो भला यह परा विद्या कैसे कही जाती है? और वह मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है क्योंकिः—

"या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥"

(जो वेद बाह्य स्मृतियाँ हैं और जो कोई भी कुदृष्टियाँ हैं, वे सबकी सब निष्फल हैं, इनके आश्रय लेने वाले मर कर नरकादि योनियों को प्राप्त होते हैं ।

अतः वेदबाह्य वे स्मृतियाँ तमोनिष्ठ कही गई हैं । कुदृष्टि होने से निष्फल हैं, इसीलिये वेदबाह्य ब्रह्मविद्या भी त्यागने योग्य ही है ग्रहण के योग्य नहीं । साथ ही ब्रह्मविद्या के जनक उपनिषदों में ऋग्वेदादि से बाह्यत्व आने लग जायेगा और यदि वे उपनिषदें ऋग्वेदादि रूप हैं तो फिर उन्हें ऋग्वेदादि से पृथक् बतलाना अनर्थक है । अतः इसे परा विद्या कैसे कह रहे हो ?

समाधानः—परा विद्या से वेद्य ब्रह्म विषयक विज्ञान को ही बतलाना अभीष्ट है । उपनिषद्-वेद्य अक्षर ब्रह्मको बतलाने वाले विज्ञान को ही इस मन्त्र में प्रधान रूपेण पराविद्या कहना अभीष्ट है, उपनिषदों की शब्द राशि को नहीं । किन्तु वेद शब्द से सर्वत्र शब्द राशि ही कही गयी, शब्दराशि-रूप ऋग्वेदादि के ग्रहण हो जाने पर भी गुरु उपसदन आदि और वैराग्यरूप यत्नान्तर के बिना अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान संभव नहीं होता । इसीलिये शब्दराशि से ब्रह्मविद्या को पृथक् करके परा विद्या शब्द के द्वारा कहा है । तात्पर्य यह है कि उपनिषद् महावाक्य से उत्पन्न ब्रह्माकारवृत्ति में अभिव्यक्त ब्रह्म-चैतन्य ही परा विद्या शब्द से कहा गया है । ऐसी परा विद्या की अभिव्यक्ति में ब्रह्माकारवृत्ति कारण है । और उस ब्रह्माकार वृत्ति का जनक उपनिषद् महावाक्य है अतः ब्रह्मविद्या को वेदबाह्य नहीं कह मकते ।

१. शिक्षेति-अकारादिवर्णानां स्थलकरणप्रयत्नबोधकं याज्ञवल्क्यादिकृतं शिक्षाशास्त्रमित्यर्थः । २. निरुक्तमिति- "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौचापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्त दुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥"
३. वक्ष्यमाणविशेषणमिति- विशेषणमद्रेश्यत्वादि । ४. ननु विद्ययाऽऽवरणभङ्गे न वस्तु साक्षात्क्रियते न त्वप्राप्तं प्राप्यः इति कथं विद्ययाऽधिगमः प्राप्तिरित्याशङ्क्याह- न च परप्राप्तेरित्यादि । ५. एवं तर्हि स्वरूपसाक्षात्कारस्य नित्यत्वाद्विद्ययाधिगम्यत इति विद्याजन्यत्वोक्तिरसंगतेत्याशङ्क्याह- अविद्याया इति । अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितस्वरूप साक्षात्कारः प्राप्तिस्तत्रोपलक्षणस्य जन्यत्वादुपलक्षितस्य तथोक्तिरविरुद्धेति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एव हि परप्राप्तिनर्थान्तिरम् । ननु ऋग्वेदादिबाह्या तर्हि सा कथं परा विद्या स्यान्मोक्षसाधनं च । या वेदबाह्याः स्मृतय इति हि स्मरन्ति । कुदृष्टित्वान्निष्फलत्वादनादेया स्यात् । उपनिषदां च ऋग्वेदादिबाह्यत्वं स्यात् । ऋग्वेदादित्वे तु पृथक्करणमनर्थकम् । अथ परेति । न । वेद्यविषयविज्ञानस्य विवक्षितत्वात् । उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह परा विद्येति [1]प्राधान्येन विवक्षितं नोपनिषच्छब्दराशिः । वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः । [2]शब्दराश्यधिगमेऽपि यत्नान्तरमन्तरेण गुर्वभिगमनादिलक्षणं वैराग्यं च नाक्षराधिगमः संभवतीति पृथक्करणं ब्रह्मविद्यायाः परा विद्येति कथनं चेति ॥ ५ ॥

कर्मज्ञानाद्विलक्षणत्वाभिप्रायेण च पृथक्करणमित्याह—यथा विधिविषय इति । अप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गान्न [3]प्रधानपरत्वमपि शङ्कनीयमिति मत्वाऽऽह —यः सर्वज्ञ इति । अगुणत्वादिति । [4]उपसर्जनरहितत्वादित्यर्थः । सर्वात्मकत्वाच्चेति । हेयस्यातिरिक्तस्याभावाच्चेत्यर्थः ॥ ६ ॥

जिन मंत्रो में अक्षर और पाद नियत हों ऐसे मंत्रों को ऋग्-मंत्र कहते हैं । एवं इस प्रकार के मंत्र जिसमें अधिक हों उसको ऋग्वेद कहते हैं । जिन मंत्रो में अक्षर और पाद नियत नहीं हों, उन्हें यजुर्मंत्र कहते हैं । और ऐसे मंत्रों की बहुलता रहने के कारण यजुर्वेद कहा गया है । गीति प्रधान मंत्र को साम मंत्र कहते हैं, और ऐसे मंत्र जिसमें अधिक हों, उसे सामवेद कहते हैं । अर्थ आदि समृद्धि एवं ग्रहादि शांति करानेवाले मंत्र जिसमें बहुत्व करके हों, उसे अथर्ववेद कहते हैं । अकारादि-वर्ण, ह्रस्वादि मात्रा, उदात्त आदि स्वर एवं अन्यवर्ण सम्बन्धी उपदेश जिसमें हों, पाणिनीय आदि महर्षि के रचे गये ग्रंथ को शिक्षा कहते हैं । योगादि कर्म में अनुष्ठेय पदार्थों का क्रम बतलाने वाले ग्रंथ को कल्प कहते हैं । पद के साधुत्व ज्ञान कराने वाले शास्त्र को व्याकरण कहते हैं । वैदिक शब्दों की विलक्षण ढंग से व्युत्पत्ति, अर्थ एवं पर्याय बतलाने वाले शास्त्र को निरुक्त कहते हैं । वृत्त ग्रंथ को छन्द कहते हैं । ग्रहों की गति बतलाने वाले शास्त्र को गणित ज्योतिष तथा व्यक्ति एवं राष्ट्र के भाग्य को बतलाने वाले शास्त्र को फलित ज्योतिष कहते हैं । इसप्रकार चारों वेद एवं वेद के छः अंगो का संक्षेप रूप से विवेचन किया गया, विस्तारभय से उदाहरण आदि नहीं दिये गये हैं ।

कर्मज्ञान की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान में विलक्षणता बतलाने के लिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं:— जैसे विधि के विषय कर्म में वाक्यार्थ ज्ञान हो जाने के बाद कर्ता आदि अनेक कारकों के संग्रह पूर्वक ही अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है । वह अनुष्ठेय अर्थ वाक्यार्थ ज्ञान के बाद संपन्न किया जाता है । वैसा यहां पर परा विद्या के विषय में नहीं है । किन्तु महावाक्य के अर्थ-बोध होते ही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति प्राप्त हो जाती है । एवं ब्रह्मविद्या का मोक्ष रूप फल भी तत्काल ही प्राप्त हो जाता है ।

---

१. प्राधान्येनेति गुणतस्तूपनिषच्छब्दराशावपि पराविद्येति व्यवहारो न वार्यत इति भावः । २. ननूपपन्नमपि निष्फलत्वादकार्यं तदित्याशङ्क्याह- शब्दराश्याधिगमे स्वसामग्र्या एव निष्पन्ने सत्यपि गुर्वभिगमन वैराग्यादिरूपयत्नान्तरमन्तरेणाक्षराधिगमस्तु न संभवतीत्यावेदयितुं पृथक्करणमित्यर्थः । ३. प्रधानपरत्वमपीति पृथक्करणाद्वेदबाह्यत्वमिवेत्यपेरर्थः । ४. नन्वदृश्यत्वादिगुणक इत्युक्तेरगुणत्वादिति विरुद्धमित्याशङ्क्य व्याकरोति उपसर्जनेति । उपसर्जनस्य भेदसापेक्षत्वात् स्वरूपभिन्नविशेषणशून्यत्वादित्यर्थः । अदृश्यत्वादीनां चाभावत्वादिना स्वरूपानतिरेकान्ते विरोध इति भावः । सूत्रे तथोक्तिर्विवक्षावशादेवेति ध्येयम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

[वह जो अदृश्य (इन्द्रियों का अविषय) अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों का अविषय) अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से रहित है, ऐसे ही पाणिपाद से रहित, नित्य, विभु, सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी पुरुष सभी ओर देखते हैं ॥६॥]

यथा [१]विधिविषये कर्त्राद्यनेककारकोपसंहारद्वारेण वाक्यार्थज्ञानकालादन्यत्रानुष्ठेयोऽर्थोऽस्त्यग्निहोत्रादिलक्षणो न तथेह परविद्याविषये । वाक्यार्थज्ञानसमकाल एव तु पर्यवसितो भवति । केवलशब्दप्रकाशितार्थज्ञानमात्रनिष्ठा[२]व्यतिरिक्ताभावात् । तस्मादिह परां विद्यां सविशेषणेनाक्षरेण विशिनष्टि—यत्तदद्रेश्यमित्यादिना । [३]वक्ष्यमाणं बुद्धौ संहृत्य सिद्धवत्परामृश्यते—यत्तदिति । [४]अद्रेश्यमदृश्यं सर्वेषां बुद्धीन्द्रियाणामगम्यमित्येतत् । [५]दृशेर्बहिष्प्रवृत्तस्य पञ्चेन्द्रियद्वारकत्वात् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयमित्येतत् । अगोत्रं गोत्रमन्वयो मूलमित्यनर्थान्तरम् । अगोत्रमनन्वयमित्यर्थः । न हि तस्य मूलमस्ति येनान्वितं स्यात् । [६]वर्ण्यन्त इति वर्णा द्रव्यधर्माः स्थूलत्वादयः शुक्लत्वादयो वा । अविद्यमाना वर्णा यस्य तदवर्णमक्षरम् । अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुश्च श्रोत्रं च नामरूपविषये करणे सर्वजन्तूनां ते अविद्यमाने यस्य तदचक्षुःश्रोत्रम् । यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिचेतनावत्त्वविशेषणत्वात्प्राप्तं संसारिणामिव चक्षुःश्रोत्रादिभिः [७]करणैरर्थसाधकत्वं तदिहाचक्षुः-

कर्म विज्ञान से कर्म का फल नहीं मिलता किंतु कर्म विज्ञान के बाद कृषि आदि लौकिक और याग आदि वैदिक कर्म के अनुष्ठान से फल प्राप्त होता है । वह भी अनुष्ठान काल में नहीं, किन्तु कालान्तर में । इसके विपरीत महावाक्यार्थ ज्ञानकाल में ही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति रूप मोक्षफल प्राप्त हो जाता है अतः केवल शब्द से प्रकाशित अर्थ के अपरोक्ष ज्ञान मात्र में निष्ठा ही पराविद्या का फल है, इससे भिन्न नहीं । इसीलिये अनेक विशेषणों से युक्त अक्षर ब्रह्म द्वारा पराविद्या को विशेष रूप से श्रुति बतला रही है 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि वाक्य द्वारा । सिद्ध वस्तु के समान आगे बतलाये जाने वाले अक्षर ब्रह्म को बुद्धि में रख कर 'यद् तद्' इस वाक्य से श्रुति परामर्श कर रही है । सभी ज्ञानेन्द्रियों से न जानने योग्य होने के कारण अक्षर को अदृश्य कहा गया है । क्योंकि पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही चित्त वृति बाहर जाती है तथा पंच कर्मेन्द्रियों से ग्रहण न होने के कारण अग्राह्य कहा गया है । उसका कोई मूल नहीं है जिससे वह अन्वित हो सके । जो वर्णन किये जायें, ऐसे स्थूलत्व आदि या शुक्लत्व आदि द्रव्यधर्मको वर्ण कहा गया है । वे वर्ण-धर्म जिसमें नहीं हों, उसे अवर्ण कहते हैं । अतः अक्षरब्रह्म अवर्ण है । नाम (शब्द) को विषय करने वाला श्रोत्र और रूपको विषय करनेवाली आँख, ये इन्द्रियाँ सभी जीवों के पास हैं । ऐसी इन्द्रियाँ जिसे नहीं हों, उस ब्रह्मको अचक्षुःश्रोत्रम् कहा गया है । आगेके मंत्र में परमात्मा को

१. विधिविषये विधेर्विषये कर्मणि वाक्यार्थज्ञानेत्यन्वयस्तथा च कर्मविषयकवाक्यार्थज्ञानेत्यर्थः । यद्वा विधिविषये कर्मकाण्डे याद्वक्यार्थज्ञानं तत्कालादित्यर्थः । एवं परविद्याविषये इत्यत्राप्यवगन्तव्यम् । २. निष्ठाव्यतिरिक्ताभावादिति मनननिदिध्यासनाभ्यां ब्रह्मात्मैक्यज्ञाननिष्ठैव संपादनीया नान्यत्कर्तव्यमिति भावः ३. वक्ष्यमाणमिति अद्रेश्यत्वादिविशेषणगणमित्यर्थः । ४. अदृश्यं दृगविषयः दृक् च वृत्तिफलिता चित् । ५. दृशेरिति वृत्तिचित इत्यर्थः । ६. वर्ण्यन्त इति विशेषणत्वेन सम्बध्यन्त इत्यर्थः । ७. अर्थसाधकत्वं तत्प्रकाशकत्वम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥ ७॥

[जैसे लोक प्रसिद्ध मकड़ी (अन्य साधनों के बिना ही अपने शरीर से अभिन्न) तन्तुओं को बनाती है और निगल जाती है। जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं तथा जैसे सजीव पुरुष में (उससे विलक्षण) केश और लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही उस अक्षर से समस्त जगत् उत्पन्न होते हैं॥७॥]

श्रोत्रमिति वार्यते। "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इत्यादिदर्शनात्। किंच तदपाणिपादं कर्मेन्द्रियरहितमित्येतत्। यत एवमग्राह्यमग्राहकं [१]चातो नित्यमविनाशि। विभुं विविधं ब्रह्मादिस्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति विभुम्। सर्वगतं व्यापकमाकाशवत्सुसूक्ष्मं शब्दादि-स्थूलत्वकारणरहितत्वात्। शब्दादयो ह्याकाशवाय्वादीनामुत्तरोत्तरं स्थूलत्वकारणानि तदभावात्सुसूक्ष्मम्। किंच तदव्ययमु[२]क्तधर्मत्वादेव न व्येतीत्यव्ययम्। न [३]ह्यनङ्गस्य [४]स्वाङ्गापचयलक्षणो व्ययः संभवति शरीरस्येव। नापि कोशापचयलक्षणो व्ययः संभवति राज्ञ इव। नापि गुणद्वारको व्ययः संभवत्यगुणत्वात्सर्वात्मकत्वाच्च। यदेवंलक्षणं भूतयोनिं भूतानां कारणं [५]पृथिवीव स्थावरजङ्गमानां परिपश्यन्ति सर्वत आत्मभूतं सर्वस्याक्षरं पश्यन्ति धीरा [६]धीमन्तो विवेकिनः। ईदृशमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः॥ ६॥

सर्वज्ञ और सर्ववित् इत्यादि चेतन के विशेषण बतलाये गये हैं। इससे संसारी जीवों के समान चक्षुः-श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा वह भी विषयों को जानता होगा—ऐसा प्रसंग प्राप्त हो जाता है। इस-लिये 'अचक्षुःश्रोत्रम्' इस पद के द्वारा उक्त संसारी धर्म का निषेध किया गया है। क्योंकि 'वह परमात्मा बिना आँख के सबको देखता है। बिना श्रोत्र के सबकुछ सुनता है' इत्यादि श्रुतियाँ देखी गई हैं। वैसे ही हस्तादि कर्मेन्द्रियों से रहित होने से वह अपाणिपाद कहा गया है। इस प्रकार वह न ग्राह्य है और न ग्राहक ही है। इसीलिये नित्य अविनाशी है। ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त प्राणिभेद से अनेक रूप में वही बना हुआ है। इसीलिये उसे विभु कहते हैं। आकाश के समान वह व्यापक है। अर्थात् शब्दादि धर्म जो स्थूलत्व के प्रयोजक हैं, उनसे रहित रहने के कारण वह अत्यन्त सूक्ष्म है। शब्दगुण-वाला आकाश स्थूल है। उससे भी स्थूल वायु है, क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। ऐसे ही शब्द स्पर्श रूप ऐसे तीनगुण अग्नि में हैं। रस सहित पूर्वोक्त गुण जल में हैं। और गन्ध एवं पहले के चारों गुण पृथ्वी में हैं। इसलिये उत्तरोत्तर ये स्थूल कहे गये हैं। क्योंकि ये सब स्थूलता के कारण हैं। ऐसे स्थूलत्व के कारण शब्दादि गुण न होने से वह अक्षर ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है। पूर्वोक्त स्थूलत्व के कारण शब्दादि गुणों का अभाव रहने से उस अक्षर का व्यय या नाश नहीं होता। इसीलिये वह अव्यय कहा

१. अत इति अन्वये मतान्तरेणाकाशादिवत्। सिद्धान्ते व्यतिरेकेण घटादिवदिति भावः। २. उक्तेति सुसूक्ष्मत्वा-दीत्यर्थः। ३. अनङ्गस्येत्यनवयवस्येत्यर्थः। ४. स्वाङ्गेति स्वावयवेत्यर्थः। ५. पृथिवीवेति पृथिवीव यत्कारणं तत्परिपश्यन्तीत्यन्वयः। ६. अद्रेश्यं पश्यन्तीति विरोधपरिजिहीर्षया धीरतां परिष्करोति धीमन्त इति। वाक्योत्थाया धिया व्याप्नुवन्तीति भावः। वृत्तिव्याप्तेरिष्टत्वाददेश्यमिति च फलविषयत्वनिषेधादविरोध इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूतयोन्यक्षरमित्युक्तं तत्कथं भूतयोनित्वमित्युच्यते प्रसिद्धदृष्टान्तैः। यथा लोके प्रसिद्धम्। ऊर्णनाभिर्लूताकीटः किंचित्कारणान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव सृजते स्वशरीराव्यतिरिक्तानेव तन्तून्बहिः प्रसारयति पुनस्तानेव गृह्णते च गृह्णाति स्वात्मभावमेवाऽऽपादयति। यथा च पृथिव्यामोषधयो [1]व्रीह्यादिस्थावरान्ता इत्यर्थः। स्वात्माव्यतिरिक्ता एव प्रभवन्ति। यथा च सतो विद्यमानाज्जीवतः पुरुषात्केशलोमानि केशाश्च लोमानि च संभवन्ति विलक्षणानि। यथैते दृष्टान्तास्तथा विलक्षणं सलक्षणं च निमित्तान्तरानपेक्षाद्यथोक्तलक्षणादक्षरात्संभवति समुत्पद्यत इह [2]संसारमण्डले विश्वं समस्तं [3]जगत्। अनेकदृष्टान्तोपादानं तु सुखार्थप्रबोधनार्थम् ॥७॥

यद्ब्रह्मण उत्पद्यमानं विश्वं तदनेन क्रमेणोत्पद्यते न युगपद्बदरमुष्टिप्रक्षेपवदिति—

ब्रह्म न कारणं सहायशून्यत्वात्कु[4]लालमात्रवदित्यस्यानैकान्तिकत्वमुक्तमूर्णनाभिदृष्टान्तेन। ब्रह्म जगतो नोपादानं तदभिन्नत्वात्स्व[5]रूपस्येवेत्यनुमानान्तरस्यानैकान्तिकत्वमाह—यथा च पृथिव्यामिति। जगन्न ब्रह्मोपादानं तद्विलक्षणत्वात्। यद्यद्विलक्षणं तत्तदुपादनकं न भवति। यथा घटो न तन्तूपादनक इति। अस्य व्यभिचारार्थमाह—यथा च सत इति। '[6]एकस्मिन्नपि दृष्टान्ते सर्वानुमानानामनैकान्तिकत्वं योजयितुं शक्यमिति शङ्कमानं प्रत्याह—अनेकदृष्टान्तेति ॥७॥

गया है। व्यय तीन प्रकार से लोक में देखे गये हैं। अंग के ह्रास से, कोष के ह्रास से और गुण के ह्रास से। शरीर सावयव है। इसलिये अंग के ह्रास से शरीर का ह्रास हो सकता है। किन्तु अक्षर ब्रह्म निरवयव है, उसके अंग नहीं हैं। अतः अंगो के नाश से उसका नाश नहीं हो सकता। कोष आदि वैभव संपन्न राजा का कोष के नाश से नाश होना कहा गया है। आत्मा निर्विशेष है। इसलिये राजा की भाँति कोष के नाश से उसका नहीं हो सकता। वैसे ही संपूर्ण स्थावर-जंगम प्रपंचका कारण अक्षर ब्रह्म है। इस प्रकार सभी भूतों की योनि और सभी के आत्मस्वरूप अक्षर ब्रह्म को सभी ओर से विवेकी, बुद्धिमान् धीर पुरुष देखते हैं। ऐसा अक्षर ब्रह्म परा विद्या से जाना जाता है। इसीलिये यह विद्या परा विद्या कही गई है। यही पूर्वोक्त वाक्य-समुदाय का तात्पर्यार्थ है। ॥६॥

ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जगत्-निर्माण के लिये उसके पास साधन-सामग्री नहीं है। मृत्तिका-चक्रादि साधन समग्री के अभाव में केवल कुंभकार घटादि का कर्ता नहीं देखा गया है। ऐसे ब्रह्मकारण वाद का खण्डन कुछ अनुमानों से पूर्वपक्षी कर सकता था। अतः उनके अनुमानों में अनैकान्तिकत्व [व्यभिचार] दिखलाने के लिये श्रुति आगे का मंत्र कही रही है।

संपूर्ण भूतों का कारण अक्षर ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। उसमें जगत्कारणता किस प्रकारकी है? क्या उपादान-कारणता है, या निमित्त कारणता है अथवा उभय कारणता है? ऐसी आकाँक्षा होने पर प्रसिद्ध दृष्टांतों के द्वारा अभिन्न-निमित्तोपादान-कारणत्व यानी दोनों प्रकार की कारणता ऊर्णनाभि आदि दृष्टांतों द्वारा श्रुति बतला रही है। जैसे लोक में प्रसिद्ध है कि मकड़ी अपने से भिन्न किसी कारण की अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने शरीर से अभिन्न जाले को बाहर फैला देती है और पुनः उन्हीं

---

१. अजहल्लक्षणया व्याचष्टे व्रीह्यादिस्थावरान्ता इति। उद्भिज्जत्वं लक्ष्यतावच्छेदकमिति भावः। स्थावरा हि वनस्पतयः ओषधयः फलपाकान्ता इति भेदः। २. संसारमण्डले ब्रह्माण्डगोलके। ३. जगत्-देवादिरूपमित्यर्थः। ४. कुलालमात्रेति दण्डादिसाधनान्तरव्यावर्तको मात्रशब्दः। ५. स्वरूपस्येति ब्रह्मण इत्यर्थः।
६. एकस्मिन्नपि तथाच दृष्टान्तद्वयस्य वैयर्थ्यमिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

[(पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा वाले पिता के समान ज्ञान रूप) तप द्वारा वह अक्षर ब्रह्म कुछ स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् उसी ब्रह्म से (सभी प्राणियों के लिये साधारण कारण रूप अव्याकृत) अन्न उत्पन्न होता है। फिर अन्न से हिरण्यगर्भ रूप प्राण, संकल्पादि चतुष्टय व्यापार रूप मन, मन से भूतपंचक, उससे भूरादि लोक, उनमें मनुष्यादि के अनुरूप कर्म और कर्म से अमृत नामक कर्मजन्य फल उत्पन्न होता है ॥८॥

क्रमनियमविवक्षार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते। तपसा 'ज्ञानेनोत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयत उपचीयत उत्पिपादयिषदिदं जगदङ्कुरमिव बीजमुच्छूनतां गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण। एवं सर्वज्ञतया सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिविज्ञानवत्तयोपचितात्ततो ब्रह्मणोऽन्नमद्यते भुज्यत इत्यन्नमव्याकृतं साधारणं संसारिणां व्याचिकीर्षितावस्थारूपेणाभिजायत उत्पद्यते। ततश्चाव्याकृताद्व्याचिकीर्षितावस्थावतोऽन्नात्प्राणो हिरण्यगर्भो

ईश्वरत्वोपाधिभूतं मायातत्वं महाभूतादिरूपेण सर्वजीवैरुपलभ्यत इति सर्वसाधारण्येऽपि कथं जायतेऽनादिसिद्धत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—व्याचिकीर्षितेति। 'कर्मापूर्वसमवायिभूत सूक्ष्ममव्याकृतमिति केचित्। तन्न तस्य प्रतिजीवं भिन्नत्वादीश्वरत्वोपाधित्वासंभवात्। 'सामान्यरूपेण संभवेऽपि पृथिव्यादिसामान्यानां बहुत्वात्। 'प्रकृतावेकत्वश्रुतिव्याकोपापाताज्जाड्य'महामायारूपेणैव संभवेऽपि

जालों को समेट लेती है। अर्थात् अपने से अभिन्न बना डालती है। जाले की उत्पत्ति और संहार में किसी दूसरे की सहायता मकड़ी नहीं लेतो है। वैसे ही संपूर्ण संसार की सृष्टि और संहार करने में वह अक्षर-ब्रह्म किसी की सहायता नहीं लेता। और जिस प्रकार पृथ्वी में धान्यादि स्थावर पर्यन्त सभी औषधियाँ पृथ्वी से अभिन्न रूप में ही उत्पन्न होती हैं। यानी वे सभी पार्थिव हैं। इसीप्रकार जीवित पुरुष से चेतन पुरुष की अपेक्षा विलक्षण जड़, केश और लोम उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा के बिना ही पूर्वोक्त लक्षणवाले अक्षर ब्रह्म से इस संसार में संपूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। जैसे कारण के समान और असमान लक्षणवाले जाले औषधि एवं केश-लोम मकड़ी पृथ्वी तथा जीवित पुरुष से उत्पन्न होते हैं। ठीक वैसे ही मायाविशिष्टचेतन ब्रह्म से संपूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। पूर्वपक्षी के ब्रह्म कारणवाद के विरोध में कहे गये सभी अनुमानों का खंडन इसी एक दृष्टांत से भी हो सकता था। फिरभी अनेक दृष्टांत सरलता से बोध कराने के लिए श्रुति में ग्रहण किये गये हैं। ॥७॥

ब्रह्म से जो विश्व उत्पन्न होता है, वह आगे बतलाये जाने वाले क्रम से उत्पन्न होता है। बेर

१. ज्ञानेनेत्येतत्स्पष्टयति उत्पत्तिबिधिज्ञतयेति उत्पत्तिप्रकारविषयेण मायापरिणाम विशेषेणेत्यर्थः। २. ब्रह्मण उपादाननिमित्तोभयात्मकत्वाद्दृष्टान्तद्वयम्- अङ्कुरमिव। ३. पुत्रमिवेति। कार्यानुकूलो मायिनी क्षोभविशेष एवोच्छूनता। ४. सृष्टयाद्यनुकूलशक्तिमत्तया तद्विज्ञानवत्तया चेत्यर्थः। ५. कर्मेत्यादि कर्मजन्यादृष्ट सम्बद्धं सूक्ष्मावस्थापन्नं पञ्चीकृतभूतपञ्चकमित्यर्थः। ६. सामान्यरूपेणेति - एकैकभूतसमष्टिरूपेणेत्यभिप्रायः तथा चैकैकभूतसमष्टेरुपाधित्वे उपाधिपञ्चत्वादीश्वरपञ्चत्वमापद्येत। प्रकृतावजामेकामित्यादिनैकत्वश्रुतिश्च विरुध्येतेत्यर्थः। ७. सर्वजडानुगतिमनुसृत्याह-जाड्येति। जडत्वस्य मायाऽव्यतिरेकाच्च।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणोऽविद्याकामकर्मभूतसमुदायबीजाङ्कुरो जगदात्माऽभिजायत इत्यनुषङ्गः। तस्माच्च [2]प्राणान्मनो मनआख्यं संकल्पविकल्पसंशयनिर्णयाद्यात्मकमभिजायते। ततोऽपि संकल्पाद्यात्मकान्मनसः सत्यं सत्याख्यमा[3]काशादिभूतपञ्चकमभिजायते[4]। तस्मात्सत्याख्याद् भूतपञ्चकादण्डक्रमेण सप्त लोका भूरादयः। तेषु मनुष्यादिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि। कर्मसु च निमित्तभूतेष्वमृतं कर्मजं फलम्। यावत्कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि न विनश्यन्ति [5]तावत्फलं न विनश्यतीत्यमृतम् ॥८॥

न कर्मापूर्वसमवायित्वम्। तस्याकारकत्वाद्बुद्ध्यादीनामेव कारकत्वाभिधा[6]नात्। कारकावयवेष्वेव क्रियासमवायाभ्युपगमात्। किंच न कार्यस्य स्वकारणप्रकृतित्वं दृष्टमिति भूतसूक्ष्मस्यापञ्चीकृतभूतप्रकृतित्वं न स्यात्। तस्मान्महाभूतसर्गादिसंस्कारास्पदं गुणत्रयसाम्यं मायातत्त्वमव्याकृतादिशब्दवाच्यमिहाभ्युपगन्तव्यम्। पूर्वस्मिन्कल्पे हिरण्यगर्भप्राप्तिनिमित्तं प्रकृष्टं ज्ञानं कर्म च येनानुष्ठितं तदनुग्रहाय मायोपाधिकं ब्रह्म हिरण्यगर्भावस्थाकारेण विवर्तते। स च जीवस्तदवथाभिमानी हिरण्यगर्भ उच्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—ब्रह्मण इति। ज्ञानशक्तिभिः क्रियाशक्तिभिश्चाधिष्ठितं विशिष्टं जगद्व्यष्टिरूपं तस्य साधारणः समष्टिरूपः सूत्रसंज्ञक इत्यर्थः। मनआख्यमिति [7]समष्टिरूपं विवक्षितम्। व्यष्टिरूपस्य लोकसृष्ट्युत्तरकालत्वात् ॥ ८ ॥

से भरी मुष्टि प्रक्षेप के समान एक साथ उत्पन्न नहीं होता। अतः क्रम नियम बतलाने के अभिप्राय से यह मंत्र प्रारंभ किया जाता है। विश्व-उत्पत्ति-विधि के ज्ञान को इस मंत्र में तप कहा गया है। ऐसे ज्ञान रूप तप से संपूर्ण भूतों की योनि अक्षर ब्रह्म वैसे ही कुछ स्थूलता को प्राप्त हो जाता है जैसे अंकुर फूटने से पहले पृथ्वी में डाला हुआ बीज स्थूल हो जाता है। एवं जिस प्रकार पुत्र-उत्पत्ति की संभावना से पिता प्रसन्नता के कारण फूल उठता है ऐसे ही जगत् उत्पादन की इच्छावाला जगत्-योनि अक्षर-ब्रह्म स्थूल भाव को प्राप्त हो जाता है। ऐसे सृष्टि स्थिति और संहार शक्ति के विज्ञान रूप सर्वज्ञता के कारण स्थूल भाव को प्राप्त हुए अक्षर ब्रह्म से अन्न उत्पन्न होता है। जो सभी संसारियों के लिये साधारण भोग्यरूप है। ऐसे अव्याकृत मायातत्त्व को अन्न शब्द से कहा गया है। वह ईश्वर की उपाधि है। और वही महाभनादि रूप से उत्पन्न होता देखा जाता है। यद्यपि वह माया अनादि है तथापि नाम-रूप व्याकरण की इच्छावाली अवस्था को इस मंत्र में अन्न पद से कहा गया है। ऐसी अवस्था में उस ईश्वर की उपाधि मायातत्त्व का अभिव्यक्त होना ही इस मंत्र में उत्पन्न होना कहा गया है। इस व्याकृत-अवस्था प्राप्त होने की इच्छावाली अवस्थारूप अव्याकृतात्मक अन्न से हिरण्यगर्भ-रूप प्राण उत्पन्न होता है। ब्रह्म के ज्ञान और क्रिया शक्ति से विशिष्ट जगत् जो व्यष्टि रूप है उसका समष्टि-रूप हिरण्यगर्भ या सूत्र नाम से कहा गया है। जो सभी जीवों के लिये साधारण है। वह अविद्या काम-कर्म के समुदाय बीजाङ्कुर के समान है। और वह विश्व का सूक्ष्म स्वरूप है। इसी को प्राण शब्द से कहा गया है। वह हिरण्यगर्भ-रूप प्राण पूर्वोक्त रीति से अन्नभाव को प्राप्त हुए ब्रह्म से उत्पन्न होता है। ऐसी योजना कर लेनी चाहिये। उस हिरण्यगर्भावस्था को प्राप्त हुए प्राणात्मक ब्रह्म से संकल्प

१. ब्रह्मण इति सम्बन्धषष्ठ्याः पूर्वेण हिरण्यगर्भेणान्वयष्टीकानुरोधादवगम्यते। २. प्राणवृत्यनन्तरं मनोवृत्तेराह प्राणान्मन इति। ३. सच्च त्यच्च सत्यमिति श्रौतव्युत्पत्त्याऽऽह- आकाशादिभूत- पञ्चकभिति। ४. अभिजायत इति पञ्चीकृतात्मनेति भावः। ५. फलं न विनश्यतीति फलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो न भवतीति यावत्। ६. अभिधानादिति विज्ञानं यज्ञं तनुत इत्यादाविति शेषः। ७. समष्टिरूपमिति समष्टिमनसो हिरण्यगर्भोपाधित्वेऽपि तदवस्थायामेव तदभिव्यक्तिमाश्रित्याभिजायत इत्युक्तमितिध्येयम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषदि प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

[सबको समान्य रूप से जो जानता है, इसलिये सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने के कारण सर्ववित् कहा जाता है और जिसका ज्ञानमय तप है उस अक्षर ब्रह्म से ही हिरण्यगर्भ रूप देवसत्तादिनाम् शुक्लादि रूप और व्रीह यवाहि अन्न उत्पन्न होता है ॥९॥

॥ इति प्रथममुण्डके प्रथम खण्डः ॥

उक्तमेवार्थमुपसंजिहीर्षुर्मन्त्रो वक्ष्यमाणार्थमाह—य उक्तलक्षणोऽक्षराख्यः सर्वज्ञः सामान्येन सर्वं जानाती सर्वज्ञः । विशेषण सर्वंवेत्तीति सर्ववित् । यस्य ज्ञानमयं ज्ञानविकारमेव सार्वज्ञ्यलक्षणं तपो नाऽऽयासलक्षणं तस्माद्यथोक्तात्सर्वज्ञादेतदुक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते । किंच नामासौ देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादिलक्षणम् । रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि । अन्नं च व्रीहियवादिलक्षणं जायते । पूर्वमन्त्रोक्तक्रमेणेत्यविरोधो द्रष्टव्यः ॥९॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

वक्ष्यमाणार्थमिति । वक्ष्यमाणस्याविद्या[1]विवरणप्रकरणस्याऽऽरम्भार्थमुक्तपरविद्यासूत्रार्थोपसंहार इत्यर्थः । सामान्येनेति । समष्टिरूपेण मायाख्येनोपाधिनेत्यर्थः । विशेषेणेति । व्यष्टिरूपेणाविद्याख्येनोपाधिनाऽनन्तजीवभावमापन्नः स एव सर्वं स्वोपाधितत्संसृष्टं च वेत्तीत्यधिदैवमध्यात्मं च तत्त्वाभेदः [1]सूत्रितः । स्रष्टृत्वं प्रजापतीनां [2]तपसा [3]प्रसिद्धम् । तद्वद्ब्रह्मणोऽपि स्रष्टृत्वे तपोनुष्ठानं वक्तव्यम् । ततः संसारित्वं प्रसज्येतेत्याशङ्कयाऽऽह—यस्यज्ञानमयमिति । सत्त्वप्रधानमायाया ज्ञानाख्यो विकारस्तदुपाधिकं ज्ञानविकारं सृज्यमानसर्वपदार्थाभिज्ञत्वलक्षणं तपो न तु क्लेशरूपं प्रजापतीनामिवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथम मुण्डके प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

विकल्प संशय और निर्णय आदि नाम वाला मन नामक अन्तःकरण उत्पन्न होता है । एवं संकल्पविकल्पात्मक उस मन से लोक दृष्टि से सत् कहे जाने वाले आकाश आदि पांच भूत उत्पन्न होते हैं। पुनः सत्य नामक भूतपंचक से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है । जिस ब्रह्मांड में क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—ऐसे सात लोक उत्पन्न होते हैं । और उन लोको में मनुष्यादि प्राणी उत्पन्न होते हैं। और उन प्राणियों के लिये वर्ण एवं आश्रम क्रम से विहित कर्म उत्पन्न होते हैं । एवं निमित्त कारण रूप कर्म में फिर अमृत अर्थात् कर्म जन्य-फल उत्पन्न होता है । सौ कल्प बीत जाने पर भी जब तक कर्म नष्ट नहीं होता, यानी उन कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है । इसीलिये कर्मजन्य फल को इस मंत्र में अमृत कहा गया है, नकि त्रिकाला-बाधित ब्रह्म को अमृत शब्द से कहा गया है । आपेक्षिक अमृत ही अमृत शब्द का अर्थ है न कि निरपेक्ष मोक्ष रूप अमृतत्त्व ॥८॥

---

१. अविद्याविवरणेति अपरविद्याविवरणेत्यर्थः । परविद्या- विवरणं तु द्वितीयमुण्डके तदेतत्सत्यमित्यादिना करिष्यत इति भावः । १. द्वितीयमुण्डकादौ विचरिष्यमाणत्वादाह-सूत्रित इति । २. तपसा- क्लेशात्मकत्वेनेत्यर्थः । ३. प्रसिद्धं पुराणादिष्वित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि
त्रेतायां बहुधा संततानि । तान्याचरथ नियतं
सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

[मेधावी (वशिष्ठादि) ऋषियों ने जिन अग्नि होत्रादि कर्मों को ऋग्वेदादि मंत्रों में देखा था वही यह सत्य है। उन्हीं कर्मों का हौत्र, आध्वर्यहोत्र और औद्गात्ररूप त्रेता में अनेक प्रकार से विस्तार हुआ। यथार्थ कर्म फल की कामना से युक्त होकर उनका आचरण करो। लोक में तुम्हारे लिये विहित अग्नि होत्रादि कर्मों के फल की प्राप्ति का यही मार्ग है ॥१॥]

साङ्गा वेदा अपरा विद्योक्ता—ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिना । यत्तदद्रेश्यमित्यादिना नामरूपमन्नं च जायत इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तलक्षणमक्षरं यया विद्ययाऽधिगम्यत इति परा विद्या [1]सविशेषणोक्ता । अतः परमनयोर्विद्ययोर्विषयौ विवेक्तव्यौ संसारमोक्षावित्युत्तरो

अनादिरुपादानरूपेणानन्तो ब्रह्मज्ञानात्प्रागन्तासंभवात्प्रत्येकं शरीरिभिर्हातव्यो दुःखरूपत्वादित्यनेन यदाहुरेकजीववादिन एकं चैतन्यमेकयैवाविद्यया बद्धं संसरति । तदेव [2]कदाचिन्मुच्यते नास्मदादीनां बन्धमोक्षौ स्त इति तदपास्तं भवति । [2]श्रुतिबहिष्कृतत्वात् । सुषुप्तेऽपि क्रियाकारकफलभेद[3]स्य प्रहाणं भवति । बुद्धिपूर्वकप्रहाणस्य ततो विशेषमाह सामस्त्येनेति । [3]स्वोपाध्यविद्याकार्यं

पूर्वोक्त मंत्र के अर्थ का उपसंहार करनेवाला मंत्र आगे कहे जाने वाले अर्थ को बतला रहा है। जो उक्त लक्षणवाला अक्षर नामक परमात्मा है। वह सामान्य रूप से (माया नामक समष्टि उपाधि द्वारा) सबको जानता है। अतः सर्वज्ञ है। एवं विशेष रूप से अविद्या नामक व्यष्टि उपाधि के कारण अनन्त जीवभाव को प्राप्त हुआ वही परमात्मा है। और वह विशेष रूप से सबको जानने के कारण सर्ववित् कहा गया है।

जिसका ज्ञान विकार रूप सर्वज्ञ लक्षण तप है। शरीर के आभास रूप तप नहीं है। ऐसे पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त सर्वज्ञ ब्रह्म से जिस कार्यात्मक हिरण्यगर्भ को पूर्व मंत्र में कहा गया वह ब्रह्म उत्पन्न होता है। एवं देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि नाम उत्पन्न होते हैं। और यह शुक्ल रूप है, यह नील रूप है—इत्यादि रूप तथा धान्य जव आदि अन्न उत्पन्न होते हैं। इस मंत्र में बतलाये गये पदार्थों की उत्पत्ति भी पूर्वोक्त मंत्र में कहे गये क्रमसे ही होती है। अतः दोनो में विरोध नहीं समझना चाहिये ॥९॥

★ प्रथम मुण्डक द्वितीय खंड ★

"ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादि मंत्र द्वारा अंगों के सहित चारों वेदों को अपरा विद्या नाम से कहा है। और 'यत्तदद्रेश्यम्' से लेकर 'नामरूपमन्नं च जायते' इस मंत्र पर्यन्त ग्रन्थ द्वारा उक्त लक्षण से लक्षित अक्षर ब्रह्म जिस विद्या से जाना जाता है, उस परा विद्या को विशेषण के सहित बतला दिया। अब इसके बाद इन दोनों विद्याओं के विषय जो संसार और मोक्ष हैं। उन्हें बतलाने के लिये आगे का ग्रंथ आरंभ किया जाता है। उनमें अपरा विद्या का विषय कर्ता आदि साधन, क्रिया और फल रूप भेदवाला संसार, अनादि, अनंत है। अतः सभी शरीरधारियों को दुःख रूप होने से वह संसार सर्वथा त्यागने योग्य है। नदी प्रवाह के समान निरंतर अविछिन्न रूप से चलने वाला यह संसार बंधन है और उसका उपशम हो जाना ही मोक्ष है। जो परा विद्या का विषय है। यह मोक्ष वस्तुतः अनादि, अनन्त,

---

१. सविशेषणेति अदृश्यत्वादि विशेषणकाक्षरविशेषणेत्यर्थः । २. कदाचिदिति तस्यैव यदा ज्ञानं तदेत्यर्थः ।
२. श्रुतीति । जीवन्मुक्तिप्रतिपादकेत्यादिः । ३. स्वोपाधीति स्वमधिकारिचैतन्यम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ आरभ्यते। तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेद[1]रूपः संसारोऽनादिरनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसंबन्धस्तदुपशमलक्षणो मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयः [2]शुद्धः [3]प्रसन्नः स्वात्मप्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति। पूर्वं तावदपरविद्याया विषयप्रदर्शनार्थमारम्भः। तद्दर्शने हि तन्निर्वेदोपपत्तेः। तथाच वक्ष्यति—"[4]परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्" इत्यादिना। न ह्यप्रदर्शिते परीक्षोपपद्यत इति तत्प्रदर्शयन्नाह तदेतत्सत्यमवितथम्। किं तन्मन्त्रेष्वृग्वेदाद्याख्येषु कर्माण्यग्निहोत्रादीनि मन्त्रैरेव प्रकाशितानि कवयो मेधाविनो वसिष्ठादयो यान्यपश्यन्दृष्टवन्तः। यत्तदेतत्सत्यमेकान्तपुरुषार्थसाधनत्वात्तानि च वेदविहितान्यृषिदृष्टानि कर्माणि त्रेतायां [5]त्रयीसंयोगलक्षणायां हौत्राध्वर्यवौद्गात्रप्रकारायामधिकरणभूतायां बहुधा बहुप्रकारं संततानि प्रवृत्तानि कर्मिभिः क्रियमाणानि त्रेतायां वा युगे प्रायशः प्रवृत्तान्यतो यूयं तान्याचरथ निर्वर्तयथ नियतं नित्यं सत्यकामा यथाभूतकर्मफलकामाः सन्तः। एष वो युष्माकं पन्था मार्गः सुकृतस्य स्वयं निर्वर्तितस्य कर्मणो लोके फलनिमित्तं लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति कर्मफलं लोक उच्यते। तदर्थं तत्प्राप्तय एष मार्ग इत्यर्थः। यान्येतान्यग्निहोत्रादीनि त्रय्यां विहितानि कर्माणि तान्येष पन्था अवश्यफलप्राप्तिसाधनमित्यर्थः ॥१॥

स्याविद्याप्रहाणेनाऽऽत्यन्तिकप्रहाणं विद्याफलमित्यर्थः। अमरोऽपक्षयरहितः। अमृतो नाशरहित इत्यर्थः। अपरविद्यायाः परविद्यायाश्च विषयौ प्रदर्श्य पूर्वमपरविद्याया विषयप्रदर्शने श्रुतेरभिप्रायमाह—पूर्वं तावदिति। यदिष्टसाधनतयाऽनिष्टसाधनतया वा वेदेन बोध्यते कर्म तस्यासति प्रतिबन्धे तत्साधनत्वाव्यभिचारः सत्यत्वं न स्वरूपाबाध्यत्वं [6]'प्लवा ह्येत इत्यादिना निन्दितत्वात्स्वरूपबाध्यत्वेऽपि चार्थक्रियासामर्थ्यं स्वप्रकामिन्यामिव घटत इत्यभिप्रेत्याऽऽह—तदेतत्सत्यमिति। ऋग्वेदविहितः पदार्थो हौत्रम्। यजुर्वेदविहित आध्वर्यवम्। सामवेदविहित औद्गात्रम्। [7]तद्रूपायां त्रेतायामित्यर्थः। सत्यकामा मोक्षकामा इति समुच्चयाभिप्रायेण व्याख्यानमयुक्तम्। 'एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके' इति स्वर्गफलसाधनत्वविषयवाक्यशेषविरोधादिति ॥ १ ॥

जन्म-मरण से रहित, मृत्यु और भय से शून्य, शुद्ध, प्रसन्न, स्वात्म-प्रतिष्ठा-स्वरूप, परमानन्द, अद्वयरूप है। जो क्षय से रहित हो उसे अमर कहते हैं। और नाश से रहित हो उसे अमृत कहते हैं। इस प्रकार अमर और अमृत शब्द में किंचित् भेद माना गया है। अपरा विद्या और परा विद्या के विषय संक्षेप में बतला देने पर पहले अपरा विद्या का विषय बतलाने के लिये श्रुति प्रारंभ करती है। क्योंकि अपरा विद्या के विषय बन्धन रूप संसार को जान लेने पर वैराग्य हो जायेगा वैसे ही 'कर्म से संचित इस लोक और स्वर्ग आदि की परीक्षा कर ब्रह्मजिज्ञासु संसार से विरक्त हो जाता है।' इत्यादि वाक्य द्वारा आगे श्रुति भी कहेगी। अतः संसार का स्वरूप दिखलाये बिना उसकी परीक्षा नहीं हो सकती है।

---

१. भेदः-विशेष इत्यर्थः। २. शुद्धः स्वभावतो मायामलरहितः। ३. प्रसन्नश्चागन्तुकधर्माधर्मादिकालुष्यविरहीत्यर्थ.।
४. मुण्डकः१।२.१२। ५. संयोगः समूहः इत्यर्थः
६. मु० उ० १।२।७ ७. तद्रूपायां त्रेतायामिति। एवं त्रेधा विभक्तानि कर्माणि बहुधा प्रवृत्तानीति यावत्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाऽऽज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेत् ॥२॥

[जिस समय ईंधन द्वारा सम्यक् प्रकार से) अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर उसकी ज्वाला उठने लगे, उस समय (अग्नये स्वाहा तथा सोमाय स्वाहा, इन मन्त्रों से) दिये गये आज्य भागों के मध्य में आहुतियां डाले ॥२॥]

तत्राग्निहोत्रमेव तावत्प्रथमं प्रदर्शनार्थमुच्यते सर्वकर्मणां प्राथम्यात् । तत्कथम् । यदैवेन्धनैरभ्याहितैः सम्यगिद्धे समिद्धे हव्यवाहने लेलायते चलत्यर्चिस्तदा तस्मिन्काले लेलायमाने चलत्यर्चिष्याज्यभागावाज्यभागयोरन्तरेण मध्य आवापस्थान आहुतीः प्रतिपादयेत्प्रक्षिपेद्देवतामुद्दिश्य । अनेकाहप्रयोगापेक्षयाऽऽहुतीरीति बहुवचनम् । एष सम्यगाहुतिप्रक्षेपादिलक्षणः कर्ममार्गो लोकप्राप्तये पन्थास्तस्य च सम्यक्करणं दुष्करम् । विपत्तयस्त्वनेका भवन्ति ॥२॥

आहवनीयस्य दक्षिणोत्तरपार्श्वयोराज्यभागाविज्येते अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेति दर्शपूर्णमासे । तयोर्मध्येऽन्ये यागा अनुष्ठीयन्ते । तन्मध्यमावापस्थानमुच्यते । अग्निहोत्राहुत्योर्द्वित्वं प्रसिद्धम् । सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः । अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् । तत्कथमग्निहोत्रं प्रक्रम्याऽऽहुतीरिति बहुवचनं तत्राऽऽह—अनेकाहेति । अनेकेष्वहःसु प्रयोगानुष्ठानानि तदपेक्षयेत्यर्थः ॥ २ ॥

इसीलिये संसार स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए श्रुति कहती है ।

'तदेतत् सत्यम्' इत्यादि इष्ट साधन और अनिष्ट साधन के रूप में वेद जिस कर्म को बतलाता है वह असति प्रतिबंध के अवश्यमेव फल देता है। इसलिये उसे सत्य कहते हैं। संसार के स्वरूप के तत्त्वज्ञान द्वारा बाधित हो जाने पर भी स्वप्न की कामिनी के समान अर्थ क्रिया में सामर्थ्य देखा गया है। इसीलिये भी संसार एवं कर्म को सत्य (अवितथ) कहा गया है। वह क्या है? तो ऋग्वेदादि नामक मंत्रों में कहे गये अग्निहोत्रादि कर्म ही हैं। क्योंकि ऋग् आदि मंत्रों से ही इनके स्वरूप जाने जाते हैं। ऐसे कर्मों एवं उन कर्मों में फल साधनता को, स्पष्ट रूप से मेधावी वशिष्ठ आदि विद्वानों ने देखा है। इस प्रकार अवश्यमेव पुरुषार्थ-साधन होने से वे कर्म सत्य हैं, वेद विहित हैं और वशिष्ठ आदि ऋषियों से फल के सहित देखे गये हैं। उन कर्मों के अनेक प्रकार से कर्मनिष्ठ सद्पुरुषों द्वारा अनुष्ठान किये गये हैं। इसीलिये त्रेता में उनका विस्तार होना कहा गया है । ऋग्वेद-विहित पदार्थ को हौत्र कहते हैं। यजुर्वेद-विहित-पदार्थ को आध्वर्यव एवं सामवेद-विहित-पदार्थ को औद्गात्र कहते हैं ।

इन तीनों को मिलाकर हो त्रेता पद से कहा गया है। क्योंकि त्रिवेद से ये प्रकाशित हैं और अधिकरण रूप भी हैं। ऐसे त्रेता में पूर्वोक्त कर्म का विस्तार देखा गया है। अथवा त्रेता शब्द का अर्थ त्रेता युग भी होता है। उस त्रेता युग में प्रायशः कर्म-पारायण पुरुषों के द्वारा अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान हुआ करता था। अतः ऐसे त्रेता में अनेक प्रकार से प्रवृत्त कर्मों का अनुष्ठान तुम भी नित्य सत्यकाम हुए अर्थात् जिस कर्म का जो फल है, वैसे ही फल की कामना करते हुए अच्छी प्रकार से

१-२. आज्यभागौ-अग्नीषोमौ देवौ-वचनविपरिणामेन व्याचष्टे आज्यभागयोरिति । आज्यभागयजनाधिकरणदेशयोराहवनीयदक्षिणोत्तरपार्श्वयोरित्यर्थः । ३. आवापस्थानेहविः प्रक्षेपाधारे आहवनीये अग्नावित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

**यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्र-
यणमतिथिवर्जितं च । अहुतमवैश्वदेवमवि-
धिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥३॥**

जिस अग्निहोतृ का अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य और (शरदादि ऋतुओं में नवीन अन्न से किये जाने वाले) आग्रयण, इन कर्मों से रहित नित्य अतिथि पूजन से वर्जित, यथासमय किये जाने वाले अग्नि होत्रादि और वलिवैश्वदेव से रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया जाता है, वह कर्म (केवल हरिश्रममात्र फलवाला होने के कारण) जस कर्ता की सात पीढ़ियों या सात लोकों का नाश कर देता है। ॥३॥

कथं यस्याग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रमदर्शं दर्शाख्येन कर्मणा वर्जितम् । अग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वाद्दर्शस्य । [1]अग्निहोत्रसंबन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिव भवति तदक्रियमाणमित्येतत् । तथाऽपौर्णमासमित्यादिष्वप्यग्निहोत्रविशेषणत्वं द्रष्टव्यम् । [2]अग्निहोत्राङ्गत्वस्याविशिष्टत्वादपौर्णमासं पौर्णमासकर्मवर्जितम् । अचातुर्मास्यं चातुर्मास्यकर्मवर्जितम् । अनाग्रयणमाग्रयणं शरदादिकर्तव्यं तच्च न क्रियते [3]यस्य । तथाऽतिथिवर्जितं चातिथिपूजनं चाहन्यहन्यक्रियमाणं यस्य स्वयं सम्यगग्निहोत्रकालेऽहुतम् । अदर्शादिवदवैश्वदेवं वैश्वदेव-

---

दर्शस्याग्निहोत्राङ्गत्वे प्रमाणाभावात्कथं तदकरणमग्निहोत्रस्य विपत्तिरित्याशङ्क्य यावज्जीवचोदनावशादग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वात्तदकरणं भवेद्विपत्तिरित्यभिप्रेत्य [4]विशेषणम् । शरदादिषु

आचरण करो। तुम से सम्पादित पुण्य-कर्म का फल प्राप्त करने के लिये यही राजमार्ग है। इस मंत्र में लोक शब्द का अर्थ फल है और उसमें सप्तमी विभक्ति का अर्थ निमित्त। जो देखा जाय, अनुभव किया जाय यानी भोगा जाय ऐसे कर्मफल को लोक कहा गया है। उसकी प्राप्ति के लिये यही मार्ग है। जोकि यह त्रय वेद में अग्निहोत्रादि कर्म विहित है। ये फल प्राप्ति के लिये राजमार्ग हैं। अर्थात् फल प्राप्ति के निश्चित साधन हैं। यह इसका तात्पर्यार्थ है। ॥१॥

पूर्वोक्त मंत्र में बतलाये गये कर्मों में से सर्व प्रथम अग्निहोत्र को ही इस मंत्र से बतलाते हैं। क्योंकि सभी कर्मों में इसे प्रथय माना गया है। वह किस प्रकार ? जिस समय डाशे गये इन्धनों के द्वारा अच्छी प्रकार से हव्यवाहन अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और उसमें ज्वाला फूट उठती है, उस समय परिस्फुटित ज्वाला में आहवनीय अग्नि के दक्षिण और उत्तर भाग में घृत की आहुति डाले और उपादानों के वीच आवाप-स्थान में देवता के उद्देश्य से प्रातः काल 'सूर्याय स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' ऐसी दो आहुतियाँ डालें। वैसे ही सायंकाल 'अग्नये स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' ऐसी दो आहुतियाँ सायंकाल भी आवाप स्थान में डालें। सायं - प्रातः पूर्वोक्त रीति से दो दो आहुतियाँ डालने का नियम है फिर भी श्रुति में बहुबचन का प्रयोग अनेक दिनों में किये गये अनुष्ठान की अपेक्षा से किया गया है। सम्यक्

---

१. अग्निहोत्रसम्वन्ध्यग्निहोत्रविशेषणमिवेति दर्शाख्यं कर्म समांनकर्तृकत्वेनाग्निहोत्र सम्बन्फि भक्त्यत तो विशेषणं तस्य परम्परासम्बन्त्विादिवकार इति भावः। वृद्धास्तु अग्निहोत्रिसम्बन्ध्यपीति पाठमकल्पयम् । २. अग्निहोत्राङ्गत्वस्येत्यङ्गत्वोक्तिरग्निहोत्रिणोऽवश्यकर्तव्यत्वाभिप्रायेति टीकामुसाराद्दवगम्यते । ३. यस्येति - अग्निहोत्रस्य सम्बन्धीत्यर्थः। ४. विशेषणमित्यस्तानन्तरम् - इति प्रश्नपूर्वकमाह कथमितीतिशेषः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्मवर्जितं हूयमानमप्यविधिना हुतं न यथाहुतमित्येतत् । एवं दुःसंपादितमसंपादितमग्निहोत्राद्युपलक्षितं कर्म किं करोतीत्युच्यत आसप्तमान्सप्तमसहितांस्तस्य कर्तुर्लोकान्हिनस्ति हिनस्तीवाऽऽयासमात्रफलत्वात् । सम्यक्क्रियमाणेषु हि कर्मसु कर्मपरिणामानुरूपेण भूरादयः सत्यान्ताः सप्त लोकाः फलं प्राप्यन्ते । ते लोका एवंभूतेनाग्निहोत्रादिकर्मणा त्वप्राप्यत्वाद्धिंस्यन्त इवाऽऽयासमात्रं त्वव्यभिचारीत्यतो हिनस्तीत्युच्यते । पिण्डदानाद्यनुग्रहेण वा संबध्यमानाः पितृपितामहप्रपितामहाः पुत्रपौत्रप्रपौत्राः [1]स्वात्मोपकाराः सप्त लोका उक्तप्रकारेणाग्निहोत्रादिना न भवन्तीति हिंस्यन्त इत्युच्यते ॥३॥

नूतनान्नेन कर्तव्यमाग्रयणं कर्म । अदर्शादिवदवैश्वदेवमिति विशेषणम् । वैश्वदेवस्याग्निहोत्रानङ्गत्वेऽप्यावश्यकत्वादित्यर्थः । पिण्डोदकदानेन पित्रादीनां त्रयाणामुपकरोति यजमानः पुत्रादीनां च त्रयाणां ग्रासादिदानेन । ततो मध्यवर्तिना यजमानेन संबध्यमानाः पूर्वे त्रय उत्तरे च त्रयो गृह्यन्त इत्याह—पिण्डदानादीति ॥ ३ ॥

प्रकार से आहुति - प्रक्षेप आदि रूप यह कर्म लोक प्राप्ति के लिये राजमार्ग हैं। किन्तु उसका सम्यक् अनुष्ठान अत्यन्त कठिन हैं, क्योंकि इनमें अनेकों विपत्तियाँ हैं। ॥२॥

पूर्वोक्त कर्मानुष्ठान दुष्कर कैसे हैं ? इसे अग्रिम मंत्र से बतलाते हैं । जिस अग्निहोत्री का दैनिक अग्निहोत्र कर्म [अमावस्या के दिन अनुष्ठान किये जाने वाले] दर्शनामक कर्म से रहित है वह अग्निहोत्र उसका इष्ट साधन न होकर अनिष्ट का साधन हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि दर्शयाग नित्याग्निहोत्र करने वाले को अवश्य करना चाहिये । अग्निहोत्र सम्बन्धी होने के कारण दर्शयाग अग्निहोत्र का विशेषण जैसा प्रतीत होता है । इसीलिये केवल अग्निहोत्र करने पर यानी दर्शयाग न करने पर प्रत्यवाय सुना गया है। वैसे ही पौर्णमास रहित अग्निहोत्र भी अनिष्ट-कारक होता है। तथा अन्य चातुर्मास आदि को भी अग्निहोत्र का विशेषण समझना चाहिये । क्योंकि वे सब भी अग्निहोत्र के अंगदर्श पूर्णमास के समान ही हैं। अतः अग्निहोत्री को उनका अनुष्ठान भी अवश्य करना चाहिये।

वैसे ही चातुर्मास में अनुष्ठान किये जाने वाले कर्म को चातुर्मास में अनुष्ठान किये जाने वाले कर्म को चातुर्मास्य कर्म कहते हैं। शरदादि ऋतुओं में नूतन अन्न से आग्रयण कर्म किया जाता है। प्रतिदिन अग्निहोत्री को अतिथि पूजनभी करना चाहिये और समय पर अग्निहोत्र उसे करना चाहिये। यदि पूर्वोक्त अग्निहोत्र-कर्म चातुर्मास्य से रहित, आग्रयण कर्म से रहित और अतिथि पूजन से रहित है; तो वह यजमान का अनिष्ट - कारक है। वैसे बलिवैश्वदेवकर्म का अभाव भी अनिष्ट - कारक होता है। इस प्रकार अत्यन्त कठिनाई से संपादन किया किया गया या सर्वथा असंपादित अग्निपोत्रादि उपलक्षित अंग क्या अनिष्ट करता है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि उस कर्ता के सात लोकों को यह फल शून्य बना देता है। इसलिये उसे सात लोकों का हिंसक कहा गया है। सम्यक् प्रकार से कर्म करने पर ही जो कर्म के परिणाम रूप भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् - सात लोक रूप फल प्राप्त होते हैं। वे भूः आदि लोक पूर्वोक्त रीति से दर्श आदि शून्य अग्निहोत्रके अनुष्ठान करने पर प्राप्त नहीं होते। यही मानो उनकी हिंसा है। क्योंकि फल तो मिलता नहीं, पर परिश्रम अवश्यमेव होता ही है। अतः यजमान को फल न प्राप्त होना और आयास मात्र होना इसी को हिंसा कही गई है। पितृ-पितामह तथा प्रपितामह के निमित्त यथा समय पिण्डदानादि कर्म करने आवश्यक

१. स्वात्मेत्यादि स्वात्मनोपकारो येषामिति विग्रहः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

[काली, कराली, मनोजवा,सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचिदेवी, ये उस अग्नि की (आहुतियों के ग्रसने के लिए) लपलपाती हुईं सात जिह्वाएं हैं ॥४॥]

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः । काल्याद्या विश्वरुच्यन्ता लेलायमाना अग्नेर्हविराहुतिग्रसनार्था एताःसप्त जिह्वाः ॥४॥

हैं । अतः पिण्डदानादि के कारण ये यजमान से सम्बद्ध हैं । और पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र ये तीन अनुग्रह के द्वारा यजमान से सम्बद्ध माने गये हैं । ये दोनों ही यजमान की आत्मा के उपकारक हैं । इसलिये यजमान के सहित इन्हें सप्तलोक कहा गया है । इन सातों लोकों को पूर्वोक्त प्रकार से दर्श-आदि-शून्य केवल अग्निहोत्र हिंसित कर डालता है । यह भी इस मंत्र का अभिप्राय हो सकता है । इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि नित्य अग्निहोत्र करनेवाले अग्निहोत्री को उसके अंग रूप से दर्शपूर्णमास, चातुर्मास आग्रयण और अतिथि पूजन आदि अवश्य करना चाहिये ॥३॥

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता और सुधूम्रवर्णा स्फुलिंगिनि एवं विश्वरुचि नामकी दिव्य लपलपातीं हुई ज्वालायें हैं, ये अग्नि की सात जिह्वायें हैं । काली से लेकर विश्वरुचि पर्यन्त लपलपाती हुई अग्नि की ये सात जिह्वायें यजमान द्वारा दी गई आहुतियों के भक्षण के लिये मानी गई हैं ।

वेद में और विशेषरूप से इस उपनिषद् में सात संख्या की आवृत्ति अनेक बार की गई है । 'सप्त-प्राणाः प्रभवन्ति' इत्यादि मंत्र में सात संख्या की बहुधा आवृत्ति देखी गई है । भूः आदि सात लोक, क्षार आदि सात समुद्र, अतलादि सात नीचे के लोक जम्बुद्वीप आदि सात द्वीप, शुभेच्छा आदि सात ज्ञान की भूमिकायें, अज्ञान आदि सात चिदाभास की अवस्थायें, तथा वशिष्ठ आदि सप्तऋषि भी हैं । सूर्य रथ में सात घोड़े और पृथ्वी के शुक्ल आदि सात रूप होते हैं । इस प्रकार सात-सात की आवृत्ति बहुधा देखी जाती है । तन्त्र शास्त्र में शक्ति के सात भेद बतलाये गये हैं । वहाँ पर इस मंत्र का उदाहरण देकर तान्त्रिक लोक अपने सिद्धान्तानुसार भी इस वेद मंत्र का अर्थ करते हैं । जैसा भी हो, यजमान द्वारा शास्त्र विधि के अनुसार डाली गई आहुति का भक्षण इन्हीं काली आदि सप्त जिह्वाओं से अग्नि करती है । कार्य जगत् में ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों की जींवन आहुति को काल भगवान् सात दिनों में ग्रस लेता है । ऐसे अनेक कारणों को लेकर अग्नि की सात जिह्वायें इस मंत्र में बतलायी गयीं ॥४॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाऽऽहु-
तयो ह्याददायन् । तं नयन्त्येताः सूर्यस्य
रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

[जो अग्निहोत्री पुरुष इन दीप्तिमान् अग्नि शिखाओं में यथासमय आहुतियाँ डालता हुआ अग्नि होत्रादि कर्म का आचरण करता है उस यजमान को ये (इसकी दी हुईं आहुतियाँ) सूर्य की किरणों में होकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का एकमात्र स्वामी इन्द्र रहता है ॥५॥]

एतेष्वग्निजिह्वाभेदेषु योऽग्निहोत्री चरते कर्माऽऽचरत्यग्निहोत्रादि भ्राजमानेषु दीप्यमानेषु यथाकालं च यस्य कर्मणो यः कालस्तत्कालं यथाकालं यजमानमाददायन्नाददाना आहुतयो यजमानेन निर्वर्तितास्तं नयन्ति प्रापयन्त्येता आहुतयो या इमा अनेन निर्वर्तिताः सूर्यस्य [1]रश्मयो भूत्वा रश्मिद्वारैरित्यर्थः । यत्र यस्मिन्स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्र एकः [2]सर्वानुपर्यधिवसतीत्य[3]धिवासः ॥५॥

॥ ४ ॥ ५ ॥

देदीप्यमान् अग्नि की इन सात जिह्वाओं में जो अग्निहोत्री अग्निहोत्र आदि कर्म का यथासमय शास्त्र विधि से—अनुष्ठान करता है, उसी यजमान को उसके द्वारा डाली गई आहुतियाँ सूर्य को रश्मिरूप होकर उस लोक में पहूँचा देती हैं, जिस स्वर्ग लोक में देवताओं का अधिपति अनुपम–इन्द्र देव सबसे उपर निवास करता है। अग्निहोत्र आदि में काल और विधि का अतिक्रमण नहीं होना चाहिये। इसीलिये 'यथाकालम्' शब्द श्रुति में कहा गया है। अपने द्वारा अनुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्म का फल उसी यजमान को मिलता है। स्मार्त कर्म के सदृश्य श्रौत कर्म का नियम नहीं है। यथा वापी, कूप, तालाब आदि निर्माण कराने का संकल्प किया, उन्हें पूर्ण न कर सके और उसी यजमान के संकल्पित कर्म को उसके पुत्रादि पूर्ण कर देते हों तो उसका फल उस संकल्प कर्ता यजमान को मिल जाता है। किन्तु श्रौत कर्म में ऐसी बात नहीं है कि अग्निहोत्रादि का संकल्प कर अपूर्ण स्थिति में छोड़ दिया या वह यजमान मर गया, तो उसे उसका पुत्र पूर्ण करदे और अग्निहोत्रादि–कर्म का फल संकल्पकर्ता यजमान को प्राप्त हो जावे, ऐसा नियम नहीं है। इस बात को बतलाने के लिये इस मंत्र में' यश्चरते तं नयन्ति' ये शब्द दिये गये हैं। वे शास्त्रविधि से समय पर डालो हुई आहुतियाँ एक ओर सूर्य की रश्मि बन जाती हैं, एवं दूसरी ओर यजमान के अन्तःकरण में अदृष्ट बन कर रहती हैं। इन दोनों का सम्बन्ध उस कर्म के फल प्राप्ति कराने के लिये परमेश्वर करता है ॥५॥

१. रश्मयो भूत्वेति रश्मितादात्म्यापन्नाः सत्य इति भावः। २. सर्वानुपर्यधिवसतीति सर्वानधिवसतीत्यन्वयः "उपान्वध्याङ्वस" इति द्वितीया। अर्थमाह—उपरीति। सर्वेषामुपरि वसतीत्यर्थः। ३. सर्वाधिष्ठातेत्यर्थः सर्वेश्वर इति यावत्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मि-
भिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽ-
र्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

[वे दीप्तमती आहुतियाँ 'आओ-आओ, यह तुम्हारे सुकृत से प्राप्त हुआ पवित्र ब्रह्म लोक है।' इस प्रकार प्रिय वाणी से उसकी स्तुति करते हुए यजमान का अर्चन करती हुई उसे सूर्य की रश्मियों द्वारा स्वर्ग ले जाती हैं ॥६॥]

कथं सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्तीत्युच्यत एह्येहीत्याह्वयन्त्यः। सुवर्चसो दीप्तिमत्यः। किंच प्रियामिष्टां वाचं स्तुत्यादिलक्षणामभिवदन्त्य उच्चारयन्त्योऽर्चयन्त्यः पूजयन्त्यश्चैष वो युष्माकं पुण्यः सुकृतो यथा ब्रह्मलोकः फलरूपः। एवं प्रियां वाचमभिवदन्त्यो वहन्तीत्यर्थः। ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् ॥६॥

आहुतयो यजमानं वहन्तीति संबन्धः ॥ ६ ॥

सूर्य की रश्मियों के द्वारा वे आहुतियाँ यजमान को किस प्रकार स्वर्ग ले जाती हैं, ऐसी आकाँक्षा होने पर प्रकाश का वर्णन श्रुति करती है कि अत्यन्त दीप्तमती वे आहुतियाँ यजमान को आइये-आइये! इस प्रकार आह्वान करती हैं। और स्तुति आदि रूप प्रियवाणी का उच्चारण करती हैं। साथ ही अर्चना भी करती हैं। वे यजमान को सम्बोधित करते हुये कहती हैं कि यह आपका अत्यन्त पवित्र ब्रह्मलोक है। यहाँ पर प्रकरणवश ब्रह्मलोक का अर्थ स्वर्ग करना चाहिये। इस तरह प्रियवाणी द्वारा अभिवादन करते हुये सूर्य की रश्मियों के माध्यम से वे आहुतियाँ अग्निहोत्रादि कर्म करने वाले यजमान को स्वर्ग ले जाती हैं ॥६॥

ज्ञान रहित यह कर्म है और अविद्या काम एवं कर्म का कार्यफल असार तथा दुःख मूल है। इसलिये आगे के मंत्र से इसकी निंदा की जाती है। क्योंकि यज्ञ के संपादक सोलह ऋत्विज, यजमान और यजमानी से अठारह संख्या वाले दुर्बल नौका नाशवान् है। इन्हीं के आश्रित पूर्वोक्त कर्म को शास्त्र ने कहा है। अतः उक्त अठारह अदृढ़ नाशवान् आश्रय से संपन्न होने वाला कर्म उपासना रहित होने के कारण अवर है। [निम्न कोटि का है] अतः अवर कर्म का आश्रय उक्त अठारह साधन दुर्बल होने से फल के सहित कर्म नाशवान् है। जैसे कुण्डे में दूध या दही रक्खे हों, तो कुण्डे के नाश हो जाने पर दुग्धादि का भी नाश हो जाता है। ऐसे हो नश्वर साधनों से होनेवाला वह कर्म भी फल

---

१. प्रकरणादिति केवलकर्मप्रकरणादित्यर्थः। केवलेन च कर्मणम सत्यलोकस्याप्राप्यत्वात् 'कर्मणा पितृलोक' इति श्रुतेरिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

[ज्ञान रहित होने के करण जिनमें निकृष्ट कर्म माना गया वे (सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानी ऐसे) अठारह यज्ञ के साधन, अस्थिर एवं नश्वर बतलाये हैं। जो मूढ़ यही मोक्ष का साधन है। ऐसा समझकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे पुनः-पुनः जरामृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ॥७॥]

एतच्च ज्ञान[1]रहितं कर्मैतावत्फलमविद्याकामकार्यमतोऽसारं दुःखमूलमिति निन्द्यते। प्लवा विनाशिन इत्यर्थः। हि यस्मादेतेऽदृढा अस्थिरा यज्ञरूपा यज्ञस्य रूपाणि यज्ञरूपा यज्ञनिर्वर्तका अष्टादशाष्टादशसंख्याकाः षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्चेत्यष्टादश। एतदाश्रयं कर्मोक्तं कथितं शास्त्रेण। येष्वष्टादशस्ववरं केवलं ज्ञानवर्जितं कर्म। अतस्तेषामवरकर्माश्रयाणामष्टादशानामदृढयता प्लवत्वात्प्लवते सह फलेन तत्साध्यं कर्म। कुण्डविनाशादिवक्षीरदध्यादीनां तत्स्थानां नाशः। यत एवमेतत्कर्म श्रेयः श्रेयःकरणमिति येऽभिनन्दन्त्यभिहृष्यन्त्यविवेकिनो मूढा अतस्ते जरां च मृत्युं च जरामृत्युं किंचित्कालं स्वर्गे स्थित्वा पुनरेवापि यन्ति भूयोऽपि गच्छन्ति ॥७॥

रूप्यते निरूप्यते यदाश्रयतया यज्ञस्ते यज्ञरूपाः ॥ ७ ॥

के सहित काल पाकर नष्ट हो जाता है। फिर भी इस कर्म को मोक्ष का साधन मानकर विवेकहीन मूढ़ पुरुष प्रसन्न होते हैं और इसका अभिनन्दन करते हैं। इसलिये वे कुछ काल स्वर्ग में होकर पुनः-पुनः बुढ़ापा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अतः कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता क्योंकि कर्म के संपादक साधन, कर्म का स्वरूप एवं फल सभी नश्वर हैं। ऐसे कर्म से नित्य मोक्ष प्राप्त कभी हो नहीं सकता ॥७॥

अविद्या के मध्य में वर्तमान जीव प्रायशः हैं तो अविवेकी, किन्तु वे अपने आप को ही बुद्धिमान् संपूर्ण वेदितव्य वस्तु को जाननेवाला मानते हैं। वे किसी तत्त्वदर्शी के उपदेश की अपेक्षा भी नहीं रखते। ऐसे स्वयं पंडितम्मानी अविवेकी बुढ़ापा-रोग आदि अनेक अनर्थ समुदाय से बार-बार पीड़ित होते हुए स्वर्ग-नरक आदि उच्चावच्च-भाव को प्राप्त होते रहते हैं। उनकी दशा वैसे ही होती है, जैसे नेत्रहीन अन्धे से दिखलाये गये मार्ग पर चलने वाले नेत्र रहित अंधे संसार में गड्ढे कंटक आदि में पड़ते हैं। कर्म अचेतन जड़ होनें से दर्शन रहित है। उससे प्रेरित पुरुष कभी भी परमार्थ प्राप्त नहीं कर सकता। बल्कि परमार्थ–ज्ञान–शून्य होने से उसे बार-वार अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। और अच्छे बुरे लोक में भी जाना पड़ता है। दृष्टांत में चलने वाले और चलानेवाले दोनों को अंधा कहा गया है। वैसे ही दृष्टांत में भी कर्म एवं अविवेकी को तत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण अन्धा कहा

१. ज्ञानेति उपासनेत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

[अविद्या के मध्य में रहने वाले (बहुधा अविवेकी) अपने आप को सम्मानित और पण्डित मानने वाले वे मूढ पुरुष अन्धे से ले जाए गये अन्धे के समान (जरा रोगादि अनेक अनर्थ जाल से) पीड़ित होते और भटकते रहते हैं ॥८॥ अनेक प्रकार से अविद्या में ही रहनेवाले वे अज्ञानी पुरुष 'हम सब कृत-कृत्य हो चुके हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं क्योंकि कर्मी लोग कर्मफल सम्बन्धी-राग से बुद्धि के प्रतिहत हो जाने के कारण तत्त्व को नहीं जान पाते हैं। इसीलिये वे दुःखार्त होकर कर्मफल के नष्ट हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं ॥९॥]

किंचाविद्यायामन्तरे मध्ये वर्तमाना अविवेकप्रायाः स्वयं वयमेव धीरा [2]धीमन्तः [3]पण्डिता विदितवेदितव्याश्चेति मन्यमाना आत्मानं संभावयन्तस्ते च जङ्घन्यमाना जरारोगाद्यनेकानर्थव्रातैर्हन्यमाना भृशं पीड्यमानाः परियन्ति विभ्रमन्ति मूढाः । दर्शन-वर्जितत्वादन्धेनैवाचक्षुष्केणैव नीयमानाः प्रदर्श्यमानमार्गा यथा लोकेऽन्धा अक्षिरहिता गर्तकण्टकादौ पतन्ति तद्वत् ॥८॥

किंचाविद्यायां बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना वयमेव कृतार्थाः कृतप्रयोजना इत्ये-

---

स्वयमेवेति तत्त्वदर्श्युपदेशानपेक्षतया स्वमनोरथेनैवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥

जाता है ॥८॥

जो अविद्या में अनेक प्रकार से रह रहे हैं। किन्तु वे अज्ञानी 'हम कृत-कृत्य हो गये'—ऐसा मिथ्याभिमान करते हैं। वे विवेक शून्य केवल कर्मासक्त अज्ञानी उस परमात्मतत्त्व को कर्म एवं उसके फल में राग के कारण नही जान पाते। इसीलिये वे सदा आध्यात्मिकादि त्रिविध ताप से संतप्त होते रहते हैं और पुण्यकर्म के फल क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से गिर जाते हैं।

कर्म और फल में राग होने के कारण उस परमात्मतत्त्व को अज्ञानी कर्मी नहीं जान पाते हैं। उल्टे त्रिविधताप से सदा संतप्त होते रहते हैं। और किसी पुण्यकर्म के फल स्वरूप स्वर्ग लोक को प्राप्त भी करलें, तो भी पुण्य क्षीण होते ही उन्हें जन्ममरणादि रूप गर्त में गिरना ही पड़ता है ॥९॥

---

१. अविद्यायामिति—अविद्याशब्दोऽत्र तत्कार्यपरः—तथा च अविद्यायामित्यस्याविद्या कार्ये संघात इत्यर्थः-तदन्तरे तन्मध्यवर्त्यन्तःकरणे वर्तमानासूक्ततादात्म्यापन्ना इत्यर्थः । आत्मानात्मविवेकविकला इति यावत् । २. धीमन्तो लौकिकधीशालिनः । ३. पण्डिताः शास्त्रीयधीशालिनः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

[इष्ट (यागादि श्रौत कर्म) और पूर्त (वापी, कूप, तडागादि स्मार्त कर्म) को ही पुरुषार्थ के सर्वोत्तम साधन माननेवाले वे (पुत्र, पौत्रादि में मोहित हुए) महामूढ़ पुरुष किसी अन्य वस्तु को श्रेय का साधन नहीं समझते हैं। अतः वे स्वर्ग के उच्चतम स्थान में अपने कर्म फलों का अनुभव कर (अवशिष्ट कर्मानुसार) इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट (तिर्यगादि) लोक से प्रवेश करते हैं।।१०।।]

कर्मभिमन्यन्त्यभिमानं कुर्वन्ति बाला अज्ञानिनः यद्यस्मादेवं कर्मिणो न प्रवेदयन्ति तत्त्वं न जानन्ति रागात्कर्मफलरागाभिभवनिमित्तं तेन कारणेनाऽऽतुरा दुःखार्ताः सन्तः क्षीणलोकाः क्षीणकर्मफलाः स्वर्गलोकाच्च्यवन्ते ॥९॥

इष्टापूर्तम् । इष्टं यागादि श्रौतं कर्म । पूर्तं वापीकूपतडागादि स्मार्तं मन्यमाना

कं सुखं न भवतीत्यकं दुःखं तन्न विद्यते यस्मिन्नसौ नाकः ॥ १० ॥

श्रुति विहित यागादि श्रौतकर्म को इष्ट कहते हैं और स्मृति विहित वापी, कूप, तड़ागादि कर्म को पूर्त कहते हैं। ऐसे इष्ट और पूर्व कर्म को ही पुरुषार्थ का सर्वश्रेष्ठ साधन मानने वाले एवं इनसे भिन्न आत्मज्ञान को मोक्ष के साधन न मानने वाले पुत्र, पशु, बन्धु-बान्धवादि में अत्यन्तासक्त प्रमूढ़ कहे गये हैं। जो भोग का सर्वोच्च स्थान स्वर्ग है—वहाँ जाकर वे प्रमूढ़पुरुष अपने पुण्य फल कर्म का उपभोगकर शेष कर्म के फल स्वरूप इस मनुष्य लोक में आते हैं या इससे हीनतर पशु-पक्षी आदि योनियों में जाते हैं।

इष्टापूर्त को मोक्ष का साधन मानना और इससे भिन्न तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन न मानना इससे महान् मूर्खता है। ऐसे लोग चाहे पुण्य कर्म के फल भोग के लिये स्वर्ग भी जावें, फिर भी पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोक में मनुष्य शरीर या पशु-पक्षी आदि योनियों में उन्हें प्रवेश करना ही पड़ता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना संपूर्ण धर्माधर्म का नाश हो नहीं सकता। अतः शेष कर्म के फलस्वरूप पुनः-पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। "कम्" का अर्थ सुख होता है। और उससे भिन्न "अकम्" को दुःख कहते हैं। वह जहाँ पर न हो, वैसे लोक को नाक कहते हैं। दुःख का अत्यन्ताभाव मोक्ष काल में ही हो सकता है, किसी लोक विशेष में नहीं। अतः सुख बाहुल्य के कारण स्वर्ग को नाक कहा गया है न कि आत्यन्तिक सुख और दुःख के अत्यन्ताभाव के कारण। अतएव स्वर्ग भी विवेकियों के लिये हेय है। यही इसका अभिप्राय है ॥१०॥

केवल कर्म करने वालों का फल बतलाकर सगुणब्रह्म की उपासना सहित आश्रम कर्म करनेवालों का फल भी संसार विषयक ही होता है। इसे इस मंत्र से बतलाते हैं कि जो केवल कर्म करनेवालों से विपरीत हैं, यानी उपासना-सहित आश्रम-कर्म करनेवाले हैं। ऐसे वानप्रस्थ और संन्यासी स्वाश्रम विहित कर्मरूप तप एवं हिरण्यगर्भ आदि की उपासनारूप श्रद्धा का सेवन करते हुए स्त्रीजनों से असंकीर्ण अरण्य में वास करते हैं, और जो सद्गृहस्थ विषयों से इन्द्रियों को उपरत किये हुये उपसना प्रधान जीवन बिताते हैं, वे सभी पुण्य-पाप के

१. अभिभवेति तत्त्वज्ञानयोग्यताऽभावापादनेत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

[(किन्तु इसके विपरीत) जो शान्त और सम्पन्न वानप्रस्थ तथा संन्यासी लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए स्वधर्माचरणरूप तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त होकर उत्तरायण मार्ग से वहाँ जाते हैं। जिस सत्य लोकादि में वह अमृत और अव्यय स्वरूप हिरण्यगर्भादि पुरुष रहता है ॥११॥]

एतदेवातिशयेन पुरुषार्थसाधनं वरिष्ठं प्रधानमिति चिन्तयन्तोऽन्यदात्मज्ञानाख्यं श्रेयःसाधनं न वेदयन्ते न जानन्ति प्रमूढाः पुत्रपशुबन्ध्वादिषु प्रमत्ततया मूढास्ते च नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठे [1]उपरिस्थाने सुकृते भोगायतनेऽनुभूत्वाऽनुभूय कर्मफलं पुनरिमं लोकं मानुषमस्माद्धीनतरं वा तिर्यङ्नरकादिलक्षणं यथाकर्मशेषं विशन्ति ॥१०॥

ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता वानप्रस्थाः संन्यासिनश्च तपःश्रद्धे हि तपः स्वाश्रमविहितं कर्म । श्रद्धा हिरण्यगर्भादिविषया विद्या ते तपःश्रद्धे उपवसन्ति सेवन्तेऽरण्ये वर्तमानाः सन्तः । शान्ता उपरतकरण ग्रामाः । [2]विद्वांसो गृहस्थाश्च ज्ञानप्रधाना इत्यर्थः । [3]भैक्ष्यचर्यां चरन्तः परिग्रहाभावादुपवसन्त्यरण्य इति संबन्धः । सूर्यद्वारेण सूर्योपलक्षितेनो-

---

केवलकर्मिणां फलमुक्त्वा सगुणब्रह्मज्ञानसहिताश्रमकर्मिणां फलं संसारगोचरमेव दर्शयति—ये पुनस्तद्विपरीता ज्ञानयुक्ता इत्यादिना । अरण्ये [4]स्त्रीजनासंकीर्णे देशे । मुक्तानामिहैव सर्वकाम-

---

क्षीण हो जाने पर सूर्य से उपलक्षित उत्तरायण मार्ग द्वारा उस सत्यलोक आदि में अच्छी प्रकार से जाते हैं, जहाँ पर वह प्रथमज हिरण्यगर्भ अव्यय—आत्मा रहता है । जब तक संसार है—तब तक हिरण्यगर्भ स्थायी रूप से रहता है। इसीलिये उसे अव्यय आत्मा यानि अव्यय-स्वभाव कहा गया है। कर्म और उपासना के सह-अनुष्ठान करनेवाले अरण्यवासी वानप्रस्थ एवं संन्यासी भिक्षा द्वारा शरीर निर्वाह करते हैं, क्योंकि उनके पास परिग्रह का अभाव रहता है । अतः परिग्रह अभाव के कारण ही भिक्षाटन से जीवन निर्वाह करते हुए अरण्यवास उनके लिये कहा गया है। वह विद्वान् सद्गृहस्थों के लिये नहीं है। अपराविद्या से प्राप्त होने योग्य संसार गति यहाँ तक ही है। शंका—कुछ लोग इसी को मोक्ष कहते हैं ? समाधान—देश परिच्छिन्न होने के कारण ब्रह्मप्राप्ति को मोक्ष नहीं कह सकते क्योंकि 'मुक्त आत्माओं की सम्पूर्ण कामनायें जीते जी यहाँ पर ही विलीन हो जाती हैं,' 'वे तत्त्वज्ञानी समाहित-चित्त धीर-पुरुष सभी ओर से व्यापक-परमात्मा को प्राप्त कर उस सर्वात्मा में ही प्रवेश कर जाते हैं' 'ऐसी अनेक श्रुतियाँ हैं' और यह पराविद्या का प्रकरण भी नहीं है। अपराविद्या का प्रकरण चलते रहने पर अकस्मात् मोक्ष का प्रसंग लाना ठीक नहीं। ब्रह्मलोक

---

१. उपरिस्थान इति अनेन नाकस्यानेकविभागोपेतत्वं ध्वन्यते न्याय्यं च कर्मतारतम्येन फलतारतम्यं दृष्टं चेन्द्रस्य राजत्वमितरेषां तत्प्रजात्वमिति । २. विद्या ह्यत्रोपासना तद्वन्तो विद्वांस इति शान्तविशेषणत्वे तपःश्रद्धे इत्यनेन पौनरुक्त्यं स्यादतो व्याचष्टे—विद्वांसो गृहस्था इति । ३. नैतद्गृहस्थानामित्याशयेन सम्बन्धं दर्शयति—भैक्ष्यचर्यां चरन्त इत्यादिना । ४. वनमपि हि स्त्रीजनसंकुलं चेन्न तपोऽनुकूलमतो व्याचष्टे—स्त्रीजनासंकीर्ण इति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त्तरायणेन पथा ते विरजा विरजसः [1]क्षीणपुण्यपापकर्माणः सन्त इत्यर्थः। प्रयान्ति प्रकर्षेण यान्ति यत्र यस्मिन्सत्यलोकादावमृतः स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्माऽव्ययस्वभावो यावत्संसारस्थायी। एतदन्तास्तु [2]संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः। ननु—एतं मोक्षमिच्छन्ति केचिन्नेहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामास्ते स्वर्गं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्तीत्यादिश्रुतिभ्योऽप्रकरणाच्च [4]अपरविद्याप्रकरणे हि प्रवृत्तो न ह्यकस्मान्मोक्षप्रसङ्गोऽस्ति विरजस्त्वं [3]त्वापेक्षिकं [4]समस्तमपरविद्याकार्यं साध्यसाधनलक्षणं क्रियाकारकफलभेदभिन्नं द्वैतम्। एतावदेव यद्धिरण्यगर्भप्राप्त्यवसानम्। तथा च मनुनोक्तं स्थावराद्यां संसारगतिमनुक्रामता—

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" इति ॥११॥

प्रविलयं सर्वात्मभावं च दर्शयन्ति श्रुतयः। ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तु देशपरिच्छिन्नं फलं ततो न मोक्ष इत्याह—इहैवेति। ब्रह्मा [6]चतुर्मुखः। विश्वसृजः प्रजापतयो मरीचिप्रभृतयः। धर्मो यमः। महान्सूत्रात्मा। अव्यक्तं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः। सात्त्विकीं सत्त्वपरिणामज्ञानसहितकर्मफलभूतामित्यर्थः॥ ११॥

जानेवालों के लिये विरजस्त्व जो कहा गया है वह आपेक्षिक है। संपूर्ण अपरा विद्या का कार्य साध्य-साधनरूप क्रिया, कारक एवं फल विशेष से भिन्न वह अद्वैत है। यह हिरण्यगर्भ प्राप्ति रूप फल तो संसार दृष्टि से चरम [अन्तिम] है। ऐसे ही मनु ने कहा है—'चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीचि आदि प्रजापति, विश्वस्रष्टा, यम रूप धर्म, सूत्रात्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृति सत्त्वगुण के परिणाम ज्ञान सहित कर्म फल रूप उत्तम इस गति को, मनीषियों ने कहा है' अतः ब्रह्मलोक को मोक्ष कहना ठीक नहीं है ॥११॥

साध्य-साधन रूप संपूर्ण इस संसार से विरक्त पुरुष का ही पराविद्या में अधिकार है। इस बात को दिखलाने के लिये अब 'परीक्ष्यलोकान्' मंत्र कहा जाता है। जो ये ऋग्वेद आदि अपरा विद्या के विषय हैं; वे स्वाभाविक अविद्या, काम एवं कर्मरूप दोष से युक्त पुरुष द्वारा ही अनुष्ठेय हैं। क्योंकि अविद्या आदि दोष युक्त पुरुष के लिये ही इनका विधान किया गया है, एवं उनके अनुष्ठान के फल स्वरूप लोक जो दक्षिण और उत्तर मार्ग से प्राप्त किये जाते हैं। वैसे ही वेद विहित कर्म न करने से और निषिद्ध-कर्म करने से होने वाले पाप द्वारा नरक तिर्यक् प्रेतादि योनियों की प्राप्ति होती है। इन सभी की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम आदि प्रमाणों से अच्छी प्रकार करके ब्रह्मजिज्ञासु या जाति से ब्राह्मण पुरुष विरक्त हो जावे। क्योंकि संसार की गतिरूप अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त व्याकृत अथवा अव्याकृत जितने लोक हैं ये सभी बीज-अंकुर की भाँति एक दूसरे की उत्पत्ति के कारण हैं, जन्म, जरा, व्याधि आदि अनेकों अनर्थ से व्याप्त हैं केले के खंभे के समान निःसार हैं।

---

१. क्षीणपुण्यपापकर्माण इति उपास्तिजन्येनाशुक्लाकृष्णाख्यधर्मेण क्षपितशुक्लकृष्णकर्माण इत्यर्थः। तथा च पातञ्जलसूत्रम्— "कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषा" मिति उपासना हि योगः। २. संसारगतय इति संसारान्तर्गतानि फलानीत्यर्थः। ३. आपेक्षिकमिति शुक्लकृष्णकर्माभावापेक्षमित्यर्थः। ४. अपरविद्याप्रकरणेऽप्यलं स्वर्गोक्तिरेव हिरण्यगर्भोक्तिस्तु किमर्थेत्यत आह—समस्तमित्याह। ५. म० १२-५०। ६. चतुर्मुख इति विराजो रूपं सूत्रात्मनो महदर्थत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

[कर्म से प्राप्त हुए संपूर्ण लोकों को विवेक द्वारा परीक्षा कर मोक्षाभिलाषी ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे, क्योंकि संसार में अनित्य साधन कर्मोपासना से नित्य पदार्थ मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः उस नित्य वस्तु ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के लिये हाथ में समिधाओं का भार लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जावे ॥१२॥]

अथेदानीमस्मात्साध्यसाधनरूपात्सर्वस्मात्संसाराद्विरक्तस्य परस्यां विद्यायामधिकार-प्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—परीक्ष्य यदेतदृग्वेदाद्यपरविद्याविषयं [1]स्वाभाविक्यविद्याकामकर्म-दोषवत्पुरुषानुष्ठेयमविद्यादिदो[2]षवन्तमेव पुरुषं प्रति विहितत्वात्तदनुष्ठानकार्यभूताश्च

ऐहिककर्मफलस्य पुत्रादेर्नाशविषयं प्रत्यक्षं विमतमनित्यं कृतकत्वाद्घटवदित्यनुमानमामु-ष्मिकनाशविषयम् । तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत इत्याद्यागमस्तैरनित्यत्वेन सर्वात्मनाऽवधार्येत्यर्थः ।

माया मरीचिका तथा गन्धर्व नगर के आकार वाले हैं । स्वप्न और जल के बुल-बुले और फेन के समान हैं । प्रतिक्षण नष्ट होने वाले हैं । अविद्या-काम और दोष से प्रयुक्त कर्म द्वारा इन लोकों को प्राप्त किया जाता है। पुण्य-पाप से इनका निष्पादन होता है। ऐसा समझकर ब्राह्मण उन्हें पीठ पीछे करके नित्य सत्य तत्त्व का अन्वेषण करने के लिये चल पड़ता है। सर्वस्व त्याग-पूर्वक ब्रह्मविद्या में विशेष रूप से ब्राह्मण का ही अधिकार है, इसीलिये इस मंत्र में 'ब्राह्मण' शब्द कहा गया है। वह आचार्य शंकर के विचारानुसार जाति ब्राह्मण और सुरेश्वराचार्य के विचारानुसार ब्रह्मजिज्ञासु द्विजमात्र भी हो सकता है। ऐसा ब्राह्मण—पूर्वोक्त विशेषण-विशिष्ट लोकों की परीक्षा करके क्या करें ? इस पर कहते हैं कि वह वैराग्य को प्राप्त हो जावे यानी विरक्त हो जाय, एषणात्रय का परित्याग कर देवें। निःपूर्वक 'विद्' धातु का प्रयोग इसी वैराग्य अर्थ में होता है। उस वैराग्य का प्रकार बतलाते हैं कि इस संसार में नित्य पदार्थ कुछ भी नहीं हैं क्योंकि ये सभी लोक कर्म से उपार्जित हैं। अतएव अनित्य हैं। अतः नित्य कुछ भी नहीं। बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकार के कर्म अनित्य फल के साधन हैं। क्योंकि कर्म से प्राप्त होनेवाले कार्य उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य, ऐसे चार प्रकार के ही होते हैं; इससे भिन्न कर्म का कोई विशिष्ट फल नहीं होता है। इसके विपरीत नित्य, अमर, अभय, निर्विकार, अचल एवं स्थिर वस्तु को मैं चाहता हूं। अनित्य वस्तु को नहीं चाहता । अतः जिसमें परिश्रम भी बहुत है और जो अनर्थ का साधन है; ऐसे कर्म से हमें क्या लेना है? ऐसा समझकर संसार से उपरत एवं दुःखी हुआ वह साधक ब्राह्मण भय शून्य, कल्याण स्वरूप और नित्य जो पद है—उसे विशेष-रूप से जानने के लिये शम-दमादि साधन संपन्न आचार्य के पास ही जावे। शास्त्र - पंडित होकर भी स्वतंत्र रूप से ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण न करे । इसी अभिप्राय से 'गुरुमेव' इस पद में अवधारणार्थक 'एव' पद दिया गया है। गुरु उपसत्ति का प्रकार यह है, कि वह समित्पाणि अर्थात् सूखी लकड़ी का बोझ हाथ में लिया हुआ हो। जो सूचित कर रहा है कि मैं संसार से शुष्क काष्ठ के समान नीरस

१. स्वाभाविक्यविद्येति अत्र स्वाभाविकाविद्येति युक्तः पाठः पुंवद्भावविषयत्वात् स्वाभाविक्याऽविद्ययेति वा पाठः कल्पनीयः । २. दोषवन्तमिति । 'स्वर्गकामो यजेते' त्यादिना कामवन्तमेवोद्दिश्य विहितत्वादित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोका ये दक्षिणोत्तरमार्गलक्षणाः फलभूता ये च विहिताकरण[1]प्रतिषेधातिक्रमदोषसाध्या नरकतिर्यक्प्रेतलक्षणास्तानेतान्परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानागमैः सर्वतो याथात्म्येनावधार्य लोकान्संसारगतिभूतानव्यक्तादिस्थावरान्तान्व्याकृताव्याकृतलक्षणान्बीजाङ्कुरवदितरेतरोत्पत्तिनिमित्ताननेकानर्थशतसहस्रसंकुलान्कदलीगर्भवदसारान्मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान्प्रतिक्षणप्रध्वंसान्[2]पृष्ठतः कृत्वाऽविद्याकामदोषप्रवर्तितकर्मचितान्धर्माधर्मनिर्वर्तितानित्येतद्ब्राह्मणस्यैव [3]विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्यायामिति ब्राह्मणग्रहणम् । परीक्ष्य लोकान्किं कुर्यादित्युच्यते—निर्वेदं निःपूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे वैराग्यमायात्कुर्यादित्येतत् । स वैराग्यप्रकारः प्रदर्श्यते । इह संसारे नास्ति कश्चिदप्यकृतः पदार्थः । सर्व एव हि लोकाः कर्मचिताः कर्मकृतत्वाच्चानित्याः । न नित्यं किंचिदस्तीत्यभिप्रायः । सर्वं तु कर्मानित्यस्यैव साधनम् । यस्माच्चतुर्विधमेव हि सर्वं कर्म कार्यमुत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं वा नातःपरं कर्मणो विशेषोऽस्ति अहं च नित्येनामृतेनाभयेन कूटस्थेनाचलेन ध्रुवेणार्थेनार्थी न तद्विपरीतेन । अतः किं कृतेन कर्मणाऽऽयासबहुलेनानर्थसाधनेनेत्येवं निर्विण्णोऽभयं शिवमकृतं नित्यं पदं यत्तद्विज्ञानार्थं विशेषेणाधिगमार्थं स निर्विण्णो ब्राह्मणो गुरुमेवाऽऽचार्यं शमदमदयादिसंपन्नमभिगच्छेत् । शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद्गुरुमेवेत्यवधारणफलम् । समित्पाणिः समिद्भारगृहीतहस्तः श्रोत्रियं[4]मध्ययनश्रुतार्थसंपन्नं ब्रह्मनिष्ठं हित्वा सर्वकर्माणि केवलेऽद्वये ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सोऽयं ब्रह्मनिष्ठो जपनिष्ठस्तपोनिष्ठ इति यद्वत् । न हि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता संभवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात्[5] । स तं गुरुं विधिवदुपसन्नः प्रसाद्य पृच्छेदक्षरं पुरुषं सत्यम् ॥१२॥

"[6]नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं [7]स्थिति[8]र्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः"

इति स्मृतेर्ब्राह्मणस्यैवाधिकार इत्यर्थः । कूटस्थेन परिणामरहितेनाचलेन स्पन्दरहितेन ध्रुवेण प्रयत्नरहितेनाहमर्थी । [9]समित्पाणिरिति विनयोपलक्षणम् ॥ १२ ॥

एवं विरक्त हो चुका हूँ । अतः शुष्क काष्ठ में जैसे अग्नि शीघ्र प्रदीप्त हो जाती रहे वैसे ही आपके

---

१. प्रतिषेधातिक्रमेति—निषिद्धाचरणेत्यर्थः । २. पृष्ठतः कृत्वेति अनादृत्येति यावत् । ३. विशेपत इत्युक्त्या ब्राह्मणेतरस्यापि संन्यासेऽधिकारमनुमन्यत एव भाष्यकृदित्यवधेयम् । ४. अध्ययनेति । गुरुमुखादध्ययने न शास्त्रतदर्थज्ञानवन्तमित्यर्थः । ५. विरोधादिति उपमर्द्योपमर्दकत्वादित्यर्थः । ६. नैतादृशमिति शां. प. मो. ध. । शीलमिति—तत्रैवोक्तम्—

"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्य ते ॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्मपौरुषम् । अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन ॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि । शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम् ॥ इति

७. स्थितिर्मर्यादा नतिक्रमः । ८. दण्डनिधानम्—प्राणिपीडनवर्जनम् ।
९. संन्यासिगुरोः समिधामनुपयोगादाह—समित्पाणिरिति विनयोपलक्षणमिति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्मै विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥ ॥ इति प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

[वह ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आए हुए उस सम्यक् प्रकार से प्रशान्त चित्त और जितेन्द्रिय शिष्य को उस परविद्या का पूर्ण रूप से उपदेश करे। जिससे कि उस सत्य और अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है, (न्यायानुसार उक्त रीति से उपदेश कर सच्छिष्य को अविद्या समुद्र से तार देना आचार्य का कर्तव्य होता है) ॥१३॥]

तस्मै स विद्वान्गुरुर्ब्रह्मविदुपसन्नायोपगताय । सम्यग्यथाशास्त्रमित्येतत् । प्रशान्तचित्तायोपरतदर्पादिदोषाय । शमान्विताय बाह्येन्द्रियोपरमेण च युक्ताय सर्वतो विरक्तायेत्येतत् । येन विज्ञानेन यया विद्यया परयाऽक्षरमद्रेश्यादिविशेषणं तदेवाक्षरं पुरुषशब्दवाच्यं पूर्णत्वात्पुरि शयनाच्च सत्यं तदेव परमार्थस्वाभाव्यादक्षरं चाक्षरणादक्षतत्वादक्षयत्वाच्च वेद विजानाति तां ब्रह्मविद्यां तत्त्वतो यथावत्प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः । आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारणमविद्यामहोदधेः ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्ये प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥१॥

अक्षरणादिति । अवयवान्यथाभावलक्षणपरिणामशून्यत्वात् । अक्षतत्वादिति । अक्षयत्वाच्चेति । अशरीरत्वाद्विकारशून्यत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥
इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथममुण्डकं समाप्तम् ॥ १ ॥

द्वारा हुआ आध्यात्म ज्ञान मुझ में शीघ्र ही प्रदीप्त हो उठेगा । गुरु, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए अर्थात् वेद अध्ययन और उसके अर्थ ज्ञान से सम्पन्न हो, साथ ही साथ संपूर्ण कर्मों का परित्याग कर केवल अद्वितीय ब्रह्म में ही जिसकी निष्ठा हो, ऐसा ब्रह्मनिष्ठ भी हो। कोई जपनिष्ठ होता है, कोई तपनिष्ठ होता है। जो व्यक्ति अपने जीवन में जिसे कल्याण का सर्वोत्तम साधन मानता है, उसी में उसकी स्वाभाविक-निष्ठा हो जाती है—वैसे ही तत्त्वज्ञानी की स्वाभाविकनिष्ठा ब्रह्म में होती है। कर्म पारायण व्यक्ति की ब्रह्म में निष्ठा नहीं होती, क्योंकि कर्म और आत्मज्ञान में परस्पर विरोध है। इसलिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ही ब्रह्म विद्या का उपदेशक आचार्य हो सकता है। विधि पूर्वक गुरु की सन्निधि में गया हुआ वह साधक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को सेवादि के द्वारा प्रसन्न करके अक्षर सत्य पुरुष के सम्बन्ध में पूछे ॥१२॥

शास्त्रविधि के अनुसार गुरु के निकट आये हुए दर्प आदि दोष से रहित प्रशांतचित्त बाह्य इन्द्रियों की उपरामता रूप शम से युक्त अर्थात् सर्वतोभावेन विरक्त उस शिष्य को वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु उस विज्ञान का उपदेश करे जिस परा विद्या द्वारा अद्रश्यादि विशेषणों से विशिष्ट पुरुष शब्दवाच्य उस अक्षर को अधिकारी साधक जान लेता है। संपूर्ण विश्व में पूर्णतया व्याप्त होने के कारण एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

[वह यह (परमार्थ स्वरूप अक्षर ब्रह्म) परविद्या का विषय यथार्थ है। जिस प्रकार अच्छी प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं। हे प्रिय दर्शन! उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेक देहादि रूप पदार्थ प्रकट होते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं॥१॥]

अपरविद्यायाः सर्वं कार्यमुक्तम्। स च संसारो यत्सारो यस्मान्मूलादक्षरात्संभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यम्। यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तत्परस्या ब्रह्मविद्याया विषयः स वक्तव्य इत्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। यदपरविद्याविषयं कर्मफल[1]लक्षणं सत्यं तदा[2]पेक्षिकम्। इदं तु परविद्याविषयं परमार्थतःसल्लक्षणत्वात्। तदेतत्सत्यं यथाभूतं विद्याविषयम्। अविद्याविषयत्वाच्चानृतमितरत्। अत्यन्तपरोक्षत्वात्कथं नाम प्रत्यक्षवत्सत्यमक्षरं प्रतिपद्येरन्निति दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तात्सुष्ठु

द्वे विद्ये वेदितव्ये इत्युपन्यस्यापरविद्यामाद्यमुण्डकेन प्रपञ्च्य परविद्यां सूत्रितां प्रपञ्चयितुं द्वितीयमुण्डकारम्भ इत्याह—अपरविद्याया इत्यादिना। [3]कर्मणोऽपि प्राक्सत्यत्वमुक्तं तद्वदिदं सत्यत्वं न मन्तव्यमित्याह—यदपरविद्याविषयमिति। विषीयते विशेष्यते विद्याऽनेनेति व्युत्पत्त्या विषयशब्दस्य वस्तुपरत्वान्नपुंसकलिङ्गत्वं परमार्थतः सल्लक्षणत्वादत्यन्ताबाध्यत्वादित्यर्थः। अत्यन्तपरोक्षत्वादिति। [4]शास्त्रैकगम्यत्वात्। अपूर्ववद्ब्रह्मणः प्रत्यक्षत्वं न संभवति साक्षात्काराधीनं च कैवल्यं ततः कथं नाम सत्यमक्षरं प्रत्यक्षवत्प्रतिपद्येरन्मुमुक्षव इत्यभिप्रेत्य जीवब्रह्मणोरेकत्वे दृष्टान्तमाह—यथा सुदीप्तादिति।

शरीर तथा ब्रह्माण्ड में असंग भाव से शयन करने के कारण उस अक्षर को पुरुष कहा गया है। वही अपने वास्तविक स्वभाव से कभी विचलित नहीं होता—इसलिये उसे अक्षर कहते हैं। अवयव के अन्यथा-भाव रूप परिणाम का नाम क्षरण है, वह जिसमें न हो, उसे अक्षर कहते हैं। क्योंकि वह शरीर-रहित है। इसलिये वह अक्षत और अक्षय भी कहा गया है। ऐसे अक्षर को जिस विज्ञान से मुमुक्षु साधक जानता है उस ब्रह्मविद्या को ठीक-ठीक रीति से आचार्य आंगिरस ने शौनक से कह दिया। अतः अन्य आचार्य भी पूर्वोक्त रीति से समीप में आये हुए शिष्य को वैसे ही ब्रह्मविद्या का उपदेश करे। श्रुति के इस संकेत का स्पष्टीकरण भगवान् भाष्यकार ने 'प्रोवाच' पद का 'प्रब्रूयात्' अर्थ करके कर दिया है। क्योंकि आचार्य का यह नियम हो जाता है कि न्यायपूर्वक आये हुए शिष्य को अविद्या-महोदधि से पार कर दें॥१३॥

❁ द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड ❁

दो विद्या जानने योग्य हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करके प्रथम मुण्डक द्वारा विस्तार पूर्वक अपरा विद्या

१. फललक्षणमिति फलेन लक्ष्यत इति तथा। २. आपेक्षिकमिति फलाव्यभिचारापेक्षसत्यत्ववदित्यर्थः। ३. उभयोस्तुल्यसत्ताकत्वे 'प्लवा ह्येते' इत्यादिना कर्मण एव निन्दाऽनुपपत्तिमनुसंधायाह—कर्मणोऽपीत्यादि। ४. शास्त्रैकगम्यत्वादिति शास्त्रैकगम्यत्वसामान्येन गौणमात्मनोऽत्यन्तपरोक्षत्वं नित्यापरोक्षत्वादात्मनः स्वरूपत इति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दीप्तादिद्धात्पावकादग्नेर्विस्फुलिङ्गा अग्न्यवयवाः सहस्रशोऽनेकशः प्रभवन्ते निर्गच्छन्ति सरूपा अग्निसलक्षणा एव तथोक्त[1]लक्षणादक्षराद्विविधा नानादेहोपाधिभेदमनुविधीयमानत्वाद्विविधा हे सोम्य भावा [2]जीवा आकाशादिवघटादिपरिच्छिन्नाः सुषिरभेदा घटाद्युपाधिप्रभेदमनुभवन्ति । एवं नानानामरूप[3]कृतदेहोपाधिप्रभवमनुप्रजायन्ते तत्र चैव तस्मिन्नेवाक्षरेऽपि यन्ति देहोपाधिविलयमनुलीयन्ते घटादिविलयमन्विव सुषिरभेदाः । यथाऽऽकाशस्य सुषिरभेदोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वं घटाद्युपाधिकृतमेव तद्वदक्षरस्यापि नामरूपकृतदेहोपाधिनिमित्तमेव जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वम् ॥१॥

एकत्वे सति प्रत्यग्रूपस्यापरोक्षत्वाद्ब्रह्मणोऽपि प्रत्यक्षत्वं भविष्यति घटैकदेशप्रत्यक्षत्वे घटप्रत्यक्षवदित्यर्थः । यथा [4]विभक्तदेशावच्छिन्नत्वेन विस्फुलिङ्गेष्ववयवत्वादिव्यवहारः स्वतः पुनरग्न्यात्मत्वमेवोष्णप्रकाशत्वाविशेषात्तथा चिद्रूपत्वाविशेषाज्जीवानां स्वतो ब्रह्मत्वमेवेत्यर्थः ॥१॥

का संपूर्ण कार्य बतला दिया गया । अब द्वितीय मुण्डक आरंभ किया जाता है । अपरा विद्या का विषय वह संसार ही है, किन्तु इसका जो सार है और जिस कारण अक्षर तत्त्व से यह संसार उत्पन्न होता है, जिसमें प्रलीन होता है; वह अक्षर पुरुष सत्य है जिसके जानने पर यह सब जान लिया जाता है। वही ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का विषय है। उसी को बतलाने के लिये आगे का ग्रंथ प्रारंभ किया जाता है'। अपरा विद्या का विषय जो कर्मफल है वह आपेक्षिक सत्य है। इसीलिये प्रथम मुण्डक के द्वितीय खंड के प्रथम मंत्र में उसे भी सत्य कहा है। किन्तु यह ब्रह्म परा विद्या का विषय होने से त्रिकालाबाधित परमार्थ सत्य है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्व रूप परमार्थ सत्य का लक्षण इसमें घटता है।

विद्या का विषय पहले मंत्र में बतलाया गया । अक्षर ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है अथवा अक्षर ब्रह्म अत्यन्त परोक्ष है। इस पर शंका होती है कि अक्षर ब्रह्म अत्यन्त परोक्ष है उस अक्षर सत्य तत्त्व को प्रत्यक्ष की भाँति कोई कैसे समझ सकता है? इस बात को समझाने के लिये अध्यारोप अपवाद न्याय का अनुसरण करते हुये श्रुति दृष्टांत देती है । जैसे भली प्रकार प्रदीप्त अग्नि से अग्नि के अवयव रूप चिनगारियाँ अग्नि के समान ही दाह एवं प्रकाश स्वभाववाली अनेकों निकल पड़ती हैं, वैसे ही पूर्वोक्त लक्षणों से लक्षित अक्षर ब्रह्म से अनेक देह रूप उपाधि विशेष का अनुविधान करते हुए अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं। और पुनः उसी अक्षर ब्रह्म में देह उपाधि विलय के पीछे लीन भी हो जाते हैं। हे सोम्य! जैसे घटादि उपाधि से परिच्छिन्न आकाशादि सुषिर भेद घटादि उपाधि भेद का अनुभव करते हैं, वैसे ही अनेक नाम रूप के किये हुए देह उपाधि जब उत्पन्न होते हैं तो जीव भी उत्पन्न हुआ माना जाता है । और देह उपाधि विलय के पीछे उसी अक्षर में ये सभी लीन हो जाते हैं। अर्थात् घटादि उपाधि के विलीन होते ही घटाकाश आदि भेद भी महाकाश में लीन हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि आकाश के घटाकाश आदि विशेष-विशेष भेद घट रूप उपाधि के पीछे उत्पन्न हुआ माना जाता है और उसके प्रलय के साथ घटाकाशादि का प्रलय हो जाता है। इसीलिये घटाकाश की उत्पत्ति और प्रलय घटादि उपाधि के उत्पत्ति और प्रलय निमित्त से ही होता है। ठीक

---

१. उक्तलक्षणादिति—सोपाधिकादिति शेषः । २. दृष्टान्ते सरूपा इति विशेषणस्वारस्येन व्याचष्टे—जीवा इति ।
३. कृतेति कार्येत्यर्थः । ४. निवक्षितांशोक्त्या दृष्टान्ततात्पर्यमाह—विभक्तेत्यादिना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

[(वह अक्षर ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण) निश्चय ही दिव्य, आकार रहित, पुरुष, बाहर-भीतर-सर्वत्र-वर्तमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित, परिशुद्ध एवं (माया कार्य की अपेक्षा) श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है ॥२॥]

नामरूपबीजभूतादव्याकृताख्यात्स्वविकारापेक्षया परादक्षरात्परं यत्सर्वोपाधिभेदवर्जितमक्षरस्यैव [1]स्वरूपमाकाशस्येव सर्वमूर्तिवर्जितं [2]नेति नेतीत्यादिविशेषणं विवक्षन्नाह । दिव्यो द्योतनवान्स्वयंज्योतिष्ट्वात् । दिवि वा स्वात्मनि भवोऽलौकिको वा । हि यस्मादमूर्तः [3]सर्वमूर्तिवर्जितः पुरुषः पूर्णः पुरिशयो वा । दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरः सह बाह्याभ्यन्तरेण वर्तत इति । अजो न जायते कुतश्चित्स्वतोऽन्यस्य जन्मनिमित्तस्य चाभावात् । यथा जलबुद्बुदादेर्वाय्वादि । यथा नभःसुषिरभेदानां घटादिसर्वभावविकाराणां जनिमूलत्वात्तत्प्रतिषेधेन सर्वे प्रतिषिद्धा भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽतोऽजरोऽमृतोऽक्षरो ध्रुवोऽभय इत्यर्थः । यद्यपि देहाद्युपाधिभेददृष्टीनामविद्याव-

अक्षरस्यापि जीवोत्पत्तिप्रलयनिमित्तत्वमौपाधिकमुक्तमेकत्वसिद्ध्यर्थम् । तत्त्वतस्तु निमित्तनैमित्तिकभावोऽपि नास्तीत्याह—नामरूपबीजभूतादिति । देहापेक्षया यद्बाह्यमान्तरं च प्रसिद्धं तेन सह तत्तादात्म्येन तदधिष्ठानतया वा वर्तत इति सबाह्याभ्यन्तरः । अत एव सर्वात्मत्वात्तद्व्यतिरिक्तनिमित्ताभावादज इत्यर्थः । जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीत्येवमादिभावविकाराणां निषेधे तात्पर्यमजशब्दस्याऽऽह—सर्वभावविकाराणामिति । जीवानां प्राणादिमत्त्वात्तदात्मत्वे ब्रह्मणोऽपि प्राणादिमत्त्वं प्राप्तं तन्निवर्तयति—यद्यपीत्यादिना । स्मृतिसंशयाद्यनेक[4]ज्ञानेषु शक्तिविशेषो[5]ऽस्या-

वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति और प्रलय का निमित्त भी नामरूप के किये हुए देह उपाधि ही तो है । नामरूप देहात्मक उपाधि के उत्पन्न होने पर जीव उत्पन्न हुआ और उपाधि के लीन होने पर जीव ब्रह्म में लीन हो गया, ऐसा सभी व्यक्ति कहते हैं ॥१॥

भूत-भौतिक प्रपंच अव्याकृत प्रकृति के विकार हैं । अपनी इस विकार की अपेक्षा से नाम रूप के बीज अव्याकृत प्रकृति को पर और अक्षर कहा गया है । उस अव्याकृत अक्षर से पर वह अक्षर है, जो संपूर्ण उपाधियों से रहित है । इसी अक्षर का स्वरूप बतलाते हैं कि आकाश के समान संपूर्ण आकार से रहित निराकार स्वरूप है जिसे 'नेति नेति' इत्यादि विशेषणों की विवक्षा करते हुए श्रुति कहती है, वह परमात्मा स्वयं प्रकाश होने से द्युतिवाला दिव्य है । द्युलोक में जो रहता हो, या अपने आत्मा में स्थित हो अथवा लोकोत्तर पदार्थ हो, उसे

१. स्वरूपमिति अधिष्ठानत्वादबाध्यं रूपमित्यर्थः । २. नेति नेतीत्यादिविशेषणमिति मूर्तामूर्तादिद्वैतनिषेधावधित्वविशेषणकमित्यर्थः । ३. सर्वमूर्तिवर्जित इति सर्वाकाररहितो निराकार इत्यर्थः । ४. ज्ञानेष्वित्यनुकूलत्वं सप्तम्यर्थस्तथा च ज्ञानानुकूलशक्तीत्यर्थः । ५. अस्य=मनसः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शाद्देहभेदेषु सप्राणः समनाः सेन्द्रियः सविषय इव प्रत्यवभासते तलमलादिमदिवाऽऽकाशं तथाऽपि तु स्वतः परमार्थदृष्टीनामप्राणोऽविद्यमानः क्रियाशक्तिभेदवांश्चलनात्मको वायुर्यस्मिन्नसावप्राणः । तथाऽमना अनेकज्ञानशक्तिभेदवत्संकल्पाद्यात्मकं मनोऽप्यविद्यमानं यस्मिन्सोऽयममना अप्राणो ह्यमनाश्चेति । प्राणादिवायुभेदाः कर्मेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च तथा च बुद्धिमनसी बुद्धीन्द्रियाणि तद्विषयाश्च प्रतिषिद्धा वेदितव्याः । तथा च श्रुत्यन्तरे—ध्यायतीव लेलायतीवेति । यस्माच्चैवं प्रतिषिद्धोपाधिद्वयस्तस्माच्छुभ्रः शुद्धः । अतोऽक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपात्सर्वकार्यकारणबीजत्वेनोपलक्ष्यमाणत्वात्परं तदुपाधिलक्षणमव्याकृताख्यमक्षरं सर्वविकारेभ्यस्तस्मात्परतोऽक्षरात्परो निरुपाधिकः पुरुष इत्यर्थः । यस्मिंस्तदा[1]काशाख्यमक्षरं [2]सव्यवहारविषय[3]मोतं प्रोतं च । कथं पुनरप्राणादिमत्त्वं तस्येत्युच्यते । यदि हि प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति तदा पुरुषस्य प्राणादिना विद्यमानेन प्राणादिमत्त्वं भवेन्न तु ते प्राणादयः प्रागुत्पत्तेः पुरुष इव स्वेनाऽऽत्मना सन्ति । अतोऽप्राणादिमान्परः पुरुषः । यथाऽनुत्पन्ने पुत्रेऽपुत्रो देवदत्तः ॥२॥

स्तीति [4]तथोक्तं नामरूपयोर्बीजं ब्रह्म तस्योपाधितया लक्षितं शुद्धस्य कारणत्वानुपपत्त्या गमितं स्वरूपमस्येति तथोक्तम् । तस्मादुपाधिरूपात्तद्विशिष्टरूपाच्च परतोऽक्षरात्पर इति संबन्धः । कथं मायातत्त्वस्याक्षरस्य परत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—सर्वकार्येति । कार्यं ह्यपरं प्रसिद्धम् । तत्कारणत्वेन गम्यमनात्वान्मायातत्त्वं परम् । [5]यौक्तिकबाधादनिर्वाच्यत्वेऽपि स्वरूपोच्छेदाभावादक्षरम् ।

तदुक्तं गीतायाम्—"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इति ॥२॥

दिव्य कहते हैं । क्योंकि वह संपूर्ण मूर्त्ति यानी आकार से रहित है; वह पूर्ण है अथवा शरीर या ब्रह्माण्ड रूप पुर में असंग भाव से निवास करता है । इसलिये वह पुरुष है । वह दिव्य अमूर्त्त पुरुष देह की अपेक्षा से बाहर और भीतर भी विद्यमान है । इसलिये उसे "सबाह्याभ्यन्तरः" कहा गया है, वह किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता । इतना ही नहीं, किन्तु साधन निरपेक्ष साक्षात् अपरोक्ष होने के कारण सदा विद्यमान है । अतः प्रकट ही नहीं होता है; क्योंकि उससे भिन्न उसके जन्म या साक्षात्कार कोई निमित्त है ही नहीं । जैसे जल के बुल-बुले आदि के निमित्त वायु आदि है—ऐसा उसके उत्पत्ति का कोई निमित्त नहीं है । वह तो सुषिर भेद का एक-मात्र स्वरूप आकाश के समान है । अर्थात् घटादि उपाधि के कारण जैसे घटाकाश आदि व्यवहार होते हुए भी वे वस्तुतः महाकाश स्वरूप ही हैं । वैसे ही देहादि उपाधि के कारण से जीव-ईश आदि भेद होते हुए भी वस्तुतः चिन्मात्र स्वरूप अजन्मा ही है । घटादि संपूर्णभाव विकार के उत्पत्ति कारण का निषेध कर देने पर घटाकाश

---

१. आकाशाख्यमिति अव्याकृताकाशाख्यमित्यर्थः । २. सव्यवहारविषयमिति=व्यवहारः शब्दः नामेति यावत् । नाम्नः शब्दात्मकत्वात् विषयो रूपम्=तथा च नामरूपात्मककार्यसहितमित्यर्थः । ३. ओतं च प्रोतं चेति अध्यस्तमिति यावत् । ४. तथोक्तमिति अनेकज्ञानशक्तिभेदवदित्युक्तं मन इत्यर्थः । ५. यौक्तिकबाधादिति सत्त्वेनासत्त्वेन तदुभयरूपत्वेन । सावयवत्वेन निरवयवत्वेन तदुभयरूपत्वेन । भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेन तदुभयरूपत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वं यौक्तिकबाधः । निरुक्तयुक्तिभिः साधायितुमशक्यस्वरूपत्वमित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

[इसी अक्षर ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सभी इन्द्रियाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥३॥]

कथं ते न सन्ति प्राणादय इत्युच्यते । यस्मादेतस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षिताज्जायत उत्पद्यतेऽविद्याविषयविकारभूतो नामधेयोऽनृतात्मकः प्राणः "वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतम्" इति श्रुत्यन्तरात् । न हि तेनाविद्याविषयेणानृतेन प्राणेन सप्राणत्वं परस्य स्यादपुत्रस्य स्वप्नदृष्टेनेव पुत्रेण सपुत्रत्वम् । एवं मनः सर्वाणि चेन्द्रियाणि विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते । तस्मात्सिद्धमस्य निरुपचरितमप्राणादिमत्त्वमित्यर्थः । यथा च प्रागुत्पत्तेः परमार्थतोऽसन्तस्तथा प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्याः । यथा करणानि मनश्चेन्द्रियाणि तथा शरीरविषयकारणानि भूतानि खमाकाशं वायुर्बाह्य

यदेव चैतन्यं निरुपाधिकं शुद्धमविकल्पं ब्रह्म यत्तत्त्वज्ञानाज्जीवानां कैवल्यं तदेव मायाप्रतिबिम्बितरूपेण कारणं भवतीत्याह—यस्मादेतस्मादेवेति । प्राणोत्पत्तेरूर्ध्वं तर्हि 'सप्राणत्वं परमात्मनो भविष्यतीतिशङ्कानिवृत्त्यर्थं श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं प्राणस्य विशेषणमाह—अविद्याविषय इति । नामधेय इति । वाङ्मात्रो न वस्तुवृत्त इत्यर्थः । प्राणादीनां पाठक्रमोऽयमर्थक्रमेण बाध्यते । "गताः कलाः

आदि कल्पित नामरूप आदि सभी निषिद्ध हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि वह परमात्मा सर्वत्र बाह्याभ्यंतर अजन्मा है। अतएव जरा रहित, मृत्यु रहित, नाश रहित चलनादि क्रिया से शून्य और अभय है। श्रुति ने परमात्मा को अज कह के उपलक्षण रूप से संपूर्ण छः प्रकार के भाव विकारों का निषेध कर दिया है।

यद्यपि देहादि-उपाधि दृष्टिवाले लोगों की दृष्टि से अविद्या के कारण भिन्न-भिन्न शरीर में वह प्राणवाला, मनवाला, इन्द्रियवाला तथा विषयवाला जैसा प्रतीत होता है। किन्तु यह प्रतीति उसमें स्वच्छ आकाश में तलमलादि प्रतीति के समान है। फिर भी परमार्थ दृष्टि वाले तत्त्वज्ञानियों के लिये वह स्वरूपतः क्रियाशक्ति विशेषवाले चलनात्मक वायु से रहित है। अतः वह 'अप्राणः' कहा गया है। वैसे ही अनेक प्रकार के ज्ञान शक्ति विशेषवाला संकल्प आदि रूप मन भी जिसमें नहीं है। अतः वह आत्मा 'अमनाः' भी कहा गया है। प्राणादि वायु विशेष सभी कर्म-इन्द्रियाँ एवं उनके विषय इन सबका पूर्वोक्त वाक्यों से प्रतिषेध समझ लेना चाहिये। इसलिये दूसरी श्रुतियों में उसे "ध्यान करते हुए जैसे चिन्तन करते हुए के जैसे" इत्यादि शब्दों से बतलाया है। इस प्रकार जब दोनों उपाधियों का प्रतिषेध कर दिया, तो इसीलिये वह शुभ्र यानी अविद्या आदि मल से रहित, शुद्ध कहा गया है। अतः नाम-रूप बीज उपाधि से लक्षित स्वरूप है और संपूर्ण कार्य एवं कारण के बीज रूप से उपलक्षमान अक्षर प्रकृति है, उससे परमात्मा को पर कहा गया है। ऐसे तो संपूर्ण विकारों की अपेक्षा परमेश्वर

१. अविद्येति भ्रान्तिसिद्धविकाररूप इत्यर्थः । २. सप्राणत्वमिति तथा च कादाचित्कत्वादप्राणत्वमपि निरुपचरितं न स्यादिति भावः । ३. मु० ३।२।७ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवहादिभेदः। ज्योतिरग्निः। आप उदकम्। पृथिवी धरित्री विश्वस्य सर्वस्य धारिणी। 'एतानि च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोत्तरोत्तरगुणानि पूर्वपूर्वगुणसहितान्येतस्मादेव जायन्ते। संक्षेपतः परविद्याविषयमक्षरं निर्विशेषं पुरुषं सत्यं दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादिना मन्त्रेणोक्त्वा पुनस्तदेव सविशेषं विस्तरेण वक्तव्यमिति प्रववृते संक्षेपविस्तरोक्तो हि पदार्थः सुखाधिगम्यो भवति सूत्रभाष्योक्तिवदिति ॥ ३ ॥

पञ्चदश प्रतिष्ठाः" इति भूतेषु लयश्रवणेन प्राणानां भौतिकत्वावगमाद्भूतोत्पत्त्यनन्तरं प्राणोत्पत्तिर्द्रष्टव्येति। अभिमुखमागच्छन्वायुरावहः पुरतो गच्छन्प्रवह इत्यादिभेदः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा 'उत्तरोत्तरस्य गुणा येषां तानि तथोक्तानि। यथा शुक्लतन्त्ववस्थापन्नादन्वयि'कारणाज्जायमानः पटः शुक्लगुणो जायते तथाऽऽकाशावस्थापन्नाद्ब्रह्मणो जायमानो वायुराकाशगुणेन शब्देनान्वितो जायते। तथैव वायुभावापन्नाद्ब्रह्मणोऽग्निस्तद्गुणेनान्वितो जायत इति द्रष्टव्यम्। ननु सूक्ष्माणि भूतानि प्रथममुत्पद्यन्ते। अनन्तरं तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोदिति पञ्चीकरणोपलक्षणार्थं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चात्मकत्वमवगम्यते। तत एकैकस्य भूतस्य पञ्चगुणवत्त्वं वर्णितमन्यत्र कथमिह पञ्चीकरणमनादृत्य 'प्रथमसर्ग एवाऽऽका'शस्यैकगुणत्वं वायोर्हि द्विगुणत्वं तेजसस्त्रिगुणत्वमित्याद्युच्यते। सत्यम्। भूतसर्गे तात्पर्याभावद्योतनाय प्रक्रियान्तरं न विरुध्यते। न ह्येतत्'प्रतिबद्धं किंचित्फलं श्रूयते। अत एव गुणगुणिभावोऽपि न वैशेषिकपक्षवदिह विवक्षितः। किंतु राहोः शिर इतिवद्व्यपदेशमात्रम्। विस्तरेण त्वन्त्यकार्यपर्यन्तं तेन तेनाऽऽकारेण ब्रह्मैव विवर्तत इति प्रपञ्च्यते ततोऽतिरिक्तस्याणुमात्रस्यासंभवात्तस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति प्रदर्शनार्थमित्यर्थः ॥ ३ ॥

की उपाधि से उपहित—अव्याकृत अक्षर भी पर कहा गया है, किन्तु उस अक्षर से भी निरुपाधिक पुरुष को श्रेष्ठ माना है; क्योंकि वह आकाश नाम वाला अक्षर व्यवहार के सहित संपूर्ण विषयों में ओत-प्रोत है।

शंकाः—फिर भला उसे प्राणादि से रहित कैसे कहते हो?

समाधानः—यदि उत्पत्ति से पूर्व आत्मा के समान अपने रूपसे प्राणादि भी होते हैं। निःसंदेह विद्यमान प्राणादि उपाधि के कारण वह पुरुष भी प्राणादिमान् हो जाता, किन्तु वे प्राणादि उत्पत्ति से पूर्व स्वरूप से पुरुष की भाँति जब हैं ही नहीं तो उसे अप्राणादिमान् क्यों न कहा जाय? जैसे पुत्र उत्पन्न होने से पहिले देवदत्त को अपुत्र कहा जाता है। ऐसे ही प्राणादि की उत्पत्ति से पहिले परमात्मा को 'अप्राणो ह्यमनः' कहा गया है। अतः वह पर पुरुष प्राणादि रहित है ॥२॥

परमात्मा में जिन प्राणादि का निषेध किया गया है, वे प्राणादि परमात्मा में क्यों नहीं हैं? इस शंका का समाधान श्रुति देती है, क्योंकि नाम-रूप एवं इसके बीज से उपलक्षित इस परमात्मा से ही प्राणादि उत्पन्न होते हैं। जो कि अविद्या के विषय विकार नाम मात्र के हैं, अतएव अनृत हैं। 'विकार वाणी मात्र कहने के लिये है, वस्तुतः नहीं है। अतः मिथ्या है'—ऐसा दूसरी श्रुति भी कहती है। अविद्या के कार्य मिथ्या प्राण से उस परमात्मा में सप्राणत्व वैसे ही नहीं आ सकता, जैसे—अपुत्र व्यक्ति

१. यदुक्तं विषयाश्चेति तद्व्यनक्ति—एतानि चेत्यादिना। २. उत्तरेत्यादि—उत्तरोत्तरगुणा इति पाठान्तरम्। ३. अन्वयिकारणादिति—अनुगततूलात्मकादित्यर्थः। ४. प्रथमसर्ग एवेति प्रथमो हि सूक्ष्माणां भूतानां सर्गो वक्तव्यस्ततः पञ्चीकरणेन स्थूलभूतसर्गो द्वितीयस्ततः प्रत्येकं पञ्चगुणत्वमेव वर्णयितव्यमासीदिति भावः। ५. शब्दस्पर्शेत्यादिभाष्यतात्पर्यं व्यनक्ति—आकाशस्यैकगुणत्वमित्यादिना। ६. प्रतिबद्धं=संबद्धं प्रयुक्तमिति यावत्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

[अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु प्राण है, समस्त जगत् जिसका हृदय है और जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई है। वही देव सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा है ॥४॥]

योऽपि प्रथमजात्प्राणाद्धिरण्यगर्भाज्जायतेऽण्डस्यान्तर्विराट् स तत्त्वान्तरितत्वेन[1] लक्ष्यमाणोऽप्येतस्मादेव पुरुषाज्जायत एतन्मयश्चेत्येतदर्थमाह । तं च विशिनष्टि । अग्निर्द्युलोकः "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" इति श्रुतेः । मूर्धा यस्योत्तमाङ्गं शिरः । चक्षुषी चन्द्रश्च सूर्यश्चेति । चन्द्रसूर्यौ यस्येति सर्वत्रानुषङ्गः कर्तव्यः । अस्येत्यस्य पदस्य वक्ष्यमाणस्य यस्येति विपरिणामं कृत्वा, दिशः श्रोत्रे यस्य । वाग्विवृता उद्घाटिताः प्रसिद्धा वेदा यस्य । वायुः प्राणो यस्य हृदयमन्तःकरणं विश्वं समस्तं जगदस्य यस्येत्येतत् । सर्वं ह्यन्तःकरणविकारमेव जगन्मनस्येव सुषुप्ते[2] प्रलयदर्शनात् । जागरितेऽपि तत एवाग्निविस्फुलिङ्गवद्विप्रतिष्ठानात्[3] । यस्य च पद्भ्यां जाता पृथिवी[4] । एष देवो विष्णुरनन्तः प्रथमशरीरी त्रैलोक्यदेहोपाधिः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स हि सर्वभूतेषु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता सर्वकारणात्मा[5] ॥४॥

सर्वेषां भूतानामिति । पञ्चमहाभूतानाम् । अन्तरात्मा स्थूलपञ्चभूतशरीरो हि विराडित्यर्थः ।

में स्वप्न दृष्ट पुत्र द्वारा पुत्रत्व नहीं आता है। कल्पित मिथ्यावस्तु से अधिष्ठान का सम्बन्ध नहीं होता यह सर्वत्र लोक में देखा गया है। ऐसे ही मन, सभी इन्द्रियाँ और सभी विषय इसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। अतः परमात्मा में परमार्थतः अप्राणादिमत्व है, यह बात सिद्ध हुई।

जैसे उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण विश्व असत् है, वैसे ही उत्पत्ति के बाद भी परमार्थ-दृष्टि से असत् ही है तथा प्रपंच का विलय भी हो जाता है—ऐसा समझना चाहिये। जैसे प्राण, मन और इन्द्रियाँ परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही शरीर और विषय के कारण पंचभूत भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न होते हैं। आकाश (आगमन तथा गमन क्रियावाला) बाह्याभ्यन्तर वायु, अग्नि, जल और संपूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी इसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। आकाश में शब्द ही एक विशेष गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध गुण देखे जाते हैं। अतः ये पूर्व-पूर्व कारण के गुण सहित अपने गुण से विशिष्ट पंचभूत इसी अक्षर परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में इतना ही समझो कि परा विद्या से जानने योग्य निर्विशेष अक्षर सत्य पुरुष को 'दिव्यो ह्यमूर्तः' इत्यादि मंत्र से बतलाने के बाद पुनः उसी को सविशेष रूप में विस्तार पूर्वक कहने के लिये श्रुति प्रवृत्त हुई है।

---

१. तत्त्वान्तरितेति । तत्त्वेन हिरण्यगर्भाख्येन अन्तरितो व्यवहितः परमात्मनोऽक्षरादित्यर्थः । २. सुषुप्त इति—सुषुप्तावित्यर्थः । ३. विप्रतिष्ठानादिति निःसरणादित्यर्थः । ४. पृथिवीपादावित्यर्थः । ५. सर्वकारणात्मेति सर्वेषां कारणानां चक्षुरादिकरणानामित्यर्थः । आत्मा स्वरूपभूतः—अधिष्ठानत्वात् प्रेरकत्वादिति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥५॥

[उस ब्रह्म से (प्रजापति के अवस्था विशेष रूप से) अग्नि उत्पन्न हुई, जिसका समिधा सूर्य है, (क्योंकि सूर्यलोक से ही द्यु लोक रूप अग्नि प्रदीप्त होती है।) पुनः सोम से मेघ और उससे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (उन औषधियों से उत्पन्न हुए) वीर्य को पुरुष योषित रूप अग्नि में सींचता है। इस प्रकार ब्राह्मणादि रूप बहुत-सी प्रजा परम पुरुष से उत्पन्न हुई है ॥५॥]

पञ्चाग्निद्वारेण च याः संसरन्ति प्रजास्ता अपि तस्मादेव पुरुषात्प्रजायन्त इत्युच्यते। तस्मात्परस्मात्पुरुषात्[1]प्रजावस्थानविशेषरूपोऽग्निः स विशिष्यते। समिधो यस्य सूर्यः समिध इव समिधः। सूर्येण हि द्युलोकः[2]समिध्यते। ततो हि द्युलोकान्निष्पन्नात्सोमात्पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः संभवति। तस्माच्च पर्जन्यादोषधयः पृथिव्यां संभवन्ति। ओषधिभ्यः पुरुषाग्नौ हुताभ्य[3]उपादानभूताभ्यः पुमानग्नौ रेतः सिञ्चति योषितायां योषिति योषाग्नौ स्त्रियामिति। एवं क्रमेण बह्वीर्बह्वचः प्रजा ब्राह्मणाद्याः पुरुषात्परस्मात्संप्रसूताः समुत्पन्नाः ॥५॥

पञ्चाग्निद्वारेण। द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निदृष्टेः श्रुत्यन्तरचोदितत्वात्तद्द्वारेणेत्यर्थः ॥४॥५॥

क्योंकि पहले संक्षेप और पीछे उसी को विस्तार से कहने पर पदार्थ सुख पूर्वक जान लिया जाता है। जैसे पहले सूत्र पीछे भाष्य दोनों उक्तियाँ अर्थ को विस्पष्ट करती हैं। ऐसे ही संक्षिप्त तथा विस्तार उभव रूप से बतलाये गये पदार्थ सुखाधिगम्य हो जाते हैं ॥३॥

परमात्मा से सर्वप्रथम समष्टि प्राण यानी हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ है। उस हिरण्यगर्भ से ब्रह्माण्ड के भीतरवर्ती जो विराट् है। वह तत्त्वान्तर रूप से लक्षित होते हुए भी वास्तव में इस परमात्म-पुरुष से ही उत्पन्न हुआ है और वह परमात्म स्वरूप ही है। इसीको चौथे मंत्र से श्रुति कहती है। उस विराट् पुरुष का विशेषण बतलाते हैं 'हे गौतम! वह द्यु लोक ही अग्नि है'—इस श्रुति में द्युलोक को अग्नि कहा गया है। ऐसी अग्नि जिस परमात्मा का उत्तमांग शिर है, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं। इस मंत्र में आये हुए 'अस्य' इस वक्ष्यमाण पद का 'यस्य' इस रूप से विपरिणाम करके उसका अन्वय सर्वत्र करना चाहिये। दिशाएं जिस परमात्मा के श्रोत्र हैं, वेद जिस परमात्मा की पवित्र वाणी है, वायु जिस परमात्मा का प्राण है और सम्पूर्ण जगत् जिस परमात्मा का हृदय यानी अन्तःकरण है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत् अन्तःकरण का ही विकार है। सुषुप्ति में मन के सोजाने पर प्रलय देखा जाता है और मन के जगते ही उसीसे अग्नि की चिनगारी की भाँति उत्पत्ति होती है। जिसके पाद से पृथ्वी उत्पन्न हुई है, संपूर्ण भूतों का अन्तरात्मा त्रैलोक्य देह उपाधिवाला प्रथम शरीरी व्यापक अनन्तदेव यही है ॥४॥

---

१. प्रजेत्यादि—देवप्रजावस्थानस्वर्गरूप इत्यर्थः। २. समिध्यत इति अन्तर्भावितण्यर्थत्वेन सकर्मकतामादाय कर्मणि लट्। ३. उपादानभूताभ्य इति। रेत इति शेषः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

[उस पुरुष से ही (नियत पाद अक्षर वाले) ऋचाएँ (पाञ्चभक्तिक आदि गान विशिष्ट रूप) साम मन्त्र, (अनियत पाद अक्षर वाले) यजुर्मन्त्र, मौञ्जी बन्धनादि दीक्षा, अग्निहोत्रादि यज्ञ, दक्षिणा, सम्वत्सर (सम्वत्सर रूप कर्माङ्गकाल) यज्ञकर्ता यजमान, लोक, जिन लोकों में चद्रमा जहाँतक पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है, वे सभी उत्पन्न होते हैं ॥६॥]

किंच [1]कर्मसाधनानि फलानि च तस्मादेवेत्याह । कथं तस्मात्पुरुषादृचो [2]नियताक्षरपादावसाना गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा मन्त्राः । सामपाञ्चभक्तिकं साप्तभक्तिकं च [3]स्तोभादिगीतविशिष्टम् । यजूंष्यनियताक्षरपादावसानानि वाक्यरूपाण्येवं त्रिविधा मन्त्राः । दीक्षा[4]मौञ्ज्यादिलक्षणाः कर्तृनियमविशेषाः। यज्ञाश्च सर्वेऽग्निहोत्रादयः । क्रतवः सयूपाः । दक्षिणाश्चैकगवाद्यपरिमितसर्वस्वान्ताः । संवत्सरश्च कालः कर्माङ्गः । यजमानश्च कर्ता । लोकास्[5]तस्य कर्मफलभूतास्ते विशेष्यन्ते सोमो यत्र येषु लोकेषु पवते पुनाति लोकान्यत्र येषु सूर्यस्तपति च ते च दक्षिणायनोत्तरायणमार्गद्वयगम्या विद्वदविद्वत्कर्तृफलभूताः ॥६॥

पाञ्चभक्तिकमिति । हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्याः पञ्च भक्तयोऽवयवा यस्य तत्तथोक्तम् । साप्तभक्तिकमिति । हिंकारप्रस्तावाद्युद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनाख्याः सप्त भक्तयो यस्य तत्तथोक्तम् । स्तोभोऽर्थशून्यो वर्णः । विश्वजित्सर्वमेधयोः सर्वस्वदक्षिणा अत एकां गामारभ्य सर्वस्वान्ता दक्षिणा भवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

सबका कारणरूप परमात्मा ही सम्पूर्ण भूतों में द्रष्टा, श्रोता, मन्ता एवं विज्ञातारूप से स्थित है । और पंचाग्नि द्वारा जो प्रजा संसार में संसरण करती रहती है, वह भी उस परमात्म पुरुष से ही उत्पन्न होती है । इसी बात को आगे के मंत्र से कहते हैं । उस परम पुरुष परमात्मा से प्रजा का अवस्थान विशेष रूप अग्नि उत्पन्न होती है । यहाँ पर पंचाग्नि विद्या में बतलाये गये द्युलोक रूप अग्नि अर्थ समझना चाहिए अर्थात् अग्नि शब्द का द्युलोक अर्थ करना चाहिये । अतः वह विशिष्ट अग्नि है, जिसकी समिधा सूर्य है, क्योंकि सूर्य से ही द्युलोक प्रदीप्त होता है । इसलिये समिधा न होते हुए भी सूर्य को स्मृति ने समिधा कहा है । जैसे समिधा से तार्ण वह्नि प्रदीप्त होती है, वैसे ही सूर्य से द्युलोक प्रदीप्त होता है । उस द्युलोक में आहुति की गई श्रद्धा सोमरूप से सम्पन्न होती है । उस सोम से पर्जन्य रूप द्वितीय-अग्नि उत्पन्न होती है पुनः पर्जन्य से पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, एवं पुरुषरूप अग्नि में उपादान भूत आहुति की गई औषधि से रेत (वीर्य) उत्पन्न होता है । इसीलिये पुरुष को अग्नि कहा गया है । पुनः पुरुष उस रेत को स्त्रीरूप अग्नि में आहुति करता है । इस क्रम से ब्राह्मणादि बहुत-सी प्रजायें उस पर पुरुष परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं ।

१. कर्मसाधनानीति कर्मात्मकानि साधनानीत्यर्थः । २. नियताक्षरैः पादसमाप्तिर्येषां ते तथोक्ताः । ३. स्तोभादीत्यादिनाऽर्थवद्वर्णग्रहस्तथा च गीयमानस्तोभादिवर्णविशिष्टमित्यर्थः । ४. मौञ्ज्यादीति—आदिना मङ्गलसूत्रादिग्रहः । ५. तस्येति यजमानस्येत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाँसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

[उस पुरुष से ही (कर्म के अङ्गभूत) बहुत, से वसु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं तथा साध्यगण कर्माधिकारी मनुष्य, पशु-पक्षी, श्वास, उच्छ्वास, व्रीहि, यवादि हविष्यान्न, तप (सम्पूर्ण पुरुषार्थ के साधनों का एक मात्र कारण), आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धा, हितमित भाषण, अष्ट मैथुनों का त्याग रूप ब्रह्मचर्य और विधि, (ये सभी उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं)॥७॥]

तस्माच्च पुरुषात्कर्माङ्गभूता देवा बहुधा वस्वादिगणभेदेन संप्रसूताः सम्यक्प्रसूताः । साध्या देवविशेषाः । मनुष्याः कर्माधिकृताः । पशवो ग्राम्यारण्याः । वयांसि पक्षिणः । जीवनं

द्यु लोक रूप अग्नि में श्रद्धा की आहुति डाली जाती है । वहाँ श्रद्धा सोमरूप से निष्पन्न होती है, उस श्रद्धा को पर्जन्य रूप अग्नि में देवता लोग हवन करते हैं । जब वह सोमपर्जन्य में वर्षारूप से परिणत होता है तो फिर पर्जन्य पृथ्वीरूप अग्नि में उसे जलरूप से वर्षा देता है । पृथ्वी के संसर्ग से जब वह औषधि का रूप धारण कर लेता है, तो उस औषधि का हवन पुरुष रूप अग्नि में करने पर अन्तिम परिणाम वीर्य तैयार हो जाता है और उस रेत का हवन जब पुरुष स्त्री में करता है तब वह जन्म के बाद पुरुष संज्ञा को प्राप्त होता है । इस प्रकार पंचाग्नि द्वारा संसरण करने वाली बहुत-सी प्रजायें उस परमात्मा से ही उत्पन्न होती हैं ॥५॥

'किं बहुना' कर्मों के साधन और फल भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं । इसी को श्रुति कहती है—कैसे? उस परमात्म पुरुष से नियत अक्षर और पाद के रूप में समाप्न होने वाले गायत्री आदि छन्दों से विशिष्ट ऋग्मंत्र उत्पन्न हुए हैं—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन नामक पाँच अवयव वाले—पाञ्चभक्तिक तथा हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, स्तोभ, उपद्रव और निधन नामक सात अवयववाले साप्तभक्तिक स्तोभ आदि गीत से विशिष्ट साम पैदा हुआ है । जिनके अक्षर और पाद नियत नहीं हैं, ऐसे यजुर्मन्त्र उसी परमात्मा से पैदा हुए । इस प्रकार पूर्वोक्त त्रिविध मंत्र उस परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं । मौञ्जी बन्धन आदि यज्ञ कर्ता के नियम विशेष को दीक्षा कहते हैं । ऐसी दीक्षा भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुई है । सभी अग्निहोत्रादि यज्ञ, यूपके सहित क्रतु उसीसे उत्पन्न हुए हैं । एक गौ से लेकर अपरिमित सर्वस्व दान रूप दक्षिणा और कर्मों के अंग संवत्सर रूप काल, कर्ता यजमान भी उसी से उत्पन्न हुए हैं । उस कर्ता के लिये कर्म फल रूप लोक उसीसे उत्पन्न हुए हैं । जिन लोकों को सोम पवित्र करता है, और जहाँ पर लोकों को सूर्य तपाता है । ऐसे दक्षिणायण और उत्तरायण मार्ग द्वारा प्राप्त होने योग्य कर्मी और उपासक के फल रूप लोक, उस परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं ॥६॥

उसी परमात्मा से कर्मों के अंगभूत वसु आदि गणरूप अनेक देवता सम्यक् प्रकार से उत्पन्न हुए हैं । देवताओं की जाति विशेष साध्यगण, कर्म के अधिकारी मनुष्य, ग्रामीण और आरण्यक पशु एवं पक्षी उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं । प्राणापान मनुष्यादि के जीवन हैं । व्रीहि और यव हविष्य के लिये उसी परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं । पुरुषों के संस्कार के लिये कर्मांग और स्वतंत्र फल के साधन रूप तप उस परमात्मा से उत्पन्न हुए, दीक्षित यजमान में से ब्राह्मण के लिये पयोव्रत, क्षत्रिय के लिये यवागू (लपसी) और वैश्य के लिये छेना खाकर व्रत करने का विधान है । कृच्छ्र चांद्रायण आदि व्रत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

च मनुष्यादीनाम् । प्राणापानौ व्रीहियवौ हविरर्थौ । तपश्च कर्माङ्गं पुरुषसंस्कारलक्षणं स्वतन्त्रं च फलसाधनम् । श्रद्धा यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थसाधनप्रयोगश्चित्तप्रसाद आस्तिक्यबुद्धिस्तथा सत्यमनृतवर्जनं यथाभूतार्थवचनं चापीडाकरम् । ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचारः । विधिश्चेतिकर्तव्यता ॥७॥

तपश्च कर्माङ्गमिति । पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्याऽऽमिक्षा वैश्यस्येत्यादिविहितं 'स्वतन्त्रं कृच्छ्र चान्द्रायणादीत्यर्थः ॥७॥

को भी तप कहते हैं। श्रद्धा पूर्वक संपूर्ण पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए साधन करने पर चित्त की जो स्वस्थता होती है, तत्पश्चात् स्वच्छ अन्तःकरण में परलोक पुनर्जन्म एवं परमेश्वर में आस्तिक्य बुद्धि होती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। ऐसी श्रद्धा परमात्मा से उत्पन्न हुई है। जैसा अनुभव किया हो वैसे ही दूसरे को पीड़ा न देने वाले मधुर शब्द में भाषण को सत्य कहते हैं। अष्टधा मैथुन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं और इति-कर्तव्यता को विधि कहते हैं। ये सब भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं ॥७॥

शिरःसस्थ दो कान, दो आँख, दो नाक और एक मुखको इस मंत्र में 'सप्तप्राणाः' शब्द कहा गया है। सप्त प्राण उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं इतना ही नहीं किन्तु सदा उसी परमेश्वर से प्रकाश पाकर ये अपने व्यापार में समर्थ भी होते हैं। विषयों के प्रकाशन के लिए पूर्वोक्त सात प्राणों की दीप्तियाँ (वृत्तियाँ) उसीसे उत्पन्न हुई हैं। समिधा स्थानीय सात विषय उसीसे उत्पन्न हुए हैं। विषयों से ही नेत्रादि इन्द्रियाँ प्रदीप्त होती हैं। इसलिये विषयों को समिधा कहा गया। विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर जो यथार्थ बोध होता है, उसे होम कहते हैं। ये सप्तविध होम भी उसी से उत्पन्न हुए हैं। 'विषयों का जो विज्ञान है, उसे हवन करता है। ऐसा अन्य श्रुतियों में भी कहा गया है। वैसे ही गोलकों में इन्द्रियाँ विचरती हैं, वे शिरःसस्थ सात इन्द्रिय-गोलक उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। जिनमें प्राण विचरते हैं, ऐसा प्राणों का विशेषण देकर प्राण-अपान आदि की व्यावृति की गयी है अर्थात् प्राण शब्द का अर्थ प्राण-अपान आदि नहीं करना चाहिये, किन्तु जैसा पहले किया गया है वैसा ही ठीक है। सुषुप्तावस्था में सातों प्राण शरीर या इन्द्रिय रूप गुफा में शयन करते हैं। इसलिये इन्हें गुहाशय कहा गया है। ऐसे प्रत्येक प्राणियों के लिये परमेश्वर ने पूर्वोक्त सात प्राणों की व्यवस्था की है, विशेष क्या कहें—संक्षेप में इतना ही समझना चाहिये कि यह सम्पूर्ण संसार और हम परमात्म स्वरूप ही हैं, ऐसी भावना पूर्वक परमेश्वर की आराधना बुद्धि से जो यजन करते हैं, इन आत्मयाजी उपासकों के कर्म और उनके फल तथा कर्मी के कर्म, उनके साधन और फल सब कुछ उस सर्वज्ञ परमपुरुष परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। यही इस प्रकरण का अर्थ है ॥८॥

इस पुरुष से सभी लवणादि समुद्र, हिमालयादि पर्वत भी उत्पन्न हुए हैं। अनेक रूप में लोक हित के लिए बहनेवाली गंगादि पवित्र नदियाँ इस परमेश्वर से उत्पन्न होकर प्रवाहित होती रहती हैं, व्रीहि, यव आदि सभी औषधियाँ इसी परमात्मा से उत्पन्न हुईं। जिन रसों से लिंग शरीर रूप अन्तर आत्मा स्थित रहता है, जो कि पंचस्थूल भूतों से परिवेष्टित है शरीर और आत्मा के मध्य

१. पुरुषसंस्कारेति येन पुरुषः संस्कृतो भवति कर्मानुष्ठानयोग्यतापन्नो भवतीत्यर्थः ।

२. प्रयोगोऽनुष्ठानम् । ३. इतिकर्तव्यतेति । इदमित्थं करणीयमित्यनुष्ठानप्रकार इत्यर्थः । ४. यवागूरुष्णिका आणा लोके लप्सीतिख्याता । ५. आमिक्षा क्वथितोष्णपयसि दधिसंयोजनाद्या भवति विकृताख्या सेत्यर्थः । ६. स्वतन्त्रम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

[उस पुरुष से ही (दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक मुख—ये मस्तकस्थ) सात प्राण उत्पन्न होते हैं। उसी से (अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करनेवाली) उनकी सात दीप्तियाँ, सात विषय रूप समिधा, सात विषय विज्ञान रूप होम और जिन गोलकों में ये प्राण संचार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। इस प्रकार प्रतिदेह में स्थापित ये सात-सात पदार्थ (उस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा आत्मयाजी पुरुष को जानना चाहिये) ॥८॥]

किंच सप्त शीर्षण्या[1] प्राणास्तस्मादेव पुरुषात्प्रभवन्ति । तेषां च सप्तार्चिषो दीप्तयः स्वविषयावद्योतनानि[2] । तथा सप्त समिधः सप्त विषयाः । विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः । सप्त होमास्तद्विषयविज्ञानानि[3] "यदस्य[4] विज्ञानं तज्जुहोति[5]" इति श्रुत्यन्तरात् । किंच सप्तेमे लोका इन्द्रियस्थानानि[6] येषु चरन्ति संचरन्ति प्राणाः[7] । प्राणा येषु चरन्तीति प्राणानां विशेषणमिदं[8] प्राणापानादिनिवृत्त्यर्थम्[9] । गुहायां शरीरे हृदये वा स्वापकाले [10]शेरत इति गुहाशयाः । निहिताः स्थापिता धात्रा सप्त सप्त प्रतिप्राणिभेदम् । यानि चाऽऽत्मयाजिनां विदुषां कर्माणि कर्मफलानि चाविदुषां च कर्माणि तत्साधनानि कर्मफलानि च सर्वं चैतत्परस्मादेव पुरुषात्सर्वज्ञात्प्रसूतमिति प्रकरणार्थः ॥८॥

आत्मयाजिनामिति । सकलमिदमहं च परमात्मैवेतिभावनापूर्वकं परमेश्वराराधनबुद्ध्या ये यजन्ति तेषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

में रहकर आत्मवत् प्रतीत होता है । इसीलिए सूक्ष्म शरीर को इस मन्त्र में अन्तरात्मा कहा गया है ॥९॥

इस प्रकार परमात्मा से ही ये सब उत्पन्न हुए। अतः ये नाम रूप विकार वाणी से कहने मात्र के लिये हैं। यानी मिथ्या हैं, परमात्मा से भिन्न उनकी सत्ता नहीं। इसलिये परमात्मा ही सत्य है; अतएव यह सम्पूर्ण विश्व परमात्म स्वरूप ही है। परमात्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतः जो पहले शौनक ने पूछा था कि हे भगवन् ! किसके जानने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है, उसका यही उत्तर है कि संपूर्ण विश्व के कारण इस परमात्म पुरुष को जानलेने पर संपूर्ण विश्व परमात्मा ही है। अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा विज्ञात हो जाता है। अधिष्ठान से भिन्न कल्पित वस्तु की सत्ता नहीं मानी गयी है। इसलिये यह कल्पित नामरूपात्मक जगत् अपने अधिष्ठान, ब्रह्मस्वरूप ही है। यह विश्व क्या है ? ऐसी आकाँक्षा होने पर कहते हैं कि अग्निहोत्रादि रूप कर्म, कृच्छ्रचांद्रायण आदि तप तथा ज्ञानादि तप, उनके

१. शीर्षण्या इति घ्राणाक्षिश्रवणद्वयं वाक्चेत्यर्थः । २. अवद्योतनानि=वृत्तिप्रयुक्ताः प्रकाशाः फलचैतन्यरूपा इत्यर्थः । ३. विज्ञानानि=वृत्तयः । ४. अस्येति । विषयस्येत्यर्थः । ५. म. नारा. । ६. इन्द्रियस्थानानि गोलकानि । ७. प्राणाः—गौणा इन्द्रियाणीत्यर्थः । ८. इदमिति चरन्तीत्येतदित्यर्थः । ९. निवृत्त्यर्थमिति गोलकेषु प्राणापानादीनामचरणादिति भावः । १०. शेरत इति लीयन्त इत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

[इस पुरुष से ही क्षारादि सात समुद्र और हिमालयादि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं । गंगा आदि अनेक रूपों वाली नदियाँ इसी से प्रवाहित होती हैं । इसी से व्रीहि, यवादि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुरादि षड्विध रस उत्पन्न हो रहे हैं । जिस रस से भूतों से परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है ॥९॥ यह सारा जगत् अग्निहोत्रादि रूप कर्म और ज्ञानरूप तप पुरुष स्वरूप ही है । यह सब परामृत स्वरूप ब्रह्म ही है । उसे जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित जानता है । हे प्रियदर्शन ! वह इस विज्ञान के द्वारा इस लोक में जीते जी अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर डालता है ॥१०॥]

❀ इति द्वितीयमुण्डके प्रथमःखण्डः ❀

अतः पुरुषात्समुद्राः सर्वे [१]क्षाराद्याः । गिरयश्च हिमवदादयोऽस्मादेव पुरुषात्सर्वे । स्यन्दन्ते स्रवन्ति गङ्गाद्याः सिन्धवो नद्यः सर्वरूपा बहुरूपाः । अस्मादेव पुरुषात्सर्वा ओषधयो व्रीहियवाद्याः । रसश्च मधुरादिः षड्विधो येन [२]रसेन भूतैः पञ्चभिः स्थूलैः परिवेष्टितस्तिष्ठते तिष्ठति ह्यन्तरात्मा लिङ्गं सूक्ष्मं शरीरम् । तद्ध्यन्तराले शरीरस्याऽऽत्मनश्चा[३]ऽऽत्मवद्वर्तत इत्यन्तरात्मा ॥९॥

एवं पुरुषात्सर्वमिदं संप्रसूतम् । अतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयमनृतं पुरुष इत्येव सत्यम् । अतः पुरुष एवेदं विश्वं सर्वम् । न विश्वं नाम पुरुषादन्यत्किंचिदस्ति । अतो यदुक्तं तदेतदभिहितं कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति । एतस्मिन्हि परस्मिन्नात्मनि सर्वकारणे पुरुषे विज्ञाते पुरुष एवेदं विश्वं नान्यदस्तीति विज्ञातं भवतीति । किं पुनरिदं विश्वमित्युच्यते । कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । तपो ज्ञानं तत्कृत

यत्पृष्टं कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति तन्निरूपितम् । सर्वमिदं परमात्मनो ब्रह्म के कार्य हैं । अतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं । वह ब्रह्म परम अमृतरूप है, वही मैं हूँ । इस प्रकार जो सभी प्राणियों के हृदय में स्थित ब्रह्म को जान लेता है, वह ऐसे विज्ञान से वासना के सहित अत्यन्त दृढ़ ग्रन्थि की भाँति प्रतीत होनेवाली अविद्या ग्रन्थि को जीवन काल में ही नाश कर डालता है; न कि मरने पर । हे प्रियदर्शन ! ब्रह्मज्ञान का फल सद्योमुक्ति है, जो इस तत्त्ववेत्ता को जीते जी प्राप्त हो जाता है ॥१०॥

१. क्षाराद्या इति क्षीरोदकेक्षुरसोदकघृतोदकदध्युदकशुद्धोदकसुरोदका इति सप्तसागराः—तत्र क्षारोदः प्रसिद्ध एव सुरोदश्चेक्षुरसोदानन्तरं द्रष्टव्यः । २. रसेन पोषितैरित्यर्थः । ३. आत्मवदिति तादात्म्याध्यासादिति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

**आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैत-
त्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ
सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥१॥**

[यह प्रकाशमान् ब्रह्म सबके हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है। वह श्रवणादि द्वारा बुद्धिरूपी गुफा में उपलब्ध होने के कारण गुहाचर नाम वाला और सबसे बड़े होने के कारण महत् पद है। इसी में चलने-फिरने वाले पक्षी आदि, प्राणन करने वाले मनुष्यादि एवं निमेष-उन्मेष आदि क्रियावाले ये सभी जीव समर्पित हैं। तुम इसे सदसत् स्वरूप सबका प्रार्थनीय, प्रजाओं के विज्ञान से परे और सभी श्रेष्ठ पदार्थों में भी श्रेष्ठ जानो॥१॥]

फलमन्यदेतावद्धीदं सर्वम्। तच्चैतद्ब्रह्मणः कार्यं तस्मात्सर्वं ब्रह्म परामृतं परममृतमह-मेवेति यो वेद निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां स एवं विज्ञानादविद्याग्रंथि ग्रन्थि-मिव दृढीभूतामविद्यावासनां विकिरति विक्षिपति नाशयतीह जीवन्नेव न मृतः सन्हे सोम्य प्रियदर्शन॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

अरूपं सदक्षरं केन प्रकारेण विज्ञेयमित्युच्यते। आविः प्रकाशं संनिहितं [1]वागाद्युपा-धिभिर्ज्वलति भ्राजतीति श्रुत्यन्तराच्छब्दादीनुपलभमानवदवभासते। दर्शनश्रवणमनन-विज्ञानाद्युपाधिधर्मैराविर्भूतं सल्लक्ष्यते हृदि सर्वप्राणिनाम्। यदेतदाविर्ब्रह्म संनिहितं

जायते। अतस्तावन्मात्रं सर्वं तस्मिन्विज्ञाते विज्ञातं भवतीत्यविद्या[2]क्षयफलाभिधानेनोपसंहृत-मिति॥९॥१०॥

इति मुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः॥१॥

अधुना यस्य सकृदुपदेशमात्रेणाद्वितीयं ब्रह्मास्मीतिवाक्यार्थज्ञानं न भवतीति तस्योपायानुष्ठानेन भवितव्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—अरूपं सदक्षरमिति। वाक्यार्थस्यैव पुनः पुनर्भावना युक्त्यनुसंधानं चोपाय इत्याह—उच्यत इति। आविःशब्दो निपातः प्रकाशवाची। ब्रह्म विश्वोपलब्ध्यात्मना प्रकाशमानमेव सदेति भावयेदित्यर्थः। अन्यैरप्युक्तम्—

"यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवलं ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषैव कल्पना" इति।

संनिहितमिति। सर्वेषां प्राणिनां हृदये स्थितं वागाद्युपाधिभिः शब्दादीन्युपलभमानवद्ब्रह्मैव

---

१. तस्य संनिहितत्वं प्रत्याययति—वागादीत्यादिना।

२. ननु नैतत्कण्ठरवेणोक्तमित्याशङ्क्याह अविद्याक्षयेति। अविद्या हि सर्वविज्ञाने प्रतिबन्धिका तन्निवृत्तिश्च पुरुष-विज्ञाने नोक्ता सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीति ततश्चात्मज्ञानेन सर्वज्ञानमुक्तं भवतीति भावः। ३. वि० पु०।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्यक्स्थितं हृदि तद्गुहाचरं नाम गुहायां चरतीति [1]दर्शनश्रवणादिप्रकारैर्गुहाचरमिति प्रख्यातम् । महत्सर्वमहत्त्वात्पदं पद्यते सर्वेणेति सर्वपदार्थास्पदत्वात् । कथं तन्महत्पदमित्युच्यते । यतोऽत्रास्मिन्ब्रह्मण्येतत्सर्वं समर्पितं प्रवेशितं रथनाभाविवारा एजच्चलत्पक्ष्यादि । प्राणत्प्राणितीति प्राणापानादिमन्मनुष्यपश्वादि । निमिषच्च यन्निमेषादिक्रियावद्यच्चानिमिषच्चशब्दात्समस्तमेतदत्रैव ब्रह्मणि समर्पितम् । एतद्यदास्पदं सर्वं जानथ हे शिष्या [2]अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम् । सदसतोर्मूर्तामूर्तयोः स्थूलसूक्ष्मयोस्तद्व्यतिरेकेणाभावात् । वरेण्यं वरणीयं तदेव हि सर्वस्य नित्यत्वात्प्रार्थनीयं परं व्यतिरिक्तं विज्ञानात्प्रजानामिति व्यवहितेन संबन्धो यल्लौकिकविज्ञानागोचरमित्यर्थः । यद्वरिष्ठं वरतमं सर्वपदार्थेषु वरेषु तद्ध्येकं ब्रह्मातिशयेन वरं सर्वदोषरहितत्वात् ॥१॥

जीवभावमापन्नमवभासते । ततः स्वतोऽपरोक्षं चेति सदा स्मरेदित्यर्थः । सर्वमिदं कार्यं परिच्छिन्नं च सास्पदं कार्यत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च घटादिवत्ततः सर्वास्पदं यत्तदेव [3]मायास्पदमात्मभूतमिति युक्त्यनुसंधानमाह—महत्पदमिति ॥ १ ॥

❀ द्वितीय मुण्डक द्वितीय खण्ड ❀

रूपरहित सत् अक्षर ब्रह्म किस उपाय से जाना जायेगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि पुनः-पुनः महावाक्य के अर्थ की भावना और युक्तिपूर्वक महावाक्यार्थ चिंतन से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । वह ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की उपलब्धि रूप से प्रकाशमान् और सत् है ऐसी भावना करे । वाणी आदि उपाधियों से वह प्रज्वलित होता है । अतएव दूसरी श्रुति भी कहती है कि—वह ब्रह्म शब्दादि विषयों का प्रकाश करता हुआ-सा अवभासित होता है । सभी प्राणियों के हृदय में दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान आदि उपाधि रूप धर्म से प्रकाशमान् होता हुआ लक्षित होता है । ऐसा जो ब्रह्म है, वह सन्निहित यानी सम्यक् प्रकार से स्थित है । हृदयरूप गुहा में विचरता है । इसीलिये उसे गुहाचर कहते हैं । दर्शन श्रवणादि प्रकार के द्वारा बुद्धिरूपी गुफा में विचरण करने के कारण भी गुहाचर कहते हैं, सबसे महान् होने के कारण उसे महत् और सभी से प्राप्त किया जाता है, इसलिये पद कहते हैं । क्योंकि सब पदार्थों का आश्रय वही तो है । वह ब्रह्म महत्पद कैसे हो गया ? इस पर कहते हैं क्योंकि इस ब्रह्म में सब कुछ रथ की नेमि में समर्पित अरे की भाँति समर्पित है । जो ये चलनादि क्रिया करने वाले पक्षी आदि हैं, "प्राणान् अपानन्" आदि क्रियाशील मनुष्य पश्वादि हैं, एवं निमेष-उन्मेष आदि क्रियावाले हैं या उक्तक्रिया से शून्य हैं; समस्त वस्तु इस ब्रह्म में ही समर्पित है । इस जगत् का जो आश्रय है, उसे जानो । हे शिष्य ! अपने आत्मस्वरूप सत् एवं असत् रूप ब्रह्म को जानो । मूर्त्त एवं स्थूल को सत् तथा अमूर्त्त एवं सूक्ष्म को असत् कहते हैं । इनसे भिन्न वस्तु तो होती ही नहीं । अतः ब्रह्म मूर्तामूर्त उभय रूप है । नित्य होने के कारण सभी के द्वारा वही ब्रह्म प्रार्थनीय है । प्रजा के संपूर्ण लौकिक विषय के विज्ञान से वह भिन्न है, वर्णन करने योग्य संपूर्ण पदार्थों में जो वरिष्ठ यानी श्रेष्ठ है वही एक सबसे श्रेष्ठ वर है क्योंकि उसमें कोई दोष नहीं है ॥१॥

---

१. स्थिरस्य चरणं कुतोऽत आह—दर्शनेत्यादि । क्वचित्पश्यति क्वचिच्छृणोतीत्येनं दर्शनादि तत्तद्व्यापारानुकूलतयाऽवस्थानमेव तत्र चरणमिति भावः । २. अवगच्छथेति अवगच्छतेत्यर्थः । ३. मायास्पदमिति । मायायाः कार्यत्वाभावेऽपि परिच्छिन्नत्वहेतुना तदास्पदत्वमिति बोध्यम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

**यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्यविद्धि ॥२॥**

[सूर्यादि के प्रकाशक होने से जो दीप्तिमान् और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा जिसमें सम्पूर्णलोक और उनके निवासी मनुष्यादि स्थित है, वही यह सबका आश्रय भूत अक्षर ब्रह्म है । वही प्राण है, तथा वही वाणी और मन है, वही यह सदा एक रस रहने से सत्य और अमृत है । हे सोम्य ! उसे समाहित मन से वेधना चाहिये । अतः तू उनका वेधन कर ॥२॥]

किंच यदर्चिमद्दीप्तिमत्तद्दीप्त्याऽऽदित्यादि दीप्यत इति दीप्तिमद्ब्रह्म । किंच यदणुभ्यः श्यामाकादिभ्योऽप्यणु च सूक्ष्मम् । चशब्दात्स्थूलेभ्योऽप्यतिशयेन स्थूलं पृथिव्यादिभ्यः । यस्मिँल्लोका भूरादयो निहिताः स्थिताः । ये च लोकिनो लोकनिवासिनो मनुष्यादयश्चैतन्याश्रया हि सर्वे प्रसिद्धास्तदेतत्सर्वाश्रयमक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनो वाक्च मनश्च सर्वाणि च करणानि तदन्तश्चैतन्यं चैतन्याश्रयो हि प्राणेन्द्रियादिसर्वसंघातः "प्राणस्य प्राणम्" इति श्रुत्यन्तरात् । यत्प्राणादीनामन्तश्चैतन्यमक्षरं तदेतत्सत्यमवितथमतोऽमृतमविनाशि तद्वेद्धव्यं मनसा ताडयितव्यम् । तस्मिन्मनःसमाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । यस्मादेवं हे सोम्य विद्धयक्षरे चेतः समाधत्स्व ॥२॥

घटादिवदादित्यादेर्जडत्वेपि यद्दीप्तिमत्त्वं वैचित्र्यं तदनुपपत्त्याऽपि तत्कारणं संभावनीयमित्याह—किंच यदर्चिमदिति । 'अर्चिमत्त्वादादित्यादिवदिन्द्रियग्राह्यत्वं प्राप्तं निषेधति—यदणुभ्य इति । परमाणुपरिमाणत्वं तर्हि स्यादिति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह—चशब्दादिति । स्थूलत्वात्तर्ह्यन्याधारं स्यादिति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह—यस्मिँल्लोका इति । प्राणादिप्रवृत्तिश्चेतनाधिष्ठाननिबन्धना जडप्रवृत्तित्वाद्रथादिप्रवृत्तिवच्चिद्भेदे च प्रमाणाभावादेकचैतन्यमात्रमस्मीति विचारयेदित्याह—तदेतत्सर्वाश्रयमिति । प्राणाद्यधिष्ठानत्वात्प्राणादिलक्ष्य² आत्मा द्रष्टव्यः ॥२॥

आदित्यादि में, जो दीप्तियाँ दीखती हैं, वह जिसकी हैं; ऐसा दीप्तिमान् पदार्थ ब्रह्म है । कार्य में दीप्ति देखकर कारण में दीप्ति का अनुमान किया जाता है, क्योंकि कारण में यदि दीप्ति न हो तो कार्य में कहाँ से आयेगी ! इसलिये आदित्यादि में दीप्ति उस ब्रह्म से ही आती है । अतः ब्रह्म दीप्तिमान् है । फिर भी इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि श्यामाक आदि अतिसूक्ष्म धान्य से भी वह सूक्ष्म है, वैसे ही पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों से भी अत्यन्त स्थूल वह ब्रह्म है । इस स्थूलतमत्व का संकेत 'चकार' से श्रुति कर रही है । जिस ब्रह्म में भूः आदि चतुर्दश लोक स्थित हैं, और जो इन लोकों में निवास करने वाले मनुष्यादि हैं; वे सब चैतन्य के आश्रित ही प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार सबका आश्रय अविनाशी ब्रह्म है । वही ब्रह्म इस शरीर में प्राण, वाणी और मनरूप है । 'किं बहुना' संपूर्ण करण और करण के आश्रयकर्ता जीव उस चैतन्य ब्रह्म के आश्रित ही हैं । इस प्रकार प्राण, इन्द्रिय, सर्व संघातवाला वह चैतन्य परमात्मा है । इसीलिये दूसरी श्रुति ने उसे प्राणों का प्राण कहा है । जो प्राणादिकों के भीतर अविनाशी नित्य चेतन है; वही यह सत्य यानी अवितथ है । इसीलिये वह अविनाशी है । ऐसा समझकर

---

१ अर्चिमत्त्वादिति टीकाप्रयोगादिकारान्तोऽप्यर्चिशब्दोऽनुमातव्यः । २. लक्षणया बोध्य इत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

[हे सोम्य ! उपनिषद् वेध, महान-अस्त्र रूप शरासन को लेकर उसपर उपासना से तीक्ष्ण किये हुए मनरूपी बाण को चढ़ाओ और फिर इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण को विषयों के तरफ से लौटाकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अपने लक्ष्य उसी अक्षर ब्रह्म का वेधन करो ॥३॥ ओंकार धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है, और अक्षर ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा गया है, बड़ी सावधानी से उस लक्ष्य का वेधन करना चाहिये और (वेधन करने के अनन्तर) बाण के समान ही लक्ष्य के साथ तन्मय हो जाना चाहिये ॥४॥]

कथं वेद्धव्यमित्युच्यते । धनुरिष्वासनं गृहीत्वाऽऽदायौपनिषदमुपनिषत्सु भवं प्रसिद्धं महास्त्रं महच्च तदस्त्रं च महास्त्रं धनुस्तस्मिञ्शरम् । किंविशिष्टमित्याह । उपासानिशितं संतताभिध्यानेन तनूकृतं संस्कृतमित्येतत् । संधयीत संधानं कुर्यात् । संधाय चाऽऽयम्याकृष्य सेन्द्रियमन्तःकरणं स्वविषयाद्विनिवर्त्य लक्ष्य एवाऽऽवर्जितं[1] कृत्वेत्यर्थः । न हि हस्तेनेव धनुष आयमनमिह संभवति । तद्भावगतेन तस्मिन्ब्रह्मण्यक्षरे लक्ष्ये भावना भावस्तद्गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेव यथोक्तलक्षणमक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

यदुक्तं धनुरादि तदुच्यते । प्रणव ओंकारो धनुः । यथेष्वासनं लक्ष्ये शरस्य प्रवेशकारणं तथाऽऽत्मशरस्याक्षरे लक्ष्ये प्रवेशकारणमोंकारः । प्रणवेन ह्यभ्यस्यमानेन संस्क्रियमाणस्तदालम्बनोऽप्रतिबन्धेनाक्षरेऽवतिष्ठते यथा धनुषाऽऽस्त इषुर्लक्ष्ये । अतः प्रणवो

विचारासमर्थस्य प्रणवमवलम्ब्य ब्रह्मात्मैकत्वे चित्तसमाधानं क्रममुक्तिफलं दर्शयितुमुपक्रमते— कथं वेद्धव्यमित्यादिना । प्रणवो ब्रह्मेत्यभिध्यायत उपसंहृतकरणग्रामस्य प्रणवोपरक्तं यच्चैतन्यप्रतिबिम्बं स्फुरति स आत्मेत्यनुसंधानं प्रणवे शरसंधानं तस्य चित्प्रतिबिम्बस्य बिम्बैक्यानुसंधानं लक्ष्यवेधः ॥३॥४॥

मन से वह ताड़ने योग्य है अर्थात् उसमें मनको समाहित करना चाहिये । हे सोम्य ! जबकि ऐसी बात है । इसीलिये उस अक्षर ब्रह्म में तू अपने चित्त को समाहित कर ॥२॥

उस अक्षर ब्रह्म का वेधन किस प्रकार करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हैं—उपनिषदों में प्रसिद्ध प्रणव को—औपनिषद कहते हैं। वह प्रणव महान् अस्त्र धनुष के सदृश है। ऐसे महास्त्र धनुष के ऊपर सतत ध्यान रूप उपासना के द्वारा अत्यन्त संस्कृत मन को तीक्ष्ण बाण के समान कहा गया है। ऐसे बाण का संधान करो अर्थात् अपने विषय से इद्रिय-सहित अन्तःकरण को लौटाकर लक्ष्य

---

१. आवर्जितमभिमुखं प्रवणमिति यावत् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धनुरिव धनुः। शरो ह्यात्मोपाधिलक्षणः[1] पर एव जले सूर्यादिवदिह प्रविष्टो देहे सर्वबौद्धप्रत्ययसाक्षितया स शर इव स्वात्मन्येवार्पितोऽक्षरे ब्रह्मण्यतो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते लक्ष्य इव मनःसमाधित्सुभिरात्मभावेन लक्ष्यमाणत्वात्। तत्रैवं सत्यप्रमत्तेन बाह्यविषयोपलब्धितृष्णाप्रमादवर्जितेन सर्वतो विरक्तेन जितेन्द्रियेणैकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं ब्रह्म लक्ष्यम्। ततस्तद्वेधनादूर्ध्वं शरवत्तन्मयो भवेत्। यथा शरस्य लक्ष्यैकात्मत्वं फलं भवति। तथा देहाद्यात्मप्रत्ययतिरस्करणेनाक्षरैकात्मत्वं फलमापादयेदित्यर्थः॥ ४॥

की ओर ही लगाओ। हाथ से धनुष को खींचने के समान यहाँ पर मन का खींचना नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार विषयों से लौटाये हुए और अपने लक्ष्य ब्रह्म में स्थिर किये हुए अन्तःकरण से उस लक्ष्य का ही वेधन करो। हे सोम्य! जिसका की लक्षण पहले हमने बतलाया और जिसे अक्षर ब्रह्म कहा गया है॥३॥

जो धनुः आदि प्रथम मन्त्र में कहे गये हैं, उन्हें इस मंत्र में स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। प्रणव यानी ओंकार धनुष है। जैसे बाण को लक्ष्य में प्रवेश कराने का कारण धनुष ही होता है, वैसे ही आत्मा रूप बाण को अक्षर ब्रह्म रूप लक्ष्य में प्रवेश कराने का कारण ओंकार ही है। क्योंकि बार-बार अभ्यास किये गये प्रणव के द्वारा आत्मा में संस्कार होता है। वह संस्कारयुक्त आत्मा निर्विघ्न रूप से अक्षर ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है। जैसे धनुष के द्वारा फैंका हुआ बाण लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये धनुष की भाँति कार्य करनेवाला होने के कारण प्रणव को धनुष कह दिया गया है। एवं अन्तःकरण उपाधि से युक्त परमात्मा ही जीव कहा गया है और वह बाण स्थानीय है। जैसे जल में प्रतिबिंब भाव से सूर्य का प्रवेश होता है, वैसे ही इस देह में संपूर्ण बुद्धिवृत्तियों के साक्षी रूप से परमात्मा का प्रवेश हुआ है। ऐसा सोपाधिक आत्मा बाण के समान कहा गया है। जिस प्रकार लक्ष्य में बाण का प्रवेश होता है; वैसे ही स्वात्मरूप अक्षर ब्रह्म में सोपाधिक आत्मा का समर्पण होता है। अतः वह ब्रह्म लक्ष्य कहा गया है। क्योंकि मन समाहित करने की इच्छावाले पुरुष आत्मभाव से उस शुद्ध ब्रह्म को ही लक्षित करते रहते हैं। अतः ब्रह्म लक्ष्य की भाँति होने के कारण लक्ष्य कहा गया है। इस प्रकार साधन-सामग्री के उपलब्ध हो जाने पर बाह्य विषयों की उपलब्धि और उनकी तृष्णारूप प्रमाद का परित्याग कर सभी विषयों से विरक्त, विजित इन्द्रिय एवं एकाग्रचित्त से ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेधन करना चाहिये; प्रमाद नहीं करना चाहिये। यहाँ पर बाह्य विषयों के ज्ञान और तृष्णा को प्रमाद शब्द से कहा गया है। लक्ष्य से भिन्न वस्तु का दर्शन एवं आकांक्षा होने पर लक्ष्य का वेधन नहीं होता ऐसे ही शुद्ध ब्रह्मरूप लक्ष्य से भिन्न वस्तु दीखती हो या उसकी तृष्णा हो तो इस प्रमाद से साधक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता है। किन्तु लक्ष्य से दूर हट जायगा। इस प्रमाद के परित्याग के लिये मन और इन्द्रियों के ऊपर विजय करके विषयों से वैराग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। राग ही प्रमाद है; जोकि मृत्यु का कारण है। राग का सर्वथा परित्याग रूप वैराग्य नित्य जीवन-प्रदान करनेवाला होता है। अतः प्रमाद का परित्याग अत्यावश्यक है।

इस प्रकार शुद्ध ब्रह्मरूप लक्ष्य वेधन के बाद उसमें तन्निष्ठ हो जाना वैसे ही आवश्यक है,

---

१. उपाधिलक्षणः—उपाधिना लक्ष्यते परस्माद् व्यावृत्त इव भास्यत इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥५॥

[हे शिष्यगण ! जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन समर्पित है; उसी अद्वितीय आत्मा को जानो और अन्य बातों को छोड़ दो, क्योंकि यही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥५॥]

अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वात्पुनः पुनर्वचनं सुलक्षणार्थम्। यस्मिन्नक्षरे पुरुषे द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षं चोतं समर्पितं मनश्च सह प्राणैः करणैरन्यैः सर्वैस्तमेव सर्वाश्रयमेकमद्वितीयं जानथ जानीथ हे शिष्याः। आत्मानं प्रत्यक्स्वरूपं युष्माकं सर्वप्राणिनां च ज्ञात्वा चान्या वाचोऽ[1]परविद्यारूपा विमुञ्चथ विमुञ्चत परित्यजत। तत्प्रकाश्यं च सर्वं कर्म ससाधनम्। यतोऽमृतस्यैष सेतुरेतदात्मज्ञानममृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसार-महोदधेरुत्तरणहेतुत्वात्तथा च श्रुत्यन्तरम्––"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति ॥५॥

उत्तरग्रन्थस्य पौनरुक्त्यं परिहरति—अक्षरस्यैव दुर्लक्ष्यत्वादिति। ससाधनं सर्वं कर्म परित्यज्याऽऽत्मैव ज्ञातव्य इत्यत्रैव हेतुमाह—अमृतस्येति। [2]धनुषाऽऽयुधेन लक्ष्यत इति तल्लक्षण आत्मैकत्वसाक्षात्कार इत्यर्थः ॥५॥

जैसे बाण लक्ष्य में प्रवेश करके लक्ष्य-निष्ठ हो जाता है। जैसे लक्ष्य के साथ एक ही भावरूप फल को प्राप्त करना बाण का काम है, वैसे ही शरीर आदि में अहंभाव का परित्याग कर शुद्ध चैतन्य अक्षर ब्रह्म के साथ अभेद-स्थिति रूप फल को प्राप्त करलेना चाहिए, यही इस मन्त्र का अभिप्राय है। प्रणव ब्रह्म है, इस प्रकार ध्यान करने वाले समाहितचित्त-पुरुष को प्रणव से उपरक्त जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है कि वह आत्मा है; यही प्रणव धनुष के ऊपर आत्मरूप-बाण का संधान करना है, और चित्‌प्रतिबिम्ब का बिम्ब के साथ ऐक्यानुसंधान है, यही लक्ष्य वेध है ॥४॥

अक्षर ब्रह्म ही दुर्लक्ष्य है। इसीलिये उसका बार-बार लक्ष्य करते हैं। और उसे जानने के लिये प्रेरणा भी श्रुति करती। जिस अक्षर पुरुष में द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष ओतप्रोत हैं वैसे ही सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन भी रस्सी में सर्प की भाँति समर्पित है। उस सम्पूर्ण विश्व कल्पना का अधिष्ठान एक अद्वितीय परमात्मा को जानो। हे शिष्य ! तुम्हारे एवं सभी प्राणियों के प्रत्यक् स्वरूप आत्मा को ही जानो। अपराविद्या के विषय अविद्या-विलासरूप अन्य शब्द जाल का परित्याग कर दो। क्योंकि उनसे जिन चीजों का प्रकाश होता है, वे साधन के सहित सब कर्म ही तो हैं। कर्म का फल अनित्य होता है। इसलिये साधन सहित कर्म का परित्याग मोक्षाभिलाषी के लिये आवश्यक है। यह आत्मज्ञान मोक्षरूप अमरत्व की प्राप्ति के लिये सेतु के समान है, जैसे बड़े-बड़े नदी-नालों को पुल के सहारे सभी जीव सरलता से पार कर जाते हैं; ऐसे ही संसार रूपी भयावह महासमुद्र को आत्मज्ञान रूप सहारे से सभी जीव पार कर सकते हैं। अतः संसार समुद्र से तरने के

---

१. अन्यत्वं प्रत्यासत्त्या परविद्याप्रतियोगिकमित्याशयेन व्याचष्टे—अपरविद्यारूपा इति। २. अत्र धनुषेत्यादिरियं पङ्क्तिर्लेखकप्रमादं गमयति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥

[जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे सम्मिलित रहते हैं, वैसे ही शरीर में सर्वत्र व्याप्त सम्पूर्ण नाड़ियाँ जिसमें एकत्रित हैं, उस हृदय के भीतर दर्शन श्रवणादि जन्य अनेक बुद्धिवृत्तियाँ संचार करती हैं। उन बुद्धिवृत्तियों का साक्षीभूत आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करो। अज्ञान के उस पार जाने से तुम्हारा कल्याण हो, अर्थात् कल्याण प्राप्ति में किसी प्रकार के विघ्न बाधा न हो ॥६॥]

किंच। अरा इव। यथा रथनाभौ समर्पिता अरा एवं संहताः संप्रविष्टा यत्र यस्मिन्हृदये सर्वतो देहव्यापिन्यो नाड्यस्तस्मिन्हृदये बुद्धिप्रत्ययसाक्षिभूतः स एष प्रकृत आत्माऽन्तर्मध्ये चरते चरति वर्तते। पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बहुधाऽनेकधा क्रोध-हर्षादिप्रत्ययैर्जायमान इव जायमानोऽन्तःकरणोपाध्यनुविधायित्वाद्वदन्ति लौकिका हृष्टो जातः क्रुद्धो जात इति। तमात्मानमोमित्येवमोंकारालम्बनाः सन्तो [1]यथोक्तकल्पनया ध्यायथ चिन्तयत। उक्तं वक्तव्यं च शिष्येभ्य आचार्येण जानता। शिष्याश्च ब्रह्मविद्या-विविदिषुत्वान्निवृत्तकर्माणो मोक्षपथे प्रवृत्ताः। तेषां निर्विघ्नतया ब्रह्मप्राप्तिमाशास्त्या-चार्यः। स्वस्ति [2]निर्विघ्नमस्तु वो युष्माकं पाराय परकूलाय [3]परस्तात्क[4]स्माद[5]विद्या-[6]तमसः। अविद्यारहितब्रह्मात्मस्वरूपगमनायेत्यर्थः ॥६॥

कर्मसङ्गिजनसंगत्या कर्मश्रद्धा विषयश्रद्धा च वाक्यार्थज्ञानस्यावगमाय गत्यन्ततायाः प्रतिबन्धको विघ्नः स मा भूदित्याशंसनम्। [7]न तु वाक्यार्थावगतौ निष्पन्नायां फलप्राप्तेर्विघ्नशङ्काऽस्तीत्यभि-प्रेत्याऽऽह—परस्तादिति। [8]मदुपदेशादूर्ध्वमित्यर्थः ॥६॥

साधन होने से आत्मज्ञान को तथा आत्मा को भी सेतु कहा गया है। ऐसे ही दूसरी श्रुति भी कहती है। "उस परमात्मा को ही जानकर ही मृत्यु से छूट सकता है।" "आत्मज्ञान को छोड़ कर अन्य कोई भी साधन मोक्ष प्राप्त करने के लिये नहीं है" इत्यादि ॥५॥

जैसे रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, वैसे ही जिस हृदय में देह-व्यापी नाड़ियाँ सभी ओर से जुड़ी हुई हैं, उस हृदय में बुद्धि वृत्ति के साक्षी रूप यह प्रकृत आत्मा मध्य विचर रहा है। सुनता हुआ, देखता हुआ, मनन करता हुआ, जानता हुआ, अनेक प्रकार की क्रोध-हर्ष आदि बुद्धि वृत्तियों के कारण जायमान-सा प्रतीत होता है। क्योंकि अन्तःकरणरूप उपाधि के अनुरूप ही उपहित आत्मा के

---

१. यथोक्तकल्पनया धनुरादिकल्पनयेत्यर्थः। २. निर्विघ्नं विघ्नाभावः। ३. परतीरप्राप्तय इति यावत्। ४. किं प्रयुक्त विघ्नस्याभाव इति पृच्छति—कस्मादिति। ५. उत्तरमाह— अविद्येति। अविद्या तमः प्रयुक्त-स्येति टीकानुसार्यर्थः। ६. तमसः परस्तादित्यन्वयाभिप्रायेण वाक्यार्थमाह—अविद्यारहितेत्यादिना। ७. विदुषः कर्तव्याभावमावेदयितुं परस्तादित्यवतारयति नत्वित्यादिना। ८. मदुपदेशादूर्ध्वमिति मदुपदेशजन्य ज्ञानस्यावगतिपर्यन्तता याः प्रागिति यावत्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ॥
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥

[जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिसकी यह प्रसिद्ध विभूति भूलोक में स्थित है वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर- हृदयाकाश में विद्यमान है। वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह में ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमय शरीर में स्थित है। उसका अनुभव हो जानेपर ही तत्त्वज्ञानी पुरुष उस तत्त्व का सम्यक् साक्षात्कार कर लेते हैं। जो कि सम्पूर्ण अनर्थ दुःखादि से रहित आनन्द स्वरूप अमृत ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हो रहा है ॥७॥]

योऽसौ तमसः परस्तात्संसारमहोदधिं तीर्त्वा गन्तव्यः परविद्याविषयः स कस्मिन्वर्तत इत्याह। यः सर्वज्ञः सर्वविद्व्याख्यातः। तं पुनर्विशिनष्टि। यस्यैष प्रसिद्धो महिमा विभूतिः कोऽसौ महिमा। यस्येमे द्यावापृथिव्यौ शासने [1]विधृते तिष्ठतः। सूर्याचन्द्रमसौ यस्य शासनेऽलातचक्रवदजस्रं भ्रमतः। यस्य शासने सरितः सागराश्च स्वगोचरं नातिक्रामन्ति। तथा स्थावरं जङ्गमं च यस्य शासने नियतम्। तथा चर्तवोऽयने अब्दाश्च यस्य शासनं नातिक्रामन्ति। तथा कर्तारः कर्माणि फलं च यच्छासनात्स्वं स्वं कालं नातिवर्तन्ते स एष महिमा भुवि लोके। यस्यस एष सर्वज्ञ एवंमहिमा देवः। दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे। ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यस्वरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वाद्ब्रह्मणः पुरं हृदयपुण्डरीकं तस्मिन्यद्व्योम तस्मिन्व्योम्न्याकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते। न ह्याकाशवत्सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वाऽन्यथा संभवति। स ह्यात्मा तत्रस्थो

सर्वेश्वरत्वमनोमयत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मणो हृदयपुण्डरीके ध्यानं च क्रममुक्तिफलं मन्दब्रह्मविदो विधीयत इति दर्शयितुमाह—योऽसौ तमसः परस्तादित्यादिना ॥७॥

सम्बन्ध में लौकिक पुरुष कहते हैं कि यह प्रसन्न हो गया, यह क्रुद्ध हो गया इत्यादि। उसी आत्मा को 'ॐ' इस ओंकार का आलम्बन लेते हुए पूर्वोक्त मन्त्रों में बतलायी गयी रीति से ध्यान करो। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी आचार्य शिष्य को उपदेश करे। ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु होने से शिष्य साधन सहित सभी कर्मों का परित्याग कर मोक्षमार्ग वेदान्त-श्रवणादि में प्रवृत्त होवे ऐसे साधक के लिए निर्विघ्नरूप से ब्रह्म प्राप्ति का आदेश आचार्य करते हैं और आशीर्वाद भी देते हैं। संसार-सागर के उस पार जाने के लिए तुम्हारा कल्याण हो अर्थात् कोई विघ्न बाधा न आवे। किसके पार जाने के लिये ? इस प्रश्न का उत्तर श्रुति देती है—अनादि अनिर्वचनीय अविद्या से पार जाने के लिए अर्थात् अविद्या उपाधि से रहित विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का बोध तुझे निर्विघ्न रूप से हो जावे—ऐसी हमारी मंगल कामना है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के मुख से वेदान्त तत्त्व का अभ्यास कर जीते जी शाश्वत शान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करलो ॥६॥

१. विधृते=नियमते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

[1]मनोवृत्तिभिरेव विभाव्यत इति मनोमयो मनउपाधित्वात्प्राणशरीरनेता [2]प्राणश्च शरीरं च प्राणशरीरं तस्यायं नेता स्थूलाच्छरीराच्छरीरान्तरं प्रति। प्रतिष्ठितोऽवस्थितोऽन्ने भुज्यमानान्नविपरिणामे प्रतिदिनमुपचीयमानेऽपचीयमाने च पिण्डरूपान्ने हृदयं बुद्धि पुण्डरीकच्छिद्रे संनिधाय समवस्थाप्य। हृदयावस्थानमेव ह्यात्मनः स्थितिर्न ह्यात्मनः [3]स्थितिरन्ने। तदात्मतत्त्वं विज्ञानेन विशिष्टेन शास्त्राचार्योपदेशजनितेन ज्ञानेन शमदमध्यानसर्वत्यागवैराग्योद्भूतेन परिपश्यन्ति सर्वतः पूर्णं पश्यन्त्युपलभन्ते धीरा विवेकिनः। आनन्दरूपं सर्वा[4]नर्थदुःखायासप्रहीणममृतं यद्विभाति विशेषेण [5]स्वात्मन्येव भाति सर्वदा ॥ ७ ॥

अज्ञान एवं उसके कार्य संसार महोदधि को पारकर पराविद्या से जानने योग्य जिस परमात्मा को प्राप्त करना है। वह कहाँ रहता है? उसका उत्तर श्रुति देरही है। जो सामान्य और विशेष रूप से सम्पूर्ण विश्व को जानता है, जिसकी यह प्रसिद्ध महिमा यानी विभूति है। वह कौन-सी महिमा? जिसके शासन में द्युलोक और पृथ्वी अच्छी प्रकार से धारण किये गये स्थित हैं। जिसके शासन में सूर्य और चन्द्र सदा अलात-चक्र की भाँति घूमते रहते हैं। जिसके शासन में नदी और समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ते, तथा जिसके शासन में स्थावर और जंगम जगत् नियमित रूप से कार्य करते हैं, जिसके शासन को ऋतुएँ, अयन एवं संवत्सर अतिक्रमण नहीं करते, जिसके शासन से कर्ता, कर्म एवं फल अपने-अपने काल और मर्यादा को नहीं छोड़ते। वही उस परमेश्वर की महिमा भूलोक में है। इस प्रकार महिमा वाला वही सर्वज्ञ परमात्म देव है। प्रकाशमान् दिव्यलोक में सम्पूर्ण बुद्धि वृत्तियों से प्रकाशित होने वाले हृदयरूप ब्रह्मपुर में वह प्रतिष्ठित है। इस ब्रह्मपुर में चैतन्य स्वरूप होने से ब्रह्म सदा अभिव्यक्त है। अतः हृदय कमल उसका पुर यानी निवास स्थान कहा गया है। उस हृदय कमल के मध्य में वर्तमान हृदयाकाश में परमेश्वर प्रतिष्ठित जैसा प्रतीत होता है। आकाश के समान सर्वव्यापक परमेश्वर की गति, आगति एवं प्रतिष्ठा पूर्वोक्त रीति से ही सम्भव है; अन्य प्रकार से नहीं। वही आत्मा हृदय में स्थित होता हुआ भी मनोवृत्ति से ही अभिव्यक्त होता है। इसलिये मनरूपी उपाधि वाला होने के कारण उसे मनोमय कहा गया है। एक स्थूल शरीर से दूसरे शरीर में सूक्ष्मदेह—उपाधि वाले जीव को वही ले जाता है। इसीलिये उसे प्राण, शरीर, नेता कहा गया है। प्रतिदिन खाये हुए अन्न के परिणाम रूप से घटने बढ़ने वाले इस पिण्डात्मक अन्न में यानी स्थूल शरीर में हृदय-पुण्डरीक के मध्य बुद्धि को संस्थापित करके अवस्थित है। शरीर में होते हुए भी हृदय में ही आत्मा का स्थान माना है; स्थूल देह में नहीं, क्योंकि हृदय में आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। उस आत्मतत्त्व को शम, दम, ध्यान, सर्वत्याग रूप वैराग्य से उत्पन्न, शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से जनित विशिष्ट ज्ञान द्वारा धीर विवेकी पुरुष सभी ओर से परिपूर्ण देखते हैं। जो सम्पूर्ण अनर्थ, दुःख एवं आयास से रहित आनन्द स्वरूप अमृतरूप स्वान्तःकरण में ही सदा

१. मनोवृत्तिभिरिति द्वारभूताभिरित्यर्थः साक्षिबोधस्य साक्ष्याधीनत्वादिति भावः। २. प्राणश्च शरीरं चेत्यादि। प्राणप्रधानं लिङ्गशरीरमित्यर्थः। ३. स्थितिरन्न इति प्रकारान्तरेणेति शेषः। ४. अनर्थदुःखेति अनर्थपदमनर्थजनकविषयतद्रागपरम्। दुःखं च तत्फलम्। ५. विशेषमेव व्यनक्ति स्वात्मन्येवेति। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नाविति-वदभेदे सप्तमी तथा च विषयसुखमात्मभिन्नत्वेन भाति इदं त्वात्मत्वेनैवेति विशेष इति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

[(जो कारण रूप से पर और कार्य रूप से अवर है) उस परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीव की आत्मानात्माध्यास रूप हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। ज्ञेय पदार्थ विषयक सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं और इसके (प्रारब्ध से भिन्न) सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥८॥]

अस्य परमात्मज्ञानस्य [1]फलमिदमभिधीयते। भिद्यते हृदयग्रन्थिर[2]विद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रयः कामः "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" इति श्रुत्यन्तरात्। हृदयाश्रयोऽसौ नाऽऽत्माश्रयः। भिद्यते भेदं विनाशमायाति। छिद्यन्ते सर्वे [3]ज्ञेयविषयाः संशया [4]लौकिकानामामरणात्तु गङ्गास्रोतोवत्प्रवृत्ता[5] विच्छेदमायान्ति। अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्ति[6]सहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि। न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि प्रवृत्तफलत्वात्तस्मिन्सर्वज्ञेऽसंसारिणि परावरे परं च कारणात्मनाऽवरं च कार्यात्मना तस्मिन्परावरे साक्षादहमस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यत इत्यर्थः ॥८॥

अस्य परमात्मज्ञानस्येति। जीवन्मुक्तिफलस्याद्वैतवाक्यार्थविगमस्य क्रममुक्तिफलस्य चोपासनस्येत्यर्थः। अविद्यावासनाप्रचयो भिद्यत इति कोऽर्थः। किं बुद्धौ विद्यमानाभामविद्यादिभेदो ज्ञानफलं

विशेष रूप से प्रतिभासित होता है। इस प्रकार सर्वेश्वरत्वादि गुण विशिष्ट ब्रह्म का हृदय पुण्डरीक में ध्यान करने वाले मन्द बुद्धि को क्रम-मुक्ति प्राप्त होती है ॥७॥

इस परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान का फल यह कहा गया है कि अविद्या-वासना के प्रचयरूप (वृद्धि) बुद्धि के आश्रित जो काम है वह हृदय की गांठ है। क्योंकि 'जीव के हृदय में रहने वाली जो कामनायें हैं वे ही गांठ हैं' ऐसा दूसरी श्रुति भी कहती है। कामना का आश्रय हृदय ही है, न कि आत्मा। यह हृदय रूपी गांठ परमात्मतत्त्व के अपरोक्ष अनुभव हो जाने पर नष्ट हो जाती है। मरण-पर्यन्त लौकिक पुरुषों के गंगा धारा की भाँति प्रवृत्त रहने वाली सभी ज्ञेय वस्तु के सम्बन्ध में जो संशय हैं, वे भी नष्ट हो जाते हैं। जिसका संशय नष्ट हो गया, जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है; वैसे भाग्यवान् के जो तत्त्वज्ञान से पूर्व इस जन्म अथवा जन्मान्तर के किये हुए कर्म हैं, जिन्होंने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया; ऐसे कर्म और ज्ञान उत्पत्ति के सह भावी इस जन्म में किये हुए कर्म नष्ट हो जाते हैं। केवल इस जन्म के आरम्भक प्रारब्ध कर्म ही शेष रहते हैं। क्योंकि वे इषुचक्र की भाँति अपना फल प्रारम्भ कर चुके हैं। अतः उनका नाश तो भोग से ही होता है। ज्ञान मात्र से

---

१. फलमिति जीवन्मुक्तिरूपं क्रममुक्तिरूपं चेत्यर्थः। २. अविद्येति जनितेति शेषः। ३. ज्ञेयविषया इति प्रमाणविषयाणां तेषां श्रवणादिनैवोच्छिन्नत्वादिति भावः। ४. लौकिकानामिति—अज्ञानामित्यर्थः। ५. प्रवृत्ता इति प्रवृत्ता एव भवन्ति न निवृत्ता भवन्तीति भावः। ६. सहेति—आगामीनीत्यर्थः—विज्ञानोत्पत्तिकाले तद्भावासंभवात्तदनन्तरभावित्वार्थकत्वादिति। यद्वा ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनीत्यनेन क्रियमाणान्येव ग्राह्याणि। तेनैव चोपलक्षणविधयाऽऽगामीन्यपीति ध्येयम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

[बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय परमकोश में वह विशुद्ध कलारहित ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और वह यही तत्त्व है, जिसका आत्मज्ञानी पुरुष हृदय में साक्षात्कार करते हैं ॥९॥]

उक्तस्यैवार्थस्य संक्षेपाभिधायका उत्तरे मन्त्रास्त्रयोऽपि हिरण्मये ज्योतिर्मये [1]बुद्धि-विज्ञानप्रकाशे परे कोशे कोश इवासेः। आत्मस्वरूपोपल[2]ब्धिस्थानत्वात्परं तत्सर्वाभ्यान्तर-त्वात्तस्मिन्विरजमविद्याद्यशेषदोषरजोमलवर्जितं ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्स[3]र्वात्मत्वाच्च निष्कलं निर्गताः कला यस्मात्तन्निष्कलं निरवयवमित्यर्थः। यस्माद्विरजं निष्कलं चातस्तच्छुभ्रं शुद्धं ज्योतिषां सर्वप्रकाशात्मनामग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासकम्। अग्न्यादीनामपि

किंवा तन्निवृत्तौ। नाऽऽद्यः। सत्युपादाने कार्यस्य[4]त्यन्तोच्छेदासंभवात्। न द्वितीयः। ज्ञानस्याज्ञानेनैव साक्षाद्विरोधप्रसिद्धेः। किंच। बुद्धिरप्यनादिः सादिर्वा। नाऽऽद्यः "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रि-याणि च" इतिश्रुतिविरोधात्। नान्त्यः। [5]प्रलये ब्रह्मज्ञानं विनैव बुद्धेर्नाशसंभवात्तदानर्थक्यप्रसङ्गात्। सादित्वे च बुद्धेरुपादानं साक्षाद्ब्रह्म चेत्तन्नाशं विनाऽत्यन्तोच्छेदो न स्यात्। माया चेत्सा द्रष्टृगतज्ञानेन[6] नोच्छेदमर्हति। लौकिकमायाविगतमायाया द्रष्टृगतज्ञानेनोच्छेदादर्शनात्। किंच। बुद्धेरुच्छेदो न

नहीं, असंसारी सर्वज्ञ उस परावर के साक्षात्कार से संसार कारण अविद्या से नष्ट हो जाने पर वह तत्त्वज्ञानी मुक्त हो जाता है। कारण रूप से वह परमेश्वर पर कहा जाता है और कार्य रूप से अपर कहा जाता है। वह ही 'मैं हूँ' इस प्रकार के अपरोक्ष अनुभव को ही उस परावर ब्रह्म का साक्षात् दर्शन कहा गया है। और यही जीवन मुक्ति का कारण है। अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान से जीवन मुक्ति और उपासना के ज्ञान से क्रम मुक्ति रूप फल प्राप्त होता है। यही उक्त मन्त्र द्वय का तात्पर्यार्थ है ॥८॥

उक्त अर्थ को ही संक्षेप रूप से आगे के तीन मन्त्र भी कह रहे हैं कि ज्योतिर्मय बुद्धि विज्ञान के प्रकाशक तलवार के कोश की भाँति प्रतीत होने के कारण जिसे श्रेष्ठ कोश कहा गया है। इस हिरण्यमय कोश में आत्म स्वरूप उपलब्धि स्थान से परे सबके भीतर विद्यमान होने से जो श्रेष्ठ है—उस विरल अविद्या आदि अशेष-दोष से रूप रजोगुण से रहित है। जो सबसे महान् और सब की आत्मा होने से ब्रह्म कहा गया है। निष्कल यानी निरवयव कहा गया है। क्योंकि जिससे सभी कलायें निकल चुकी हैं, उसी को निष्कल और निराकार भी कहते हैं। जबकि वह रजोगुण और कला से रहित है; अतः वह शुद्ध है और अग्न्यादि सबके प्रकाशक ज्योति की भी ज्योति है। अग्न्यादि में भी जो प्रकाशतत्त्व है, वह उसके अन्तर्गत ब्रह्मात्व चैतन्य ज्योति के निमित्त से ही है। वह ज्योति सर्व-श्रेष्ठ इसलिये है कि वह किसी से प्रकाशित नहीं होती किन्तु सबका प्रकाशक है। इसीलिए शब्दादि

---

१. बुद्धिविज्ञानेति बुद्धिवृत्तिकृतावद्योतने हार्दाकाश इत्यर्थः। २. यथाऽस्युपलब्धिस्थानत्वात् कोशलव्यवहारस्त-द्वदित्यर्थः। ३. सर्वात्मत्वात्—सर्वरूपत्वात्। ४. अत्यन्तेति पुनरुत्पत्तिसंभवादिति भावः। विचारा-दिना किञ्चिच्छैथिल्यमेनायातीत्यभिप्रायेणात्यन्तेति। ५. प्रलय इति। सादीनां घटादीनां तथादर्शनादिति भावः। ६. ज्ञानेनेति—मायात्रिविषयकेणेत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्योतिष्ट्वमन्तर्गतब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्तमित्यर्थः। तद्धि परं ज्योतिर्यदन्यानवभास्यमात्मज्योतिस्तद्यदात्मविद आत्मानं स्वं शब्दादिविषयबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणं ये विवेकिनो

तस्याः फलं स्वनाशस्याफलत्वात्। नाऽऽत्मनः। तस्य बुद्धि[1]प्रसंङ्गाभावेन तदुच्छेदस्याफलत्वात्। किंचाऽऽत्मनोऽविद्याद्यनाश्रयत्वाभिधानं श्रुतिविरुद्धं प्रक्रमे—अविद्यायामन्तरे [2]वर्तमाना इति श्रवणादुपसंहारे च—"अनीशया[3] शोचति मुह्यमानः" इति श्रवणात्। बुद्धिगतमेवाविद्याद्यात्मन्यध्यस्यत इति चेदध्यस्यत इति कोऽर्थः। निक्षिप्यते भ्रान्त्या दृश्यते वा। नाऽऽद्यः। अन्यधर्मस्यान्यत्र निक्षेपासंभवात्। भ्रान्त्या चेत्केन दृश्यते। न तावदात्मना [4]तस्याविद्या[5]श्रयत्वानङ्गीकारात्। न बुद्ध्या। बुद्धेरात्म[6]विषयत्वासंभवेन तद्गतदर्शनासंभवात्। [7]तद्भ्रान्तेश्च स्वाश्रयगतेन तत्त्वानु[8]भवेन निवर्त्यत्वप्रसिद्धेर्बुद्धेरनुभ[8]वाश्रयत्वप्रसङ्गात्। तस्मान्नास्य भाष्यस्य सम्यगर्थं पश्याम इति चेदुच्यते[9]।

विषयाकार बुद्धिवृत्ति के साक्षी अपने स्वरूप को जो विवेकी आत्म-तत्त्वदर्शी जानते हैं वे आत्मवित् कहलाते हैं। आत्मज्ञान के अनुसरण करने वाले पुरुष ही उसे जानते हैं। जबकि वह प्रकाश सर्वश्रेष्ठ है। अतः पूर्वोक्त साधनों से विशिष्ट पुरुष ही उसे जानते हैं। दूसरे बाह्यार्थ की प्रतीति के पीछे भागने वाले लोक उस आत्मतत्त्व को नहीं जान सकते ॥९॥

वह ब्रह्म ज्योतियों का ज्योति किस प्रकार है? इस पर कहते हैं कि अपने आत्मरूप उस ब्रह्म में सबका प्रकाशक सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता अर्थात् उस ब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नहीं करता है। यहाँ पर प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय के अर्थ का अध्याहार करके व्याख्या की गयी है। इसीलिये भाँति शब्द का अर्थ प्रकाशित होता है ऐसा न करके 'प्रकाश करता है' ऐसा अर्थ किया गया है। उस परमेश्वर के प्रकाश से ही प्रकाशित हो सम्पूर्ण ब्रह्म भिन्न अनात्मवस्तु को सूर्य प्रकाशता है क्योंकि उस सूर्य में स्वतः प्रकाशन सामर्थ्य नहीं है। वैसे ही चन्द्रमा, तारा एवं विद्युत भी उस ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करते, फिर भला हम लोगों के प्रत्यक्ष विषय यह अग्नि उस ब्रह्म को कैसे प्रकाशित कर सकती है। विशेष क्या कहें जो कुछ यह जगत् प्रकाशित होता है वह स्वतः प्रकाश स्वरूप उस परमेश्वर के प्रकाशित होने के बाद ही प्रकाशित होता है। जैसे अग्नि के संयोग से उष्ण जल और अंगारे जलाने वाले अग्नि के पीछे ही जलाते हैं यानी दाह तो जल एवं अंगारे में प्रविष्ट अग्नि से ही होता है। किन्तु साधारण पुरुष जल से हाथ जल गया, चिमटे से हाथ जल गया इत्यादि व्यवहार करते हैं। अतः जैसे जलादि में स्वतः दाहकता नहीं है। वैसे ही सूर्यादि में भी स्वतः प्रकाशन शक्ति नहीं है। किन्तु उस ब्रह्म के ही दीप्ति से इस सम्पूर्ण जगत् को सूर्यादि प्रकाशते हैं। इस प्रकार वही ब्रह्म सबको प्रकाशता है यानी सूर्य आदि कार्यगत विविध प्रकाशन सामर्थ्य द्वारा सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही प्रकाशित करता है। इसलिये उस ब्रह्म में स्वतः प्रकाशरूपत्व जाना जाता है। क्योंकि यदि ब्रह्म स्वतः प्रकाशरूप न होता, तो भला दूसरे को कैसे प्रकाश कर सकता था? घटादि अप्रकाशमान् वस्तु को किसी दूसरे के प्रकाशक

१. प्रसङ्गः=तात्त्विकः सङ्गः। २. मु. १-२-८। ३. मु. ३-१-२। ४. तस्य आत्मनः। ५. अविद्येत्यादि तथा च तस्य आविद्यकभ्रान्त्यनुपपत्तेरिति भावः। ६. आत्मविषयत्वेति। जडत्वे नात्मभानकत्वाभावेनात्मगतभासकत्वाभावादित्यर्थः। आत्मेत्यादि स्वविषयकत्वासंभवात् स्वगतधर्मविषयकत्वासंभवादित्यर्थः। ७. तद्भ्रान्तेरिति बुद्धिगतभ्रान्तेः। ८. अनुभवशब्दोऽत्र चित्प्रतिबिम्बार्थकः तदाश्रयत्वं च बिम्बस्यैवेत्यापत्तिः सङ्गच्छते वृत्त्यात्मकार्थत्वे त्वतिप्रसङ्गोक्तिरकाण्डपातिन्येव स्यात्। ९. बुद्धिधर्मस्य कामस्यात्मन्यारोपितस्यैवानर्थतया तदारोपनिमित्तस्य बुद्धितादात्म्यस्यैव ग्रन्थित्वं भाष्यकाराभिप्रेतम्। कामस्य ग्रन्थित्ववचनं तु साक्षादनर्थत्वेन जिहासितत्वाभिप्रायमित्याशयेन समाधत्त उच्यत इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

[वहाँ आत्म स्वरूप ब्रह्म में सबको प्रकाशित करनेवाल यह सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता है और न चन्द्रमा तथा तारे भी वहाँ पर प्रकाशित नहीं होते हैं। वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती, फिर भला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकती है। उसके प्रकाशित होने पर ही ये सभी प्रकाशित होते हैं। विशेष क्या ? ये सब कुछ उसी प्रकाश से भासित हो रहे हैं ॥१०॥]

विदुर्विजानन्ति त आत्मविदस्तद्विदुरा[1]त्मप्रत्ययानुसारिणः। [2]यस्मात्परं ज्योतिस्तस्मात्त एव तद्विदुर्नेतरे बाह्यार्थप्रत्ययानुसारिणः ॥९॥

कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरित्युच्यते। न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति। तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वमन्यदनात्मजातं प्रकाशयतीत्यर्थः। न तु तस्य स्वतः प्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकं

---

[3]चित्तन्त्राऽना[4]दि[5]रनिर्वाच्याऽविद्या चैतन्यमवच्छिद्य स्वावच्छिन्नचैतन्यस्य [6]बुध्यादितादात्म्यरूपेण विव[7]र्तते। तस्याश्च ब्रह्मात्मतासाक्षात्कारनिवर्त्यरूपाङ्गीकारात्तन्निवृत्तौ तदुत्थहृदयग्रन्थिभेदः श्रुत्योच्यते। भाष्यकारीयं च बुद्ध्याश्रयत्वाभिधानमहं[8]कारविशेषणत्वेना[9]विद्यादेर्व्या[10]वहारिकाभिप्रायेणाऽऽत्मानाश्रयत्वाभिधानं चाऽऽत्मनो [11]निर्विकारत्वाभिप्रायम्। [12]बाधितानुवृत्तिश्च [13]प्रकटार्थे प्रादर्शीति जीवन्मुक्तिर्न विरुध्यते ॥८॥९॥

भातीति[14] णिजर्थाध्याहारेण व्याख्यातम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यस्य ब्रह्मणः स्वतो

रूप से नहीं देखा गया है और प्रकाशरूप सूर्यादि में अन्य वस्तु का प्रकाशकत्व देखा गया है। अर्थात् प्रकाशहीन घटादि किसी भी वस्तु को प्रकाशित नहीं करते। इसके विपरीत प्रकाशमान् सूर्यादि अन्य वस्तु को प्रकाशते हैं। ऐसा लोक में देखे जाने के कारण ब्रह्म में स्वप्रकाशता निश्चित हो जाती है ॥१०॥

---

१. आत्मप्रत्ययेति—आत्मानुसंधानशीला इत्यर्थः। २. यस्मादित्यादि। न ह्यरुन्धतीमप्यसूक्ष्मदृशोऽवलोकयन्ति किमुत ततोऽपि परम्=सूक्ष्मम्। ३. चित्तन्त्रा=चिदाश्रयविषया न तु तदुपादाना। ४. येन नात्यन्तोच्छेद इति सूचयन्नाह—अनादिरिति। ५. तथात्वेऽपि न ब्रह्मवदबाध्या किन्तु ज्ञानबाध्येति संभावयति—अनिर्वाच्येति। ६. बुद्ध्यादीति बुद्ध्यादिरूपेण तत्तादात्म्यरूपेण च विवर्तते परिणमतेऽवच्छेद्यमहिम्ना यथा स्वावच्छेद्याकाशमहिम्ना भूर्यादयः शब्दायन्ते तद्वत्। ७. प्रतीतिमात्रसत्त्वावद्योतनाय विवर्तत इत्युक्तम्। ८. अहंकारविशेषणत्वेनेति अन्तःकरणधर्मतयेत्यर्थः। ९. अविद्यादेः कर्मादेरित्यर्थः।
१०. व्यावहारिकत्वबोधनेच्छयेत्यर्थः। ११. निर्विकारत्वेति बस्त्वत इत्यादिः। १२. ननु हृदयग्रन्थिभेदे व्यवहारानुपपत्ते र्जीवन्मुक्तिरसंभवेत्याशङ्क्याह—बाधितानुवृत्तिश्चेति। दग्धपटवद्बाधितस्यापि तादात्म्यादेः प्रतीतिस्त्वित्यर्थः। १३. प्रकटार्थे तन्नाम्नि तदीयग्रन्थे। १४. अर्थाध्याहारमनेनाह—णिनर्थाध्याहारेणेति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

॥इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥

[यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही सबके आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, दायें ओर बायें ओर भी वही है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर सभी ओर फैला हुआ है। अधिक क्या कहें ? यह सम्पूर्ण विश्व सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म स्वरूप ही तो है (उसी में रज्जू सर्प की भाँति यह संसार भास रहा है) ॥११॥]

॥ इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयखण्डः ॥

॥ इति द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः। किं बहुना। यदिदं जगद्भाति तत्तमेव परमेश्वरं स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते। यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनुदहति न स्वतस्तद्वत्तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादिजगद्विभाति। यत एव तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च कार्यगतेन विविधेन भासाऽतस्तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते। न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्नोति। घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भारूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥१०॥

यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्म तदेव सत्यं सर्वं तद्विकारं वाचारम्भणं विकारो नाम-

भारूपत्वे तात्पर्यं कथयति—यत एवं तदेव ब्रह्म भाति चेति ॥१०॥

उपसंहारमन्त्रस्य तात्पर्यमाह—यत्तज्ज्योतिषां ज्योतिरिति तेन ब्रह्मणा विविधं क्रियत इति तद्विकारं सर्वं जगत्सर्वं ब्रह्मैवेति बाधायां सामानाधिकरण्यं योऽयं स्थाणुः पुमानसाविति वदन्वय-

वह ज्योतियों का ज्योति ब्रह्म है। वही त्रिकालाबाधित सत्य है, उसके विवर्त सम्पूर्ण जगत् नामरूप वाणी से कहने मात्र के लिए है। अतः मिथ्या है। इसी अर्थ को विस्तार पूर्वक युक्ति और तर्क से बतलाया गया। अब उसी का निगमस्थानीय मन्त्र द्वारा पुनः उपसंहार करते हैं।

१. अस्मद्गोचरः—सूर्याद्यपेक्षयाऽत्यल्पप्रकाश इति भावः। २. ननु गच्छन्तमनुगच्छतीतिवद्भान्तमनुभातीत्यत्राप्यनुभानकर्तुर्भानं स्वत एव स्यादित्याशङ्क्याह—यथेत्यादि। ३. विविधेन भासेति प्रयोगाद्भाः शब्दस्यास्त्रीलिङ्गत्वमप्यवगम्यते। ४. यथोक्तसामानाधिकरण्यफलमाह—अन्वयेति—अन्वयरूपो यो व्यतिरेकाभावस्तन्परिहारेणेत्यर्थः। ब्रह्मणि जगत्तादात्म्यरूपो यो ब्रह्मव्यतिरेकेण जगदभाव एवकारलभ्यस्तत्परिहारेण सर्वं ब्रह्मेति सामान्यधिकरण्येन तदभाव बोधनेनेति यावत्। इति प्राञ्चः। यद्वा पुरोदृश्यस्य पश्चादभावः पश्चात् सतश्च पुरोऽभावो न चोभयत्र ब्रह्माभाव इति दृश्यान्वयव्यतिरेकयोरपि ब्रह्मणोऽभावपरिहारेणेत्यर्थः। यत्सत्त्वासत्त्वयोरपि यत्सत्त्वं न व्यभिचरति। एतावन्मात्रं यथा स्वप्नदृश्यं दृष्टिमात्रमिति व्याप्तेरिति भावः। (टिप्पणी) बाधसामानाधिकरण्येन तादात्म्य निरासमुखेन तावन्मात्रत्वविवक्षायां ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येतावदेव पर्याप्तमिति ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तादित्याद्युक्तिर्व्यर्थेत्यस्व्याऽर्थान्तरमाह—यद्वेत्यादिना।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धेयमात्रमनृतमितरदित्येतमर्थं विस्तरेण [1]हेतुतः प्रतिपादितं निगमनस्थानीयेन मन्त्रेण पुनरुपसंहरति । ब्रह्मैवोक्तलक्षणमिदं यत्पुरस्तादग्रेऽब्रह्मेवाविद्यादृष्टीनां प्रत्यवभासमानं तथा पश्चाद्ब्रह्म तथा दक्षिणतश्च तथोत्तरेण तथैवाधस्तादूर्ध्वं च सर्वतोऽन्यदिव कार्याकारेण प्रसृतं प्रगतं नामरूपवदवभासमानम् । किं बहुना ब्रह्मैवेदं विश्वं समस्तमिदं जगद्वरिष्ठं वरतमम् । अब्रह्मप्रत्ययः सर्वो[2]ऽविद्यामात्रो रज्ज्वामिव सर्पप्रत्ययः । ब्रह्मैवैकंपरमार्थसत्यमिति वेदनुशासनम् ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयमुण्डकं समाप्तम् ॥२॥

---

[3]व्यतिरेकाभावपरिहारेण [4]तावन्मात्रत्वं बोध्यते ॥११॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयं मुण्डकं समाप्तम् ॥२॥

जिसका लक्षण पहले बतलाया गया, वही ब्रह्म पीछे भाग में दीखता है। दक्षिण, उत्तर, नीचे और ऊपर सभी ओर भिन्न की भाँति कार्याकार रूप से सर्वत्र फैला हुआ दीखता है। अर्थात् नामरूप विशिष्ट सम्पूर्ण जगत् जो प्रतीत हो रहा है, वह उसी ब्रह्म का विस्तार है। पर अज्ञानियों को ब्रह्मरूप से न दीखकर तद्भिन्न रूप से दीखता है। किंबहुना, यह सम्पूर्ण जगत् श्रेष्ठतम ब्रह्म ही तो है। ब्रह्म से भिन्न वस्तु का जो प्रत्यय होता है, वह सब रज्जु में सर्प प्रतीति की भाँति अविद्या का विलास मात्र है। परमार्थ सत्य तो एक अद्वितीय ब्रह्म ही है। ऐसा वेद का अनुशासन है ॥११॥

---

१. हेतुत इति—आविः संनिहितमित्यादिविशेषणसूचितैर्हेतुभिरित्यर्थः । २. अविद्यामात्रो भ्रान्तिरूपः ।

३. ननु चतुर्विधं भवति पदानां सामानाधिकरण्यं यथाहुः—बाधाध्यासविशेषणैक्यविषयं नाम्नोश्चतुर्धा मतं सामानाधिकरण्यमिति स्वाराज्यसिद्धिः उत्तरार्धे ३९ श्लोके । नाम्नोः सामानविभक्तिकप्रातिपदिकयोः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकत्वं हि शब्दानां सामानाधिकरण्यम् । तत्र बाधविषयं तावत् चौरोऽयं स्थाणुरिति । पूर्वोत्पन्नमिथ्याप्रत्ययस्योत्तरेण यथार्थप्रत्ययेन विषयापहारो बाधः । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासस्तत्रैक आहार्यरूपः । (अध्यास इति संपत्प्रतीकोपासने अप्यध्यासेऽन्तर्भवत इति ध्येयम्) । स च भेदादि ग्रहे सत्यपीच्छया क्रियमाणः । तद्विषयं च सामानाधिकरण्यं यथा सिंहो माणवक इति । यत्र ह्येक पदोत्पन्ना सामान्यबुद्धिः पदान्तरेण विवक्षितां व्यावर्तनेन स्वार्थसंसृष्टे विशेषेऽवस्थाप्यते यथा नीलमुत्पलं दण्डी पुरुष इति तत्र विशेषणविषयं सामानाधिकरण्यम् । यत्र नु पदानि तात्पर्याविषयवाच्यार्थांशपरित्यागेन परस्परार्थविरुद्धांशपरित्यागेन वा असंसृष्टवस्तुमात्रपराणि तत्रैक्यविषयं सामानाधिकरण्यं यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः सोऽयं देवदत्त इति । इत्यादि यत्र टीकायाम् । तथा च सति प्रकृतेऽध्यासादित्रिषयमेव सामानाधिकरण्यं कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—अन्वयेत्यादि । अन्वयः सम्बन्धः विशेषणविषयसामानाधिकरण्ये हि ब्रह्म जगतोः समवायादिसंम्बन्ध एव बुध्येत न चासौ विवक्षित इति न तद्विषयं सामानाधिकरण्यम् । अध्यासविषये च व्यतिरेको भेदः स्यादिति न तत् । ऐक्यविषये चाभावः प्रत्यासत्त्याव्यतिरेकस्यैव सोऽपि न विवक्षित इत्यन्वयादिपरिहारार्थं बाधसामानाधिकरण्ये न ब्रह्ममात्रत्वं बोध्यत इत्यर्थः । ४. तावन्मात्रत्वं—जगतो ब्रह्ममात्रत्वम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥

[जो सर्वदा साथ-साथ रहने वाले और समान आख्यान वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों एक शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख-दुःख रूप फल का उपभोग करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव परमात्मा) कर्म फल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है ॥१॥]

परा विद्योक्ता यया तदक्षरं पुरुषाख्यं सत्यमधिगम्यते । यदधिगमे हृदयग्रन्थ्यादि-संसारकारणस्याऽऽत्यन्तिकविनाशः स्यात् । तद्दर्शनोपायश्च योगो धनुराद्युपादानकल्पनयोक्तः । अथेदानीं [1]तत्सहकारीणि सत्यादि[2]साधनानि वक्तव्यानीति तदर्थमुत्तरारम्भः । प्राधान्येन तत्त्वनिर्धारणं च प्रकारान्तरेण क्रियते अत्यन्तदुरवगाह्यत्वात्कृतमपि तत्र सूत्रभूतो मन्त्रः परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्यते द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा [3]सुपर्णौ सयुजा सयुजौ सहैव सर्वदा युक्तौ सखाया सखायौ [4]समानाख्यानौ [5]समानाभिव्यक्तिकारणावेवंभूतौ सन्तौ समानमविशेषमुपलब्ध्यधिष्ठा[6]नतयैकं वृक्षं

प्राधान्येनेति । [7]अपूर्वत्वेन तात्पर्यविषयतयेत्यर्थः । द्वा सुपर्णेत्यादौ द्विवचनस्याऽऽकारश्छान्दसः । जीवस्याज्ञत्वेन [8]नियम्यत्वेन योग्यत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन नियामकत्वशक्तियोगाच्छोभनमुचितं पतनं नियम्यनियामकभावगमनं ययोस्तौ शोभनपतनौ । पक्षिसामान्याद्वेति । वृक्षाश्रयणादिश्रवणादित्यर्थः । ऊर्ध्वमुत्कृष्टं ब्रह्म मूलमधिष्ठानमस्येत्यूर्ध्वमूलोऽवाञ्चः [9]प्राणादयः शाखा इवास्येत्यवाक्शाखः । इवः

❀ तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड ❀

जिसके द्वारा उस सत्य पुरुष नामक अक्षर ब्रह्म का अधिगम होता है, ऐसी परा विद्या बतलायी गयी। जिस अक्षर ब्रह्म के अधिगम हो जाने पर हृदयग्रन्थि आदि-संसार कारण का सर्वथा नाश हो जाता है। उस ब्रह्मके दर्शन का उपाय 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रम्' इत्यादि मंत्र में धनुरादि उपादान कल्पना के द्वारा बतला दिया गया। अब इस समय उसके सहकारी सत्यादि साधन को बतलाना आवश्यक जानकर उसे बतलाने के लिये आगे का ग्रंथ प्रारंभ किया जाता है। प्रकारान्तर से प्रधान रूप में तत्त्व का निश्चय भी कराया गया है। यद्यपि परमार्थ वस्तु का अवधारण पहले किया जा चुका है, फिर भी अत्यन्त दुःखग्राह्य होने के कारण इस विषय में सूत्रभूत मंत्र का उपन्यास किया जाता है। इस शरीररूप वृक्ष के ऊपर जीवात्मा और परमात्मा दो समान स्वभाव वाले सर्वदा एक साथ रहने वाले सुन्दर आँख वाले पक्षी विद्यमान हैं। जैसे दो पक्षी एक वृक्ष में रहते हों, ऐसा शरीर रूप वृक्ष इन दोनों का आश्रय है। अतः जीवात्मा-परमात्मा को भी सुन्दर पंखवाले सुपर्ण कह दिया गया है। स्वरूपतः

---

१. तत्सहकारीणीति यथोक्तयोगसहकारीणीत्यर्थः । २. मु० ३-१-५ । ३. सुपर्णाविति पक्षिणावित्यर्थः । ४. समानाख्यानौ—चैतन्यमिति तुल्याभिधानौ । ५. समानाभिव्यक्तिकारणाविति समानं देहान्तःकरणात्मकं तुल्यं वेदान्तवाक्यात्मकमुपलब्धिकारणं वा ययोरिति विग्रहः । ६. आश्रयतया । ७. अपूर्वत्वेनेति मानान्तरानवगतत्वेन हेतुनेत्यर्थः । ८. नियम्यत्वेन नियन्तुमिति यावत् । ९. प्राणादयो हिरण्यगर्भादयः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वृक्षमिवोच्छेदनसामान्याच्छरीरं वृक्षं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ। सुपर्णाविवैकं वृक्षं फलोपभोगार्थम्। अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः [1]क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तौ सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ। तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रितः पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्र[2]वेदनास्वादरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति। प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्य[3]साक्षित्वसत्तामात्रेण। स त्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं न [4]राजवत् ॥१॥

स्थानं नियन्तुमस्य न शक्यमित्यश्वत्थः। अव्यक्तमव्याकृतं मूलमुपादानमन्वयि[5] तस्मात्प्रभवतीति तथोक्तो यावदज्ञानभावीत्यर्थः। अविद्याकामकर्मवासनानामाश्रयो लिङ्गमुपाधिर्यस्याऽऽत्मनः स जीवस्तथोक्तः स चेश्वरश्च तावित्यर्थः। सत्त्वं मायाख्यमुपाधिरस्येति सत्त्वोपाधिः। ज्ञानात्मकस्यामलसत्त्वराशेरिति[6] ह्युक्तम् ॥१॥

जीवात्मा और परमात्मा समान हैं और उपाधि के कारण से इनमें जीवत्व तथा परमेश्वरत्व है। इसीलिए इन्हें 'सयुजासखाया' कहा गया है। इन दोनों की अभिव्यक्ति का कारण भी एक ही है। दोनों की उपलब्धि के अधिष्ठान रूप से शरीर एक है इसलिये 'समानम्' कहा गया है। वृक्ष के समान शरीर का भी उच्छेद हो जाता है। अतः शरीर को भी वृक्ष कहा गया है। ऐसे समान वृक्ष रूप शरीर के ऊपर पूर्वोक्त जीवात्मा एवं परमात्मा रूप पक्षी परिष्वक्त हैं। अर्थात् फलोपभोग के लिये पक्षियों के समान एक ही वृक्ष पर निवास कर रहे हैं।

यह वृक्ष अव्यक्तरूप मूल से उत्पन्न हुआ है। इसलिये उसे ऊर्ध्वमूल कहते हैं। सभी प्राणी ब्रह्मापेक्षया अल्प शक्तिवाले होने के कारण निम्न कोटि के हैं और ये संसार वृक्षके नीचे शाखा के समान हैं। कल तक इसकी स्थिरता निश्चत न होने के कारण इसे अश्वत्थ कहते हैं। सभी प्राणियों के कर्म फल का आश्रय होने से इसे क्षेत्र नाम से कहते हैं। अविद्या, काम, कर्म एवं वासना के आश्रयरूप लिंगशरीरात्मक उपाधि जिनके हैं, इसीलिये सुपर्ण कहा है। ऐसे जीवात्मा और परमात्मा दोनों पक्षी उस वृक्ष के ऊपर लिपटे हुए हैं। शरीर के आलिंगन करने वाले इन दोनों में से लिंग शरीर रूप उपाधि वाला वृक्ष के आश्रित एक जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है। और वह क्षेत्रज्ञनाम से इसलिये कहा गया है; क्योंकि कर्म से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख रूप फल को भोगता है। अनेक विचित्र वेदना एवं स्वाद वाला होने के कारण उस फल को स्वादिष्ट कहते हैं। उस स्वादिष्ट फल का भोग अविवेक के कारण जीव करता रहता है। किन्तु जीव से भिन्न ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सभी जीवों की उपाधि से उपहित ईश्वर साक्षी-सर्वज्ञ होने के कारण पूर्वोक्त फल का उपभोग नहीं करता। वह तो नित्य साक्षित्व एवं सत्तामात्र रूप से दोनों भोज्य और भोक्ता का प्रेरयिता है। इसीलिए वह कर्म फल का भोग न करता हुआ भोज्य और भोक्ता दोनों को केवल प्रकाशता ही है। उस परमेश्वर का दर्शनमात्र ही प्रेरकत्व है। जैसे राजा साक्षीमात्र रहता है। उसके साक्षित्व में सभी भृत्यादि नियत

१. क्षेत्रसंज्ञक इति इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत इति स्मृतेः। २. वेदनास्वादेत्यादि ज्ञानानुभवरूपम्। ३. साक्षित्वेत्यादिसाक्षित्वेन यत्सत्त्वमवस्थानं तावन्मात्रेणेत्यर्थः। ४. राजवदिति न राजवदित्यापि पठ्यते। ५. परिणामि। ६. अमलसत्त्वं शुद्धसत्त्वप्रधानमायातत्त्वं राशिरूपाधिर्यस्येति विग्रहः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

[(ईश्वर के साथ) एक ही शरीररूप वृक्ष पर रहने वाला जीव अपने अनीशत्व के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह के वशीभूत होकर शोक करता है। पर वह जिस समय अपने से विलक्षण, योगियों से सेवित परमेश्वर और उसकी संसार महिमा को देखता है, उस समय वह शोक से मुक्त हो जाता है ॥२॥]

तत्रैवं सति समाने वृक्षे यथोक्ते शरीरे पुरुषो भोक्ता जीवोऽविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽला[1]बुरिव सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमेवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखीत्येवंप्रत्ययो नास्त्यन्यो[2]ऽस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते वियुज्यते च संबन्धिबान्धवैः। अतोऽनीशया न कस्यचित्समर्थोऽहं पुत्रो मम विनष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेनेत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति

आवरणं विक्षेपश्च द्वयमविद्यायाः कार्यम्। तत्रेश्वरभावाप्रति[3]पत्तिरनीशावरणं शोचतीति विक्षेपस्तदुभयहेतुरनिर्वाच्यमज्ञानं मोहः तेन विशिष्टोऽनेकैरनर्थप्रकारैरहं करोमीत्यादिभिरविवेकतया

रूप से काम करते हैं, वैसे ही स्वयं-प्रकाश नित्य चैतन्य रूप परमात्मा उन्हें प्रकाश देता है। यही परमात्मा की प्रेरणा है; न कि संसारी की भाँति विकारी होकर प्रेरणा करना है। अतः परमात्मा निर्विकार है ॥१॥

पूर्वोक्त मंत्र में बतलाये गये जीव और ईश्वर में से अविद्या, काम, कर्म तथा उसके फल में रागादिरूप अत्यन्त गुरुतम भार से आक्रांत जीव यथोक्त शरीर रूप समान वृक्ष में वैसे ही निमग्न रहता है, जैसे समुद्र के जल में तुम्बे डूबे रहते हैं। वह जीव अपने को कर्म फल का भोक्ता मानता है और निश्चय पूर्वक आत्मा मानता हुआ 'यह देह ही मैं हूँ' 'अमुक का पुत्र हूँ', 'अमुक का नाती हूँ', 'कृश हूँ, स्थूल हूँ, गुणवान् हूँ, 'गुणरहित हूँ,' 'सुखी हूँ,' 'दुःखी हूँ', इत्यादि प्रतीति वाला होने से साथ ही देह से भिन्न कुछ नहीं है ऐसा मानकर जन्मता है, मरता है, सगे-सम्बन्धियों से संयुक्त होता है, और विभक्त भी होता है। इस प्रकार जीवभाव से आवृत हो सोचता रहता है "मैं किसी काम में समर्थ नहीं हूँ; मेरे पुत्र नष्ट हो गये; मेरी पत्नी मर गयी, अब मुझे जीवित रहने से क्या लाभ? ऐसी दीनता का नाम ही अनीशा है। इसी अनीशा के कारण अनेक प्रकार के अनर्थों से मोहित हुआ वह जीव संतप्त होता रहता है। अविवेक के कारण चिंतित होता हुआ वह जीव ऐसे ही प्रेत-तिर्यक् मनुष्यादि योनियों में अत्यन्त वेग पूर्वक घूमता रहता है, अर्थात् जन्मता-मरता है। कदाचित् अनेक जन्मों के संचित शुद्ध धर्म के फलस्वरूप किसी परम दयालु गुरु से उसकी भेंट हो जाती है, और उनके द्वारा बतलाये गये अहिंसा-सत्य, ब्रह्मचर्य-सर्वत्याग-शम-दमादिरूप उचित मार्ग को प्राप्त कर समाहित अन्तःकरण होकर अनेक योगियों और कर्मियों से सेवित परमात्मा का ध्यान करता हुआ जब देखता है, जो परमात्मा वृक्षरूप उपाधि के लक्षण से सर्वथा भिन्न

१. नायं निमज्जनस्वभाव इत्यनुरूपं दृष्टान्तमाह—अलाबुरिवेति। २. अस्माद्देहादन्य आत्मानास्तीत्यर्थः।
३. नाहमीश्वर इत्येवं रूपा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संतप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया चिन्तामापद्यमानः स एवं प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वाजवं जवीभावमापन्नः कदाचिदनेकजन्मसु [1]शुद्धधर्मसंचितनिमित्ततः केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागशमदमादिसंपन्नः समाहितात्मा सञ्जुष्टं सेवितमनेकैर्योग[2]मार्गैः कर्मिभिश्च यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमीशमसंसारिणमशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्युवतीतमीशं सर्वस्य जगतोऽयमहमस्म्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो [3]मायात्मेति विभूतिं महिमानं च जगद्रूपमस्यैव मम परमेश्वरस्येति यदैवं द्रष्टा तदा वीतशोको भवति सर्वस्माच्छोकसागराद्विप्रमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥२॥

तादात्म्यापन्नतयेत्यर्थः। आजवमनवरतं जवीभावं निकृष्टभावं लक्षणया लघुभावं कर्मवायुप्रेरिततया

है, ईश्वर है, असंसारी है, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से रहित है और सम्पूर्ण जो जगत् का ईश्वर है; "उसे यही मैं हूँ जो उस सबकी आत्मा, सब में सम और संपूर्ण भूतों में स्थित है, उससे भिन्न मैं नहीं हूँ," इस प्रकार ध्यान करते हुए देह एवं संसार से विलक्षण परमात्मा का अपरोक्ष अनुभव करता है। साथ ही अविद्या जनित-देहादि उपाधि से परिच्छिन्न मायारूप मैं नहीं हूँ ऐसा समझना है। संपूर्ण जगत् रूप विभूति को भी अपने परमेश्वर की महिमा देखता है। जब इस प्रकार देख लेता है, तब वह द्रष्टा पुरुष संपूर्ण शोक सागर से मुक्त हो जाता है अर्थात् कृत-कृत्य हो जाता जाता है। अज्ञान के वशीभूत हो देह और संसार में संसक्त जीव शोक करता है और जब अनेक योगियों एवं कर्म परायण महापुरुषों से संसेवित देह-विलक्षण परमात्मा को अपरोक्ष रूप से देख लेता है। विशुद्ध परमात्मा के आत्मभाव से अपरोक्ष अनुभव कर लेने के बाद प्रारब्धवेग पर्यन्त दीखने वाले अपने देह तथा संपूर्ण विश्व को परमात्मा की महिमा समझता है, वह अभेद आत्मदर्शी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष शोकादि-संपूर्ण दुःख सागर से छूट जाता है। यह इस मंत्र का भावार्थ है ॥२॥

अन्य मंत्र भी विस्तार पूर्वक इसी अर्थ को बतला रहे हैं। जिस समय विद्वान् साधक स्वयं प्रकाश-स्वरूप संपूर्ण जगत् के कर्ता एवं शासक ब्रह्मयोनि ईश्वर को देखता है। उस समय विद्वान् द्रष्टा मूल सहित संपूर्ण पुण्य-पाप कर्म-बन्धन को नष्ट कर निरंजन-निर्लेप-संपूर्ण दुःख से रहित हो सर्वोत्कृष्ट, निरतिशय, अद्वय रूप समता को पार कर जाता है। स्वयं प्रकाश या सुवर्ण के समान प्रकाशमान् अविनाशी ज्योति होने के कारण परमेश्वर को रुक्मवर्ण कहते हैं। वह संपूर्ण जगत् का कर्त्ता और शासक भी है एवं ब्रह्म होते हुए संपूर्ण विश्व का अभिन्न निमित्त उपादान कारण होने से उसे ब्रह्मयोनि कहते हैं। अथवा कार्य ब्रह्म की योनि होने के कारण उसे ब्रह्मयोनि कहते हैं। ऐसे ब्रह्म का जिस समय आत्मभाव से मुमुक्षु अपरोक्ष अनुभव कर लेता है, उस समय विद्वान् आत्मदर्शी कहा जाता है एवं बंधन रूप मूल सहित संपूर्ण पुण्य-पापों को नष्ट कर निर्लेप हो वह विद्वान् परम साम्य को प्राप्त करता है। ब्रह्मज्ञान के बिना व्यवहारिक जगत् में द्वैत विषयक साम्य भी हो सकता है जो इस अद्वैत भावरूप समता की अपेक्षा निम्नकोटि का माना जाता है। किंतु यह अद्वय रूप सर्वोत्कृष्ट निरतिशय है, जिसे ब्रह्मात्मदर्शी ही प्राप्त कर

१. शुद्धेत्यादि—निष्कामकर्मानुष्ठानोपासनरूपशुद्धधर्मेण संचितं सम्पादितं यन्निमित्तमपूर्वरूपं तत इत्यर्थः।
२. योगो मार्गो येषां तैर्योगिभिरित्यर्थः। ३. मायात्मेति—मिथ्यात्मेत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

[जब तत्त्व द्रष्टा (चेतन) स्वयं प्रकाश यह सुवर्ण के समान प्रकाशमान् सुवर्ण वर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्ति स्थान उस जगन्निर्माता परमेश्वर पुरुष को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्याग कर विशुद्ध हो अत्यन्त समानता को प्राप्त हो जाता है ॥३॥]

अन्योऽपि मन्त्र इममेवार्थमाह सविस्तरम् । यदा यस्मिन्काले पश्यः [1]पश्यतीति विद्वान्साधक इत्यर्थः । पश्यते पश्यति पूर्ववद्रुक्मवर्णं स्वयंज्योतिःस्वभावं [2]रुक्मस्येव वा ज्योतिरस्याविनाशि कर्तारं सर्वस्य जगत ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं ब्रह्म च तद्योनिश्चासौ ब्रह्मयोनिस्तं ब्रह्मयोनिं ब्रह्मणो वाऽपरस्य योनिं स यदा चैवं पश्यति तदा स विद्वान्पश्यः पुण्यपापे बन्धनभूते कर्मणी समूले विधूय निरस्य दग्ध्वा निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यं समतामद्वयलक्षणं [3]द्वैतविषयाणि साम्यान्यतोऽर्वाञ्च्येवातोऽ[4]द्वयलक्षणमेतत्परमं साम्यमुपैति प्रतिपद्यते ॥३॥

जवीभावं क्षैप्र्यमापन्नः पूर्त्रवदित्यभेदेनेत्यर्थः ॥२॥३॥

सकता है; दूसरा नहीं, अज्ञानी जीव मानव देह में आकर न केवल प्रारब्ध अनुसार सुख एवं दुःख का भोग करता है; अपितु निरन्तर अज्ञान के वशीभूत हो देहाध्यास के कारण नूतन पाप-पुण्यों का भी संचय करता रहता है। जो अनेकों जन्म में पुनः दुःख के हेतु हो जाते हैं। किन्तु आत्म तत्त्वदर्शी तत्त्वज्ञान से अज्ञान को नष्ट कर देह में आत्माध्यास को मिटा डालता है । फलस्वरूप प्रारब्धातिरिक्त संपूर्ण संचित कर्म उसके नष्ट हो जाते हैं एवं कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण उसके शरीर से किये गये शुभाशुभ कर्म अदृष्ट को उत्पन्न नहीं करते। फलतः भोग से प्रारब्ध को नष्ट कर विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। यह इस मंत्र का तात्पर्यार्थ है ॥३॥

जो यह प्राणों का प्राण परमेश्वर है, वही प्रकृत परमेश्वर ब्रह्मा से लेकर तुच्छ प्राणी पर्यन्त संपूर्ण भूतों के रूप में अनेक प्रकार से देदीप्यमान हो रहा है।— "सर्वभूतैः" इस पद में तृतीया विभक्ति "इत्थंभूतलक्षणे" अर्थ में की गई । महर्षि पाणिनि ने "इत्थंभूतलक्षणे" २।३।२१ सूत्र बनाया इसका उदाहरण है "जटाभिस्तापसः" अर्थात् जैसे जटाओं से तपस्वी होना उपलक्षित होता है; वैसे ही सर्वभूतैः शब्द से परमेश्वर का संपूर्ण भूतों में स्थित होना लक्षित हो रहा है, अतएव भगवान् भाष्यकार ने परमेश्वर को संपूर्ण भूतों में स्थित सर्वात्मा होना कहा है। इस प्रकार संपूर्ण भूतस्थ परमात्मा को यही मैं हूँ, इस रीति से साक्षात् आत्मभावेन जो जान लेता है वह विद्वान् कहा जाता है। वह वाक्यार्थ-ज्ञानमात्र से अतिवादी नहीं होता। अन्य सबका अतिक्रमण करके बोलने वाले को अतिवादी कहते हैं। किन्तु इस प्रकार प्राणों के प्राण, परमात्मा को अपरोक्ष रूप से जो जानता है, वह अतिवादी नहीं होता। जब संपूर्ण विश्व को आत्मा ही समझ लिया और आत्मा से भिन्न कुछ उसे

---

१. पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । इति कर्तरि श इत्याशयेन व्युत्पादयति—पश्यतीतीति । २. रुक्मस्येति—रुक्मं कार्तस्वरमित्यमरः । ३. द्वैतविषयाणीति— भेदसमानाधिकरणानीत्यर्थः तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वादिरूपाणीति यावत् । ४. अद्वयलक्षणमिति—अनामरूपब्रह्माऽभिन्नत्वरूपमित्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

[यह जो प्राणों का प्राण परमेश्वर है, वह सम्पूर्ण भूतों के रूप में विद्यमान है। इसे साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञानी अतिवादि नहीं होता है, क्योंकि आत्मज्ञानी आत्मा से भिन्न वस्तु को देखता ही नहीं। यह आत्मा में ही क्रीड़ा करनेवाला और आत्मा में ही रतिवाला, आत्मा में ही रमण करने वाला, क्रिया शील पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम माना गया है ॥४॥]

किंच योऽयं प्राणस्य प्राणः पर ईश्वरो ह्येष प्रकृतः सर्वैर्भूतैर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तैः। [1]इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। सर्वभूतस्थः सर्वात्मा सन्नित्यर्थः। विभाति विविधं दीप्यते। एवं सर्वभूतस्थं यः साक्षादात्मभावेनायमहमस्मीति [2]विजानन्विद्वान्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण स भवते भवति न भवतीत्येतत्किमतिवाद्यतीत्य सर्वानन्यान्वदितुं शीलमस्येत्यतिवादी। यस्त्वेवं साक्षादात्मानं प्राणस्य प्राणं विद्वानतिवादी स न भवतीत्यर्थः। सर्वं यदात्मैव नान्यदस्तीति दृष्टं तदा किं ह्यसावतीत्य वदेत्। यस्य त्वपरमन्यद्दृष्टमस्ति स तदतीत्य वदति। अयं तु विद्वानात्मनोऽन्यन्न पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति। अतो नातिवदति। किंचाऽऽत्मक्रीड आत्मन्येव च क्रीडा क्रीडनं यस्य नान्यत्र पुत्रदारादिषु स आत्मक्रीडः। तथाऽऽत्मरतिरात्मन्येव च रती रमणं प्रीतिर्यस्य स आत्मरतिः। क्रीडा बाह्यसाधनसापेक्षा। रतिस्तु साधननिरपेक्षा बाह्यविषयप्रीतिमात्रमिति विशेषः। तथा क्रियावाञ्ज्ञानध्यानवैराग्यादिक्रिया यस्य सोऽयं क्रियावान्। समासपाठ आत्मरतिरेव

आत्मनि रतिरात्मरतिस्तत्पुरुषः सैव क्रियाऽस्यास्तीत्यात्मरतिक्रियावानिति मतुबेवैकः प्रतीयते कथमुक्तं बहुव्रीहिमतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यत इति। सत्यमसमासपाठे द्वयोरर्थवत्त्वमासीत्समासपाठे

दीखता ही नहीं है तब भला वह तत्त्ववेत्ता किसे अतिक्रमण करके बोलेगा? जिसे अपने से भिन्न दीखता है, वही उस भिन्न वस्तु का अतिक्रमण करके बोलता है, किन्तु यह विद्वान् अपने से भिन्न वस्तु को न देखता है, न स्वात्मभिन्न वस्तु को सुनता है और न जानता ही है। अतः वह आत्मवादी नहीं है। तात्पर्य यह है कि उसका बोलना आत्मा के विषय में ही होता है, अन्य वस्तु के विषय में नहीं। जब आत्मभिन्न वस्तु उसे दीखती ही नहीं, तो उसके विषय में वह कैसे बोल सकेगा?

इतना ही नहीं, वह आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला है, अन्य पुत्रदारादि में क्रीड़ा नहीं करता। इसीलिये उसे आत्मक्रीड कहते हैं। वैसे ही वह तत्त्वज्ञानी आत्मा में ही रति अर्थात् प्रीति वाला है। इसीलिये उसे आत्मरति कहा गया है। बाह्य साधनों की अपेक्षा करके क्रीड़ा होती है; किन्तु रति बाह्य साधनों की अपेक्षा बिना ही होती है अर्थात् बाह्य विषय में प्रीति मात्र को रति कहते हैं। और उन विषयों में विशेष व्यापार को क्रीड़ा कहते हैं। यही क्रीड़ा और रति शब्द के अर्थ में भेद है। वैसे ही ज्ञान, ध्यान, वैराग्य आदि क्रिया वाले को क्रियावान् कहते हैं।

१. इत्थंभूतलक्षणे तृतीयेति तथा च सर्वभूतज्ञाप्यविभानविशिष्ट इत्यर्थः। २. विजानन्निति—विजानातीत्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रियाऽस्य विद्यत इति बहुव्रीहिमतुबर्थयोरन्यतरोऽतिरिच्यते[1]। केचित्त्वग्निहोत्रादिकर्मब्रह्मविद्ययोः[2] समुच्चयार्थमिच्छन्ति। [3]तच्चैष ब्रह्मविदां वरिष्ठ इत्यनेन [4]मुख्यार्थवचनेन विरुध्यते। [5]न हि बाह्य[6]क्रियावानात्मरतिश्च भवितुं शक्तः कश्चिद्बाह्यक्रियाविनिवृत्तो ह्यात्मक्रीडो भवति बाह्यक्रियात्मक्रीडयोर्विरोधात्। न हि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः संभवति। तस्मादसत्प्रलपितमेवैतदनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनम्। "[7]अन्या वाचो विमुञ्चथ" "[8]संन्यासयोगात्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। [9]तस्मादयमेवेह क्रियावान्यो ज्ञानध्यानादिक्रियावान्सोऽभिन्नार्थमर्यादः संन्यासी य एवंलक्षणो नातिवाद्यात्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्ब्रह्मनिष्ठः स ब्रह्मविदां सर्वेषां वरिष्ठः प्रधानः ॥४॥

त्वन्यतरो मतुबतिरिच्यते विशिष्यते [10]बाह्यक्रियानिवृत्तिलाभादित्यर्थः। एकदेशिव्याख्यामुद्भाव्य निराचष्टे—केचित्त्वित्यादिना। अनेन वचनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिपादनं क्रियत इत्येतदसत्प्रलपितमेवेति योजना ॥४॥

आत्मरति और क्रियावान् इन दोनों पदों का समास मान लेने पर आत्मरति ही इस तत्त्ववेत्ता की क्रिया है। ऐसा अर्थ करने पर वान् प्रत्यय का कोई प्रयोजन नही रह जाता है। अतः या तो बहुव्रीहि समास माना जाय या क्रियापद से मतुप् प्रत्यय किया जाय दोनों में से एक को रखना होगा और दूसरा निरर्थक हो जायेगा। असमस्त पाठ पक्ष में मतुप् प्रत्यय की सार्थकता है किन्तु समस्त पाठ में मतुप् प्रत्यय निरर्थक हो जाता है। अर्थात् आत्मरति इस पद में बहुव्रीहि समास है, इससे भिन्न क्रियावान् पद स्वतंत्र है, दोनों का समास नहीं है। इस प्रकार दोनों की सार्थकता हो जाती है। किन्तु समास पाठ में मतुप् प्रत्यय विशेष दिखायी पड़ता है। लाभ यह कि उस तत्त्वज्ञानी में आत्म प्रीति से अतिरिक्त क्रिया निवृत्ति अर्थ का बोध होता है।

कुछ लोग उक्त दोनों पदों को स्वतन्त्र मानकर अग्निहोत्रादि कर्म तथा ब्रह्मविद्या का समुच्चय मानते हैं। वह आत्मरति भी है और साथ ही साथ अग्निहोत्रादि क्रियावाला भी है। किन्तु यह अर्थ 'एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इस मुख्य अर्थ वाले वचन से विरुद्ध पड़ता है। ऐसा ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने वाला पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि बाह्यार्थ में क्रीड़ा और

१. अतिरिच्यत इति अधिको भवति निष्फलो व्यर्थो भवतीति यावत्। २. इच्छन्ति समासपाठमित्यादिः। समुच्चयरूपमर्थमिच्छतीति वार्थः। ३. तच्चेति—यथोक्तं समुच्चयवादिनां मतं चेत्यर्थः। ४. विशेष्यसमर्पकवाक्येनेत्यर्थः। यद्वा प्रधानत्वबोधकेन तेनेत्यर्थः। ५. विरोधमेव व्यनक्ति—न हीत्यादिना। ६. बाह्यक्रियावान्। ७. मु० उ० २-२-५। ८. मु० उ० ३-२-६ संन्यासेत्यादि—अनेन सत्त्वशोधनेऽपि कर्मानादरपूर्वकं संन्यासस्यैव प्रयोजकत्वसूचनादिति भावः। ९. तस्मादिति क्रियान्तरासंभवादित्यर्थः। १०. बाह्येत्यादि—मतुपं विना बहुव्रीहिणैवेति शेषः। यद्वा अतिरिच्यत इत्यस्य उत्कृष्यत इत्यर्थः तत्र हेतुर्बाह्येत्यादिः। ननु आत्मरतिरेव क्रियेति कर्मधारयादेव बाह्यक्रियानिवृत्तिलाभो न तु मतुपेति कथं तदुत्कर्षे तद्धेतुरिति चेत्तदा तत्पुरुषकर्मधारयघटितमतुबन्तं पदमतिरिच्यत इत्यर्थं गृहाण। नन्वत्रापि किमपेक्ष्यातिरेचनमिति चेत् केवलमतुबन्ताद्वा तत्पुरुषद्वन्द्वघटिततदन्ताद्वा बहुव्रीहिकर्मधारयघटिततदन्ताद्वेति निश्चिनु बाह्यक्रियानिवृत्तेरुत्कृष्टत्वेनोक्तपदैकलभ्यत्वादिति। ननु यदर्थलाभो बहुव्रीहिणा स एव मतुपा चेत्कुतोऽन्यतरकरणेऽन्यतरातिरेक इति त्वनाशङ्कनीयं न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकर इति न्यायेन बहुव्रीहिरेव न्यायस्त्वात्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

[यह आत्मा सदा मिथ्या भाषण के त्यागरूप सत्य, मन और इन्द्रियों की एकाग्रतारूपी तप, यथार्थ आत्मदर्शन तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। जिस आत्मा को दोष रहित यत्नशील संन्यासी देखते हैं, वह प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर (हृदयाकाश में) रहता है ॥५॥]

अधुना सत्यादीनि भिक्षोः सम्यग्ज्ञानसहकारीणि साधनानि विधीयन्ते निवृत्तिप्रधानानि। सत्येनानृतत्यागेन मृषावदनत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्यः। किंच तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मरणात्। तद्धचनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात्परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि। एष आत्मा लभ्य इत्यनुषङ्गः सर्वत्र। [1]सम्यग्ज्ञानेन [2]यथाभूतात्मदर्शनेन ब्रह्मचर्येण मैथुनासमाचारेण। नित्यं सर्वदा नित्यं सत्येन नित्यं तपसा नित्यं सम्यग्ज्ञानेनेति सर्वत्र नित्यशब्दोऽन्तर्दीपिकान्यायेनानुषक्तव्यः। [4]वक्ष्यति च—"न येषु जिह्ममनृतं न माया च" इति। कोऽसावात्मा य एतैः

सम्यग्ज्ञानसहकारीणीति। अत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविषयावगतिफलावसानं वाक्यार्थज्ञान-

आत्मा में रति ये दोनों विरुद्ध बात एक साथ एक व्यक्ति में हो नहीं सकतीं। अतः कोई भी व्यक्ति बाह्य क्रिया से सर्वथा निवृत्त होने पर ही आत्मक्रीड़ हो सकता है; क्योंकि बाह्य क्रिया और आत्मक्रीड़ा में परस्पर विरोध है जैसे अन्धेरा और प्रकाश एक साथ एक स्थान में नहीं रह सकते। अतः उक्त वाक्य से ज्ञान-कर्म-समुच्चय का प्रतिपादन करना मिथ्या प्रलाप ही माना जायेगा। 'अन्य बातों को छोड़ दें' 'संन्यास योग से आत्मतत्त्व को जानता है।' इत्यादि श्रुतियों से ज्ञानकर्म समुच्चय का स्पष्ट निषेध किया गया है। अतः यहाँ पर क्रियावान् शब्द का यही अर्थ किया जायेगा, जो ज्ञान-ध्यान आदि क्रियावाला है और जो आर्य मर्यादा का उलंघन नही करता ऐसा जो संन्यासी है—वही अतिवादी नहीं होता क्योंकि वह आत्मक्रीड़ है। आत्मरति, ज्ञान, ध्यान आदि क्रियावान् और वही सभी ब्रह्म ज्ञानियों में वरिष्ठ यानो प्रधान है ॥४॥

अब भिक्षुक-साधकों के सम्यक्-ज्ञान के सहकारी रूप से निवृत्ति प्रधान सत्यादि साधनों का विधान करते हैं। मिथ्या भाषण का त्याग ही सत्य है। ऐसे अनृत के त्याग रूप सत्य से यह आत्मा प्राप्ति के योग्य है। 'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को ही श्रेष्ठ तप कहा गया है इस स्मृति वाक्य से इन्द्रियों और मन की एकाग्रता को तप कहा गया है। क्योंकि यही तप आत्मदर्शनाभिमुख करने में श्रेष्ठ अनुकूल साधन कहा गया है। इससे भिन्न चान्द्रायण आदि व्रत आत्मदर्शन के अनुकूल नहीं हैं। प्रत्युत शारीरिक कष्ट प्रद होने के कारण मानसिक विक्षेप के हेतु हैं। अतः वे आत्म दर्शन के प्रतिकूल हैं। ऐसे

१. सहकार्यं समर्पयति—सम्यग्ज्ञानेनेति। २. तद्व्याचष्टे तथेत्यादिना। ३. अन्तर्दीपिकेति यथा गृहोदरवर्ति दीपिकाऽऽलोकस्तत्स्थैः सर्वैर्घटादिवस्तुभिः सम्बध्यते तद्वत्साधनार्थकवाक्यान्तर्वर्तिनित्यशब्दः साधनार्थैः सर्वैः पदैः संबध्यत इत्यर्थः। ४. प्रश्न० उ० १-१६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साधनैर्लभ्य इत्युच्यते । अन्तःशरीरेऽन्तर्मध्ये शरीरस्य पुण्डरीकाकाशे ज्योतिर्मयो हि रुक्मवर्णः शुभ्रः शुद्धो यमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्ते यतयो यतनशीलाः संन्यासिनः क्षीणदोषा क्षीणक्रोधादिचित्तमलाः स आत्मा नित्यं सत्यादिसाधनैः संन्यासिभिर्लभ्यत इत्यर्थः । न कादाचित्कैः सत्यादिभिर्लभ्यते । [1]सत्यादिसाधनस्तुत्यर्थोऽयमर्थवादः ॥५॥

मुच्यते । [2]अवगतिफलस्य स्वकार्येऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षासंभवात् । अतोऽपरिपक्वज्ञानस्य सत्यादीनां च परिपक्वविद्यालाभाय समुच्चय इष्यत एव । नैतावता भास्कराभिमतसिद्धिः । परिपक्वविद्यायाः सहकार्यपेक्षायां मानाभावात् । ततः [3]कर्मासंश्लेषश्रवणाद्देवादीनां कर्मविहीनानां मुक्तिश्रवणाच्चेति ॥५॥

ही तपसे यह आत्मा प्राप्त करने योग्य है 'एष आत्मा लभ्यः' इसका अन्वय सभी साधनों के साथ करना चाहिये । आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसे ही दर्शन को सम्यक् ज्ञान कहते हैं । अष्टधा मैथुन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं । ऐंसे सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से आत्मा प्राप्त करने योग्य है। नित्य पद का अर्थ सर्वकाल होता है । सार्वकालिक सत्य भाषण, सार्वकालिक तप, सार्वकालिक सम्यक् ज्ञान एवं सार्वकालिक ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्त होता है । इस प्रकार अन्तर-दीपिका न्याय से नित्य शब्द का अन्वय सर्वत्र कर लेना चाहिये । 'जिन पुरुषों में कुटिलता, झूठ और कपट नहीं है,' ऐसा प्रश्नोपनिषद् में आगे कहेंगे। इन साधनों से जो आत्मा प्राप्त किया जाता है, वह कौन-सा है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—कि शरीर के मध्यवर्ती हृदयाकाश में स्वर्ण के समान अत्यन्त शुद्ध ज्योतिर्मय पुरुष ही आत्मा है । जिस आत्मा को क्रोध आदि मानसिक विकार के रहित प्रयत्नशील संन्यासी ही उपलब्ध करते हैं। वह आत्मा सार्वकालिक सत्यभाषणादि साधनों से ही संन्यासियों द्वारा ही प्राप्त किया जाता है; न कि कादाचित्क सत्यादि साधनों से प्राप्त होता है; यह अर्थवाद सत्यादि साधनों की स्तुति के लिये है । क्योंकि अपरिपक्व ज्ञानवाले पुरुष के लिये सत्यादि साधन अवश्य सहकारी हैं। परिपक्व विद्या को सहकारी की अपेक्षा होती ही नहीं है । इसीलिये ज्ञानियों में कर्म का असंश्लेश (अलेप) कहा गया है ॥५॥

सत्यवादी ही विजय को प्राप्त होता है; मिथ्यावादी नहीं । अतः सत्य का अर्थ सत्यवादी और अनृत का अर्थ मिथ्यावादी भाष्यकार ने किया है । क्योंकि पुरुष के आश्रय न लेने वाले स्वतन्त्र रूप से सत्य और मिथ्या की जय अथवा पराजय होती ही नहीं । सत्यवादी से मिथ्यावादी परास्त हो जाता है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है; उसके विपरीत नहीं होता अर्थात् मिथ्यावादी से सत्यवादी की पराजय लोक में नहीं सुनी गयी है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्य श्रेष्ठ सबल साधन है । शास्त्र से भी सत्य में श्रेष्ठसाधनत्व जान पड़ता है । कैसे ? क्योंकि यथार्थ भाषण व्यवस्थारूप सत्य से देवयान मार्ग विस्तृत होता है, यानी सदा प्रवृत्त होता है । जिस देवयान मार्ग से तत्त्वदर्शी ऋषि उस परतत्त्व को प्राप्त करते हैं, जो परवंचना-रूप कुहक विपरीत अर्थ प्रकाशन रूप माया, वैभव के अनुसार दान न देना रूप शठता, मिथ्याभिमान रूप अहंकार, धर्म ध्वजिपन रूप दंभ, अनुभव के विरुद्ध भाषण रूप

---

१. सत्यादीति—अत्र सत्य साधनेति पाठो लिखितपुस्तके युक्तश्चासौ सत्यमेवेत्यादिमन्त्रावतारिका हीयमित्यवधेयम् ।
२. अवगतिफलस्य—अपक्वज्ञानफलस्य साक्षात्कारस्येत्यर्थः । ३. कर्मेति—यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते—इत्यश्लेषश्रवणादित्यर्थः । यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति देवमुक्तिश्रवः । बृ० ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

[सत्यवादी ही विजय को प्राप्त करता है मिथ्यावादी नहीं, सत्य भाषण से देवयान मार्ग विस्तीर्ण होता है, जिस मार्ग के द्वारा पूर्णकाम ऋषिलोग उस पद को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह सत्य का उत्कृष्ट निधान विद्यमान है ॥६॥]

सत्यमेव सत्यवानेव जयति नानृतं नानृतवादीत्यर्थः। न[1] हि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोर्जयः पराजयो वा संभवति । प्रसिद्धं लोके सत्यवादिनाऽनृतवाद्यभिभूयते न विपर्ययोऽतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम् । किंच शास्त्रतोऽप्यवगम्यते सत्यस्य साधनातिशयत्वम् । कथम् । सत्येन [2]यथाभूतवादव्यवस्थया पन्था देवयानाख्यो विततो विस्तीर्णः [3]सातत्येन प्रवृत्तः । येन पथा ह्याक्रमन्ति क्रमन्त ऋषयो [4]दर्शनवन्तः कुहकमायाशाठ्याहंकारदम्भानृतवर्जिता ह्याप्तकामा विगततृष्णाः सर्वतो [5]यत्र यस्मिंस्तत्परमार्थतत्त्वं सत्यस्योत्तमसाधनस्य संबन्धि [6]साध्यं परमं प्रकृष्टं निधानं पुरुषार्थरूपेण [7]निधीयत इति निधानं वर्तते । तत्र च येन पथाऽऽक्रमन्ति स सत्येन वितत इति पूर्वेण संबन्धः ॥६॥

कुहकं परवञ्चनम् । अन्तरन्यथा गृहीत्वा बहिरन्यथा प्रकाशनं माया । शाठ्यं विभवानुसारेणाप्रदानम् । अहंकारो मिथ्याभिमानः । दम्भो धर्मध्वजित्वम् । अनृतमयथादृष्ट[8]भाषणम् । एतैर्दोषैर्वर्जिता इत्यर्थः ॥६॥

अनृत, ऐसे दोषों से रहित हैं एवं तृष्णाशून्य आप्तकाम पुरुष उस पद में आरूढ़ होते हैं, जहाँ पर परमार्थतत्त्व उत्तम साधन रूप सत्य का सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ निधान रहता है। पुरुषार्थ रूप से जिसका निधान किया जाता है उसी को निधान कहते हैं। इस प्रकार जिस देवयान मार्ग से परम दिव्य स्थान को साधक प्राप्त करते हैं, वह सत्य से ही विस्तृत हो रहा है। ऐसा पूर्व वाक्य के साथ इसका सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥६॥

वह ब्रह्म क्या है ? और किस धर्म वाला है ? इस पर कहते हैं—जिसकी प्राप्ति के साधन सत्यादि हैं, और जिसका प्रसंग चल रहा है, वह प्रकृत ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने के कारण बड़ा है यानी महान् है। वह स्वयं-प्रकाश इन्द्रियों का अविषय है। अतएव उसका चिंतन नहीं हो सकता—क्योंकि

---

१. लक्षणावीजं वक्ति—न हीत्यादिना । २. यथाभूतवादव्यवस्थया सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः इत्येवं रूपया व्यवस्थयेत्यर्थः । ३. सत्यवद्भिरेव सततं क्षुण्ण इत्यर्थः । न कदाचिदप्यनृतिभिरिति । ४. उपासका इत्यर्थः । ५. यत्र ब्रह्मलोकादिस्थान इति निधानस्य हिरण्यगर्भार्थपक्षेऽर्थः—परार्थपक्षे तु साधनत्वसम्बन्धेन सत्य इत्यर्थः । ६. सम्बन्धं स्फुटयति—साध्यमिति ।
७. निधीयते इति धन इव निबद्धानिपुरुषार्थरूपेणेत्यर्थः । ८. दृष्टेति—तत्त्वं च शास्त्रतः प्रत्यक्षतो वा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

[वह प्रकृत ब्रह्म महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है, वह आकाशादि वस्तुओं से भी सूक्ष्मतर भासता है और वह अविवेकियों के लिये दूर से भी दूर तथा विवेकियों के लिये अत्यन्त समीप इसी देह में विद्यमान है। वह चेतन प्राणियों में इस देह के भीतर उनके बुद्धिरूप गुफा में छिपा हुआ विद्वानों को दिखाई देता है ॥७॥]

[1]किं तत्किंधर्मकं च तदित्युच्यते—बृहन्महच्च तत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यादिसाधनं सर्वतोव्याप्तत्वात्। दिव्यं स्वयंप्रभमनिन्द्रियगोचरमत एव न चिन्तयितुं शक्यतेऽस्य रूपमित्यचि[2]न्त्यरूपम्। सूक्ष्मादाकाशादेरपि तत्सूक्ष्मतरं निरतिशयं हि सौक्ष्म्यमस्य सर्वकारणत्वाद्विभाति विविधमादित्यचन्द्राद्याकारेण भाति दीप्यते। किंच दूराद्विप्रकृष्टदेशात्सुदूरे विप्रकृष्टतरे देशे वर्ततेऽविदुषामत्यन्तागम्यत्वात्तद्ब्रह्म। इह देहेऽन्तिके समीपे च विदुषामात्मत्वात् सर्वान्तरत्वाच्चाऽऽकाशस्याप्य[3]न्तरश्रुतेः। इह पश्यत्सु चेतनावत्स्वित्येतन्निहितं स्थितं दर्शनादिक्रियावत्त्वेन योगिभिर्लक्ष्यमाणम्। क्व गुहायां बुद्धिलक्षणायाम्। तत्र हि निगूढं लक्ष्यते विद्वद्भिः। तथाऽप्यविद्यया संवृतं सन्न लक्ष्यते विद्वद्भिः ॥७॥

सत्यस्य निधानं यदुक्तं तत्पुनर्विशेष्यत इत्याह—किं तत्किंधर्मकं च तदिति ॥७॥

वह अचिंत्य रूप है। आकाशादि सूक्ष्म पदार्थ से भी वह अत्यन्त सूक्ष्म है, क्योंकि इस ब्रह्म में निरतिशय सूक्ष्मता है। वह सबका कारण होने से आदित्य-चन्द्रादि विविध रूप में प्रतीत हो रहा है और दूर देश से भी अत्यन्त सुदूर प्रदेश में रहता है, क्योंकि अज्ञानियों के लिये वह अत्यन्त अगम्य है। फिर भी विद्वानों को आत्मरूप से प्रतीत होने के कारण अत्यन्त समीप इस देह में ही वह ब्रह्म है। सर्वान्तर होने के कारण आकाश के भी भीतर ब्रह्म विद्यमान है, ऐसा श्रुति कहती है। यहाँ पर चेतनावान् प्राणियों में (दर्शनादि क्रिया वाले के रूप में योगियों के द्वारा यह ब्रह्मतत्त्व स्थित देखा गया है। कहाँ पर स्थित है?—इसका उत्तर श्रुति देती है कि बुद्धिरूप गुहा में स्थित है। यद्यपि तत्त्वज्ञानियों द्वारा बुद्धि रूप गुफा में वह ब्रह्म लक्षित होता है तथापि अविद्या से आवृत्त अन्तःकरण में वहाँ स्थित हुआ भी ब्रह्म अज्ञानियों को नहीं दीखता ॥७॥

उस ब्रह्म की उपलब्धि के असाधारण साधन फ़िर से कहे जाते हैं। क्योंकि निरूप होने के कारण वह ब्रह्म किसी भी पुरुष से आँख के द्वारा गृहीत नहीं होता। और अवाच्य होने के कारण वाणी से भी गृहीत नहीं होता, वैसे ही अन्य इन्द्रियों से भी वह नहीं जाना जाता है। सम्पूर्ण-फल-प्राप्ति के साधन रूप तप से भी वह गृहीत नहीं होता। और जिसका महत्त्व अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऐसे अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों द्वारा भी वह ब्रह्म गृहीत नही होता। फिर उस ब्रह्म के ग्रहण का साधन क्या है? इस पर श्रुति कहती है कि विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस निराकार—निष्कल परमात्मा

१. किं तद्धितकिं स्वरूपमित्यर्थः। २. अचिन्त्यरूपमिति मनोऽगोचरमित्यर्थः। ३. अन्तरश्रुतेरिति य आकाशमन्तरो यमयतीति श्रुतेरित्यर्थः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

[यह आत्मा नीरूप होने के कारण) नेत्र से नहीं देखा जाता, (अवाच्य होने के कारण) न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से, न तप या वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म से ही गृहीत होता है । किन्तु जब बुद्धि की स्वच्छता से पुरुष विशुद्ध अन्तःकरणवाला होता है तभी वह ध्यान करता हुआ उस निरवयव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है ॥८॥]

पुनरप्यसाधारणं तदुपलब्धिसाधनमुच्यते ।[1] यस्मान्न चक्षुषा गृह्यते [2]केनचिदप्यरूपत्वान्नापि गृह्यते वाचाऽनभिधेयत्वान्न चान्यैर्देवैरितरेन्द्रियैः । तपसः [3]सर्वप्राप्तिसाधनत्वेऽपि न तपसा गृह्यते । तथा वैदिकेनाग्निहोत्रादिकर्मणा प्रसिद्धमहत्त्वेनापि न गृह्यते । किं पुनस्तस्य ग्रहणे साधनमित्याह—ज्ञानप्रसादेनाऽऽत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं संनिहितमप्यात्मतत्त्वं मलावनद्धमिवाऽऽदर्शम्[4] । [5]विलुलितमिव सलिलम् । तद्यदेन्द्रियविषयसंसर्गजनितरागादिमलकालुष्यापनयनादादर्शसलिलादिवत्प्रसादितं स्वच्छं शान्तमवतिष्ठते तदा ज्ञानस्य प्रसादः स्यात् । तेन ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वो विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते [6]पश्यत्युपलभते निष्कलं सर्वावयवभेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनवानुपसंहृतकरण एकाग्रेण मनसा ध्यायमानश्चिन्तयन् ॥८॥

ज्ञानप्रसादेनेति । अत्र ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या बुद्धिरुच्यते । ध्यायमानो ज्ञानप्रसादं लभते । ज्ञानप्रसादेनाऽऽत्मानं पश्यतीति क्रमो द्रष्टव्यः । संशयादिमलरहितस्य [7]प्रमाणज्ञानस्यैव तत्त्वसाक्षात्कारहेतुत्वाद्ध्यानक्रियायाः प्रमितिसाधनत्वाप्रसिद्धेरित्यर्थः ॥८॥

का चिंतन करता हुआ ज्ञान के प्रसाद से उसे प्रत्यक्ष अनुभव करता है । आत्मा को जानने में सभी प्राणियों का ज्ञान समर्थ होता हुआ भी स्वभाव से बाह्य विषय के रागादि दोष के कारण कलुषित हो रहा है । अतः वह ज्ञान अप्रसन्न है, अर्थात् अशुद्ध है । इसीलिये सदा सन्निहित भी आत्मतत्त्व को भी वह मलिन ज्ञान वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे मल से ढके हुये दर्पण के द्वारा मुख का प्रतिबिंब गृहीत नहीं होता, और जैसे चंचल जल में मुखप्रतिबिंब गृहीत नहीं होता ।

---

१. ननु साधारणैरेवोपलब्धिसाधनैस्तदुपलब्धिर्भविष्यति किमित्यसाधारणं तदुच्यते अत आह यस्मादिति यस्माच्चक्षुरादिभिर्न गृह्यते तस्मादसाधारणं तद्वक्तव्यमिति भावः । २. मनुष्यचक्षुषाऽग्राह्यं तद्देवचक्षुषा ग्रहीष्यत इति मा शङ्कीत्याह केनचिदपीति मनुष्येण देवादिनापि चेत्यर्थः । ३. सर्वेत्यादि तपो हि दुरतिक्रममित्यादिवचनादिति भावः । ४. आर्शमिति दर्पणमुकुरादर्शावित्यमरेणास्य क्लीबत्वं नेष्टम् । ५. विलुलितमालोडितम् । ६. पश्यतीति मा चाक्षुषं ग्राहिज्ञानमित्याह— उपलभत इति साक्षादनुभवतीत्यर्थः । ७. प्रमाणज्ञानस्येति परोक्षस्येत्यर्थः, अन्यथा साक्षात्काराऽभिन्नत्वेन हेतुहेतुमद्भावानुपपत्तिः । यद्वा साक्षात्कारस्य भग्नावरणचिदर्थत्वेऽपरोक्षस्यैवेत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥

[यह सूक्ष्म आत्मा (इस शरीर के भीतर ही) चित्त से जानने योग्य है, जिसमें प्राणापानादि भेद से पाँच प्रकार का प्राण प्रविष्ठ है । इन्द्रियों के सहित प्राण से प्रजावर्ग के सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं । (क्योंकि लोक में प्रजा के सभी अन्तः करण चेतनयुक्त प्रसिद्ध हैं) जिस चित्त के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा अपने विशेष रूप से प्रकाशित होने लग जाता है ॥९॥]

यमात्मानमेवं पश्यत्येषोऽणुः सूक्ष्मश्चेतसा विशुद्धज्ञानेन केवलेन वेदितव्यः । क्वासौ । यस्मिञ्शरीरे प्राणो वायुः पञ्चधा प्राणापानादिभेदेन संविवेश सम्यक्प्रविष्टस्तस्मिन्नेव शरीरे हृदये चेतसा ज्ञेय इत्यर्थः । कीदृशेन चेतसा वेदितव्य इत्याह—प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तं सर्वमन्तःकरणं प्रजानामोतं व्याप्तं [1]येन क्षीरमिव [2]स्नेहेन काष्ठमिवाग्निना । [3]सर्वं हि प्रजानामन्तःकरणं चेतनावत्प्रसिद्धं लोके । यस्मिंश्च चित्ते क्लेशादिमलवियुक्ते शुद्धे विभवत्येष उक्त आत्मा विशेषेण [4]स्वेनाऽऽत्मना भवत्यात्मानं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥९॥

बौद्धादेश्चित्तादौ चेतनत्वभ्रमदर्शनाच्चित्तं स्वस्मिन्स्वसंसर्गिणि च चैतन्याभिव्यञ्जकत्वे स्वभावत एव योग्यम् । ततश्चित्ते परमात्मनोऽभिव्यक्तिसंभवाच्चेतसा ज्ञेयत्वमुच्यत इति संभावनार्थमाह—प्राणैः सहेन्द्रियैश्चित्तमिति । [5]ओतं चैतन्येन सर्वस्व तर्हि चित्ते किमिति ब्रह्म स्वत एवापरोक्षं न भवतीत्यत आह—यस्मिंश्च चित्त इति ॥९॥

किन्तु जब इन्द्रिय और विषयों के संसर्ग से उत्पन्न रागादि मलरूप कालिमा का नाश हो जाता है, तब वह ज्ञान प्रसन्न माना जाता है । ऐसे ज्ञान के प्रसाद से साधक आत्मतत्त्व को वैसे ही देखता है, जैसे शुद्ध दर्पण और शुद्ध जल में मुख का प्रतिबिम्ब गृहीत होता है । रागादि मल के हट जाने पर वह ज्ञान जब स्वच्छ और शान्त हो जाता है तब ज्ञान का प्रसाद कहा जाता है । ऐसे स्वच्छ और शान्त ज्ञान द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण अधिकारी पुरुष ब्रह्म को देख पाता है । इसीलिये श्रुति में कहा है कि सम्पूर्ण अवयव विषय से रहित निष्कल परमात्मा का ध्यान करने वाला सत्यादि साधनयुक्त उपरतइन्द्रियग्राम पुरुष एकाग्र मन से चिंतन करता हुआ परमात्माका अपरोक्ष अनुभव करता है । ज्ञान शब्द का अर्थ बुद्धि है, उसकी स्वच्छता का साधन है—परमात्मा के स्वरूप का ध्यान । अतः संशयादि दोष से रहित प्रमाणज्ञान ही ब्रह्मतत्त्व साक्षत्‌कार का हेतु है; ध्यानक्रियातत्त्व साक्षात्कार का अन्तरंग हेतु नहीं है । वह तो केवल अन्तःकरण शुद्धिका कारण है; यह इसका तात्पर्यार्थ है ॥८॥

इस प्रकार जिस आत्माको साधक देखता है यह आत्मा सूक्ष्म है; केवल विशुद्ध मन से जानने योग्य है । वह कहाँ रहता है ? इस पर कहते हैं जिस शरीर में प्राण-अपान आदि भेद से पाँच प्रकार का प्राण वायु सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट है । अर्थात् नख से शिखतक प्राण व्याप्त है । उस

१. येनेति चैतन्येनेत्यर्थः । २. स्नेहेन सर्पिषा । ३. तत्र प्रसिद्धिमनुकूलयति सर्वं हीत्यादिना । ४. स्वेनात्मनेति सच्चिदानन्दलक्षणेनेत्यर्थः । ५. यदि सर्वस्य चित्तं चैतन्येनोतं तर्हि सर्वस्य चित्ते किमितीत्यादि योज्यमपेक्षितमवहृत्याध्यर्त्य च ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥१०॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

[वह विशुद्ध अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी अपने या दूसरे के लिये मन से जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों को चाहता है, वह उस-उस पित्रादि लोक को ही और उन्हीं भोग को प्राप्त करता है । अतः ऐश्वर्यकाम पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे ॥१०॥]

॥ इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥

य एवमुक्तलक्षणं सर्वात्मानमात्मत्वेन प्रतिपन्नस्तस्य सर्वात्मत्वादेव सर्वावाप्तिलक्षणं फलमाह । यं यं लोकं पित्रादिलक्षणं मनसा संविभाति संकल्पयति मह्य[1]मन्यस्मै वा भवेदिति विशुद्धसत्त्वः क्षीणक्लेश आत्मविन्निर्मलान्तःकरणः कामयते यांश्च कामान्प्रार्थयते भोगांस्तं तं लोकं जयते प्राप्नोति तांश्च कामान्संकल्पितान्भोगान् । तस्माद्विदुषः सत्यसंकल्पत्वादात्मज्ञमात्मज्ञानेन [2]विशुद्धान्तःकरणं ह्यर्चयेत्पूजयेत्पादप्रक्षालनशुश्रूषानमस्कारादिभिर्भूतिकामो विभूतिमिच्छुः ॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

सगुणविद्याफलमपि निर्गुणविद्यास्तुतये प्ररोचनार्थमुच्यते—यं यमिति ॥१०॥

इत्यथर्ववेदीयमुण्डकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥१॥

शरीरस्थ हृदय में वह आत्मा मन से जानने योग्य है । कैसे मन से वह आत्मा जानने योग्य है ? इस पर श्रुति कहती है कि इन्द्रियों के सहित प्रजा के सम्पूर्ण अन्तःकरण जिस चेतन आत्मा से वैसे ही ओत-प्रोत हैं, जैसे घी से दुग्ध और जैसे अग्नि से काष्ठ व्याप्त है । क्योंकि प्रजा के संपूर्ण अन्तःकरण चेतनवान् है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है । साथ ही जिस चित्त में अविद्यादि क्लेशरूप मल नहीं है, ऐसे विशुद्ध चित्त में ही यह पूर्वोक्त आत्मा विशेषतः अपने रूप से प्रकाशित होता है अर्थात् सर्वथा क्लेशादि मल से रहित शुद्ध अन्तःकरण ही आत्मा को प्रकाशता है । तात्पर्य यह कि कर्म, उपासना और ब्रह्मध्यान आदि साधनों से शुद्ध अन्तःकरण में ही परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है, मलिन अन्तःकरण में नहीं ॥९॥

इस प्रकार उक्त लक्षणवाले सर्वात्मा को जिसने आत्मरूप से जान लिया है, उसे सर्वभाव की प्राप्तिरूप फल मिलता है । क्योंकि परमात्मा सबकी आत्मा है, उसी सर्वात्मा को जिसने आत्मभाव से अपरोक्ष कर लिया है, उसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति स्वभाव से हो जाती है । इस प्रकार निर्गुण विद्याकी स्तुति द्वारा निर्गुण विद्या में प्रवृत्ति कराने के लिये सगुण विद्या का फल भी श्रुति बतलाती है, कि पितृ आदि रूप जिस-जिस लोक का मन से मुझे प्राप्त होवे ऐसा संकल्प यानी विशुद्ध-अन्तःकरण क्षीण-क्लेश

---

१. अन्यस्मै स्वभक्तायेत्यर्थः । २. विशुद्धान्तः करणम्—आत्मज्ञानैकभासुरमिति भावः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

[वह आत्मज्ञानी उस परब्रह्म को जानता है जो सम्पूर्ण आधिदैविकादि जगत् का आश्रय है और शुद्ध रूप से प्रकाशित हो रहा । है ऐसे आत्मदर्शी पुरुष की जो निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे धीर पुरुष शरीर के कारण प्रसिद्ध इस शुक्र का अतिक्रमण कर जाते हैं । अर्थात् उन्हें फिर शरीर धारण करने के लिये योनि में जाना नहीं पड़ता, वे मुक्त हो जाते हैं] ॥१॥]

ततः पूजार्ह एवासौ यस्मात्स वेद जानातीत्येतद्यथोक्तलक्षणं ब्रह्म परममुत्कृष्टं धाम सर्वकामानामाश्रयमास्पदं यत्र यस्मिन्ब्रह्मणि धाम्नि विश्वं समस्तं जगन्निहितमर्पितं यच्च स्वेन ज्योतिषा भाति शुभ्रं शुद्धम् । तमप्येवमात्मज्ञं पुरुषं ये ह्यकामा विभूतितृष्णा-वर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते [1]परमिव सेवन्ते ते शुक्रं नृबीजं यदेतत्प्रसिद्धं शरीरोपादा-नकारणमतिवर्तन्त्यतिगच्छन्ति धीरा धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति "न पुनः क्वचिद्रतिं करोति" इतिश्रुतेः । अतस्तं पूजयेदित्यभिप्रायः ॥१॥

॥१॥

आत्मज्ञानी जिन-जिन भोगों की कामना करता है उन संकल्पित भोगों और उन-उन लोकों को सहज ही प्राप्त कर लेता है; क्योंकि विद्वान् सत्य संकल्प होता है । अतः आत्मज्ञान द्वारा सर्वथा शुद्ध अन्तः-करणवाले आत्मज्ञानी की पादप्रक्षालन, शुश्रूषा, नमस्कार आदि द्वारा विभूति को चाहनेवाला पुरुष अवश्य पूजन करे । इससे यह सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञानी निसंदेह सबका पूजा-पात्र होता है । पूजा से उसे प्रसन्न कर लेने पर ऐहिक और आमुष्मिक यथेष्ट भोगों को ऐश्वर्य के इच्छुक पुरुष सहज में प्राप्त कर लेता है ॥१०॥

❋ तृतीय मुण्डक द्वितीय खण्ड ❋

क्योंकि संपूर्ण इच्छाओं का एकमात्र आश्रय, सर्वोत्कृष्ट यथोक्तलक्षण ब्रह्मधाम को कहा गया है । जिस ब्रह्मधाम में संपूर्ण जगत् निहित यानी अर्पित है, और जो स्वयं प्रकाश होने से अत्यन्त शुद्ध प्रतीत होता है । इस ब्रह्म को वह तत्त्वज्ञानी जानता है । इस प्रकार आत्मस्वरूप परमात्मतत्त्व को जानने वाले उस आत्मज्ञानी की इस लोक और परलोक की संपूर्ण विभूतियों की तृष्णा का परित्याग करके जो मुमुक्षु उसे परमेश्वर के समान उपासना करते हैं; वे धीर पुरुष शरीर के उपादान कारण इस प्रसिद्ध शुक्र यानी देह के कारण नृबीज को अतिक्रमण कर जाते हैं । तात्पर्य यह है कि वे भी तत्त्वज्ञानी होकर पुनर्योनि को प्राप्त नहीं करते । 'वह फिर कहीं रति नहीं करता' इह श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है । अतः मोक्षाभिलाषी तत्त्वज्ञानी की पूजा करे । यह इसका अभिप्राय है ॥१॥

मोक्षाभिलाषी को संपूर्ण कामनाओं का त्याग करना चाहिये । कामना का त्याग ही उसके लिये प्रधान साधन है । इस बात को आगे का मंत्र बतलाता है । जो पुरुष इस लोक और परलोक के अभीष्ट

---

१. परमिवेति-ब्रह्मेवेत्यर्थः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

[जो पुरुष (दृष्टादृष्ट) विषयों के गुणों का चिन्तन करता हुआ उनकी इच्छा करता है वह उन कामनाओं के कारण उनकी प्राप्ति के लिए जहाँ-तहाँ जन्म लेता है। किन्तु (परमार्थतत्त्व के विज्ञान से) पूर्णकाम, कृतकृत्य पुरुष की सभी कामनाएँ इसलोक में ही लीन हो जाती हैं ॥२॥]

मुमुक्षोः कामत्याग एव प्रधानं साधनमित्येतद्दर्शयति । कामान्यो दृष्टादृष्टेष्टविषयान्कामयते मन्यमानस्तद्गुणांश्चिन्तयानः प्रार्थयते स तैः कामभिः कामैर्धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतुभिर्विषयेच्छारूपैः सह जायते तत्र तत्र । [1]यत्र यत्र विषयप्राप्तिनिमित्तं कामाः कर्मसु पुरुषं नियोजयन्ति तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु तैरेव कामैर्वेष्टितो जायते । यस्तु परमार्थतत्त्वविज्ञानात्पर्याप्तकाम आत्मकामत्वेन परि समन्तत आप्ताः कामा यस्य तस्य पर्याप्तकामस्य कृतात्मनो[2]ऽविद्यालक्षणाद[3]पररूपाद[4]पनीय स्वेन परेण रूपेण कृत आत्मा विद्यया यस्य तस्य कृतात्मनस्त्विहैव तिष्ठत्येव शरीरे सर्वे धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतवः प्रविलीयन्ति विलयमुपयान्ति नश्यन्तीत्यर्थः । कामास्तज्जन्म[5]हेतुविनाशान्न जायन्त इत्यभिप्रायः ॥२॥

परमार्थतत्त्वविज्ञानादिति । विषयेषु यथास्थितदोषदर्शनात्पर्याप्तकामः क्षीणरागो [6]'विरुद्धलक्षणयाऽऽ[7]त्मकामस्याऽऽत्मबुभुत्सयैव वशीकृतचित्तस्य विषयेभ्यः कामा निवृत्ता एव भवन्तीत्यर्थः । [8]'सामर्थ्यादवगम्यते [9]'स्वहेतुविनाशात्पुनः कामा न जायन्त इति । [10]'जातानां ज्ञानं विनाऽपि क्षयसंभवादित्यर्थः ॥२॥

विषय-भोगों के गुणों का चिंतन करता हुआ कामना करता है, वह धर्म एवं अधर्म में प्रवृत्ति के हेतुभूत विषयों की इच्छा रूप कामनाओं के साथ उन-उन लोकों में तथा योनियों में जन्म लेता है; जहाँ-जहाँ विषय भोग की प्राप्ति की कामना वाले उस पुरुष को इच्छायें नियुक्त करती हैं अर्थात् कामना के वशीभूत हो उन कामनाओं की पूर्ति के लिये लौकिक तथा वैदिक कर्मों में इच्छायें उसे लगा देती हैं। उन कामनाओं से घिरा हुआ वह सांसारिक जीव उन-उन विषयों की प्रप्ति के लिये तदनुरूप लोक एवं शरीर में जन्म लेता है। किन्तु जो परमार्थतत्त्व के अपरोक्ष अनुभव से पूर्णकाम हो चुका है ऐसे कृतात्मा की संपूर्ण कामनायें इस वर्तमान शरीर में ही विलीन अर्थात् नष्ट हो जाती हैं; आत्मकामना से ही संपूर्ण कामनाओं की भली प्रकार से पूर्ति हो सकती है। इसलिये आप्तकाम पुरुष ही पर्याप्त काम कहा गया है। अविद्या लक्षण अपर रूप संसार से यानी देहत्रय से हटकर ब्रह्मस्वरूप निजरूप से तत्त्वज्ञान द्वारा जो कृतार्थ हो चुका है। उसे कृतात्मा कहते हैं। धर्म एवं अधर्म में प्रवृत्ति का एकमात्र

---

१. यत्र यत्रेति यद्यद्विषयप्राप्तर्थमित्यर्थः । २. अविद्यालक्षणादाविद्याकात् । ३. अपररूपादतात्त्विकरूपादित्यर्थः ।
४. अपनीयेति विविच्येति यावत् । ५. हेतुरविद्या । ६. विरुद्धेति-पर्याप्तस्य स्वविरुद्धक्षीणे लक्षणा तयेत्यर्थः ।
७. लक्षणाबीजमाह आत्मकामस्येत्यादिना । ८. ननु प्रविलीयन्तीति विनाशपदं न जायन्त इति जन्माभावपरं कुत इत्याशङ्क्याह—सामर्थ्यादवगम्यत इति । ९. किं तदाह स्वेत्यादिना । १०. सामर्थ्यं सामर्थयते जातानामित्यादिना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥३॥

[प्रकृति परमपुरुषार्थ के साधनभूत यह आत्मा वेद-शास्त्र के पुष्कल प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है और न ग्रन्थधारण शक्तिरूप मेधा से तथा अधिक शास्त्र श्रवण से ही मिल सकता है, किन्तु यह विद्वान् जिस परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है, उस से ही यह आत्मा लभ्य है । यह आत्मा उसके समक्ष अपनी अविद्या से आच्छन्न अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता ॥३॥]

यद्येवं सर्वलाभात्परम आत्मलाभस्तल्लाभाय[1] प्रवचनादय उपाया बाहुल्येन कर्तव्या इति प्राप्त इदमुच्यते । योऽयमात्मा व्याख्यातो यस्य लाभः परः पुरुषार्थो नासौ वेदशास्त्राध्ययनबाहुल्येन प्रवचनेन लभ्यः । तथा न मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । न बहुना श्रुतेन नापि भूयसा श्रवणेनेत्यर्थः । केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते ।यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान्वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन[2] साधनान्तरेण । नित्यलब्धस्वभावत्वात् । कीदृशोऽसौ विदुष आत्मलाभ इत्युच्यते । तस्यैष आत्माऽविद्यासंछन्नां स्वां परां तनुं स्वात्मतत्त्वं स्वरूपं विवृणुते प्रकाशयति प्रकाश इव घटादिर्विद्यायां सत्यामाविर्भवतीत्यर्थः । तस्मादन्यत्यागेनाऽऽत्मलाभप्रार्थनैवाऽऽत्मलाभसाधनमित्यर्थः ॥३॥

न बहुना श्रुतेनेति । 'उपनिषद्विचार[3]व्यतिरिक्तेनेत्यर्थः । तेन वरणेनेति कथं व्याख्यातं यत्तदोर्भिन्नार्थत्वं साधनविवक्षायाः प्रस्तुतत्वादित्यर्थं[4] ब्रूमः । परमात्माऽस्मीत्यभेदानुसंधानं वरणम् । तेन वरणेनैष आत्मा लभ्यो भवति । बहिर्मुखेन(ण) तु शतशोऽपि श्रवणादौ क्रियमाणे न लभ्यते । अतः परमात्माऽस्मीत्यभेदानुसंधानं परमात्मभजनं पुरस्कृत्यैव श्रवणादि संपादनीयमिति भावः । अथवाऽयमेव परमात्मानं वृणुते तेन परमात्मना मुमुक्षुरूपव्यवस्थितेन वरणेनाभेदानुसंधानलक्षणेन प्रार्थनेन[5] कृत्वा लभ्यः परमात्मैव मुमुक्षुरूपव्यवस्थित इत्यभेदानुसंधानेनैव लभ्यो न कर्मणेत्यर्थः ॥३॥

कारण कामनायें हैं । वे संपूर्ण कामनायें पर्याप्तकाम कृतात्मा पुरुष के इस वर्तमान देह में ही नष्ट हो जाती हैं । अतः जन्म के हेतुभूत कर्म एवं उसके कारण कामनाओं के सर्वथा विनाश हो जाने से उस तत्त्ववेत्ता में कामनायें उत्पन्न होती ही नहीं हैं । अतएव तत्त्वज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता । यह इसका अभिप्राय है ॥२॥

इस प्रकार यदि सभी लाभ से आत्मलाभ श्रेष्ठ है तो आत्मलाभ के लिये प्रवचन आदि साधन विशेष रूप से करना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर श्रुति यह कहती है कि जो यह आत्मा बतलाया गया जिसकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ का हेतु है । वह प्रकृत आत्मा वेदशास्त्र के अध्ययन बाहुल्य रूप प्रवचन से प्राप्त होने योग्य नहीं है । दिन-रात वेद-शास्त्रों का अध्ययन करना ही प्रवचन कहा गया है । ऐसे प्रवचन से वह आत्मा प्राप्त नही हो सकता । वैसे ही ग्रन्थ के अर्थ को धारण करने की शक्ति का नाम मेधा है । ऐसी

---

१. तल्लाभायेति तर्हीति शेषः । २. नान्येन साधनान्तरेणेति साधनान्तरस्यान्यत्वमनात्मविषयत्वमित्यवधेयम् । ३. श्रवणं हि विचारस्तत आह उपनिषद्विचारेति । ४. इत्यर्थमिति तेनेत्यस्य वरणेनेत्यर्थत्यर्थः । ५. प्रार्थनस्य करणत्वसूचनायैव कृत्वेति वाचो युक्तिरित्यवधेयम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

[यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न पुत्रादि में आसक्तिरूप प्रमाद से ही लक्ष्य है । अथवा न संन्यास रहित तपस्या से ही यह प्राप्तव्य है । किन्तु जो विद्वान् इन उपायों से उस प्राप्ति के योग्य आत्मतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है निश्चय उसका यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है ॥४॥]

आत्मप्रार्थनासहायभूतान्येतानि च साधनानि बलाप्रमादतपांसि लिङ्गयुक्तानि संन्यास-सहितानि । यस्मादयमात्मा बलहीनेन बलप्रहीणेनाऽऽत्म[1]निष्ठाजनितवीर्यहीनेन न लभ्यो नापि लौकिकपुत्रपश्वादिविषयसङ्गनिमित्तप्रमादात्[2] । तथा तपसो वाऽप्यलिङ्गालिङ्ग-रहितात् । तपोऽत्र ज्ञानम् । लिङ्गं संन्यासः संन्यासरहिताज्ज्ञानान्न लभ्यत इत्यर्थः । एतैरु-पायैर्बलाप्रमादसंन्यासज्ञानैर्यतते तत्परः सन्प्रयतते यस्तु विद्वान्विवेक्यात्मवित्तस्य विदुष एष आत्मा विशते संप्रविशति ब्रह्मधाम ॥४॥

वीर्यमिति(मत्र) मिथ्याज्ञानानभिभाव्यतालक्षणोऽतिशयः । अलिङ्गादिति कथम् । इन्द्र-जनकगार्गीप्रभृतीनामप्यात्मलाभश्रवणात् । सत्यम् । संन्यासो नाम सर्वत्यागात्मकस्तेषामपि 'स्वत्वाभि-

मेधा से वह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता और न अधिकाधिक श्रवण करने से ही वह आत्मा प्राप्त हो सकता है, तो फिर किस उपाय से वह आत्मा प्राप्त है ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि जिस परमात्मा का यह विवेक आदि साधन संपन्न साधन प्राप्त करना चाहता है उस वरणरूप प्रार्थना से ही यह परमात्मा प्राप्त हो सकता है, अन्य साधनों से नहीं ; क्योंकि वह नित्य प्राप्त स्वरूप है। उक्त साधक को किस प्रकार का यह आत्मलाभ होता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि आत्म-प्राप्ति की इच्छा वाले साधक के सामने यह परमात्मा अविद्या से आवृत अपने परमार्थ स्वरूप को वैसे ही प्रकाशित कर देता है, जैसे घटादि विषयाकार वृत्ति में घटादि विषय आविर्भूत हो जाते हैं, अर्थात् प्रकाशित हो जाते हैं । अतः अन्य बाह्य साधनों का परित्याग कर आत्मलाभ की प्रार्थना ही आत्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है । इस मंत्र में उपनिषद् से भिन्न विषयों के श्रवण का ही निषेध किया है; उपनिषद् श्रवण का नहीं एवं उपनिषद् के अतिरिक्त ग्रंन्थार्थ धारण की शक्ति तथा अध्ययन का निषेध किया गया है। अतः शमदमादि साधन संपन्न पुरुष "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार अनुसंधान रूप परमात्मभक्ति पूर्वक वेदांत का श्रवणादि संपादन करे । अभेदानुसंधान पूर्वक श्रवण को ही इस मंत्र में प्रार्थना शब्द से कहा गया है । और ऐसे अनुसंधान को ही परमात्मप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन कहा गया है ॥३॥

उक्त आत्म प्रार्थना के सहायक बल, प्रमाद, त्याग और लिङ्गयुक्त तपरूप साधन बतलाये गये हैं। अतः यह आत्मा आत्मनिष्ठा जनित सामर्थ्य से शून्यरूप बलहीन व्यक्ति द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न लौकिक पुत्र-पशु आदि विषयों में आसक्ति के कारण प्रमाद से ही प्राप्त हो सकता है। वैसे ही लिङ्ग रहित केवल तप से भी आत्मा प्राप्त नही हो सकता । यहाँ पर ज्ञान को तप और संन्यास को लिङ्ग

१. आत्मनि निष्ठाश्रवणादि लक्षणोऽनन्यव्यापारस्तज्जनितेत्यर्थः । २. आत्मनिष्ठाप्रच्युतिलक्षणादित्यर्थः ।
४. स्वत्वाभिमानाभावादिति—यस्य मे नास्ति किंचनेति ह्युक्तम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति ॥५॥

[इस आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानकर आत्मदर्शी ऋषिगण ज्ञान से तृप्प, कृतकृत्य, वीतराग और उपरत इन्द्रिय हो जाते हैं । वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापक ब्रह्म को सर्वत्र प्राप्त कर (प्रारब्ध क्षय होने पर मृत्यु काल में समाहितचित्त होकर उपाधि से अपरिछिन्न) सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं (जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है) ॥५॥]

कथं ब्रह्म संविशत इत्युच्यते । संप्राप्य समवगम्यैनमात्मानमृषयो दर्शनवन्तस्तेनैव ज्ञानेन तृप्ता न बाह्येन तृप्तिसाधनेन शरीरोपचयकारणेन । कृतात्मानः परमात्मस्वरूपेणैव निष्पन्नात्मानः सन्तः । वीतरागा विगतरागादिदोषाः । प्रशान्ता उपरतेन्द्रियाः । त एवंभूताः सर्वगं सर्वव्यापिनमाकाशवत्सर्वतः सर्वत्र प्राप्य नोपाधिपरिच्छिन्नेनैकदेशेन । किं तर्हि तद्ब्रह्माद्वयमात्मत्वेन प्रतिपद्य धीरा अत्यन्तविवेकिनो युक्तात्मानो नित्यसमाहितस्वभावाः सर्वमेव समस्तं शरीपातकालेऽप्याविशन्ति[1] भिन्ने घटे घटाकाशवदविद्याकृतोपाधिपरिच्छेदं जहति । एवं ब्रह्मविदो ब्रह्मधाम प्रविशन्ति ॥५॥

मानाभावादस्त्येवाऽऽन्तरः संन्यासो बाह्यं तु लिङ्गमविवक्षितम् "न लिङ्गं[2] धर्मकारणम्" इति स्मरणात् 'नैष्कर्म्यसाहित्यं[3] तु विवक्षितम्' ॥४॥५॥

शब्द से कहा गया है अर्थात् संन्यास रहित ज्ञान से यह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता । किन्तु इन बल, प्रमाद, त्याग तथा संन्यास युक्त ज्ञानरूप साधनों के द्वारा तत्पर हुआ विवेकी साधक जब प्रयत्न करता है तो ऐसे विद्वान् साधक का यह आत्मा ब्रह्म धाम में सम्यक् प्रकार से प्रवेश प्राप्त कर लेता है । अर्थात् इन पूर्वोक्त साधनों द्वारा प्रयत्नशील विवेकादि साधन संपन्न ब्रह्मात्मैक्य स्थिति रूप ब्रह्मधाम को सहज में प्राप्त कर लेता है ॥४॥

किस प्रकार ब्रह्म में प्रवेश करता है ? ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति कहती है कि इस आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानकर तत्त्वदर्शी ऋषि उस सम्यक् ज्ञान से ही तृप्त हो जाते हैं । शरीरवृत्ति के कारण किसी बाह्यतृप्ति के साधनों की अपेक्षा उन्हें नहीं रह जाती । परमात्मस्वरूप से ही अपने आपको जानने के कारण वे कृतात्मा हो चुके हैं रागादि दोष मिट जाने के कारण वे वीतराग हैं; एवं विषयों की इन्द्रियों से उपरत हो जाने के कारण प्रशांत हैं । ऐसे तत्त्ववेत्ता सभी ओर से सर्वत्र आकाश के समान व्यापक परमात्मा को प्राप्त कर सर्वरूप हो जाते हैं । वे उपाधि से परिच्छिन्न एकदेशेन

१. एवकारार्थमाह—अपीति । समस्तमपीत्यन्वयः ।

२. न लिङ्गं धर्मकारणमिति । क्वचिदन्तरेणापि लिङ्गं धर्मानुष्ठानसंभवाल्लिङ्गस्यासार्वत्रिकत्वाभिप्रायमेतत्सर्वथाऽकारणत्वे तद्विधानानुपपत्तेः । न च व्यवहारार्थमेव तत् धर्मानुष्ठानमुद्दिश्यैव सलिङ्गाश्रमविधानात् । व्यहारमात्रार्थत्वे चात्र परमार्थोद्देशेऽपरामृश्यत्वात्तन्मात्रार्थस्य नामकरणादेरत्राविधानात्तस्य स्मृतिपुराणादिविषयत्वात्तस्य चेह तपसो वाप्यलिङ्गादेतैरुपायैरिति विधित्सितत्वात् । मुख्यानां वैराग्यादिसाधनानामुद्बोधकत्वाद्वा लिङ्गस्य गौणत्वाभिप्रायमेव तत्रतु धर्मत्वसामानाधिकरण्येनाप्यहेतुत्वाभिप्रायं लिङ्गविधिवैयर्थ्यादित्यवधेयम् । वैयर्थ्यादिति तदापत्तेरित्यर्थः । ३. काम्यनिषिद्धवर्जनं नैष्कर्म्यम् । ४. मु. उ. ३-४-५ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

[वेदान्त के विचार से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा जिन्होंने ज्ञातव्य परमात्मा का भली प्रकार से निश्चय कर लिया है, वे (ब्रह्मनिष्ठा स्वरूप) संन्यास योग से युक्त विशुद्धसत्व पुरुष ब्रह्मलोक में शरीर त्यागते समय अत्यन्त उत्कृष्ट, अमरणधर्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं और फिर वे सभी ओर से मुक्त हो जाते हैं ॥६॥]

किंच वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः [1]परमात्मा [2]विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च संन्यासयोगात्सर्वकर्मपरित्यागलक्षणयोगात्केवलब्रह्मनिष्ठास्वरूपाद्योगाद्यतयो यतनशीलाः शुद्धसत्त्वाः शुद्धं सत्त्वं येषां संन्यासयोगात्ते शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु। संसारिणां ये मरणकालास्ते[3]ऽपरान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देहपरित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन्परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद्दृश्यते प्राप्यते वा। अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः। परामृताः परममृतममरणधर्मकं ब्रह्माऽऽत्मभूतं येषां ते परामृता जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परामृताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात्प्रदीपनिर्वाणवद्घटाकाशवच्च निर्वृतिमुपयान्ति। परिमुच्यन्ति परि समन्तान्मुच्यन्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते।

प्रदीपस्य वर्तिकृतावच्छेदध्वंसे यथा तेजःसामान्यतापत्तिस्तद्वदित्याह—प्रदीपनिर्वाणवदिति।

परमात्मा को प्राप्त नहीं करते किन्तु वे अद्वय ब्रह्मको ही आत्मरूप से जानकर अत्यन्त विवेकी नित्य समाहित स्वभाव वाले धीर पुरुष इस वर्तमान शरीरपात् काल में भी सर्वात्मा परमात्मा में ही प्रवेश करते हैं। जैसे घड़े के नष्ट हो जाने पर घटाकाश महाकाश में प्रवृष्ट हो जाता है वैसे ही अविद्याकृत स्थूल-सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि परिच्छेद को वह तत्त्ववेत्ता छोड़ देते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मधाम में सम्प्रविष्ट हो जाते हैं। जैसे कोई बाहर से चल कर गृह में प्रवेश करता हो, उस प्रकार से तत्त्वज्ञानी ब्रह्म में प्रवेश नहीं करता किन्तु घट के टूटने पर घटाकाश जैसे महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही उपाधि परिच्छेद के टूटते ही उपहित आत्मा अनुपहित शुद्ध चैतन्य भाव में प्रविष्ट हो जाता है ॥५॥

और वेदांत प्रमाण जन्य विज्ञान को वेदान्त विज्ञान कहते हैं। उसका विषय परमात्मा विज्ञेय कहा गया है। ऐसा परमात्मारूप अर्थ जिन्हें अच्छी प्रकार से निश्चन हो चुका है, वे वेदांत-विज्ञान-सुनिश्चितार्थ कहे जाते हैं। सर्व कर्म परित्याग कर केवल ज्ञाननिष्ठा स्वरूप को संन्यास योग कहते हैं। ऐसे संन्यास योग द्वारा पूर्वोक्त तत्त्ववेत्ता यत्नशील एवं संन्यास योग से ही जिन्होंने अपने अन्तःकरण को सर्वथा निर्मल बना रखा है। वे ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त हो जाते हैं और संसारियों के जो मरण

१. परमात्मा-परस्मादभिन्न आत्मेत्यर्थः। २. विज्ञयो विषयः। ३. अपरान्ता न परमा अन्तकालाः प्रागभावाधिकरणत्वादिति भावः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"शकुनीनामिवाऽऽकाशे जले वारिचरस्य च ।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवतां गतिः" ।।

"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यो देशपरिच्छिन्ना हि [1]गतिः [2]संसारविषयैव । परिच्छिन्नसाधनसाध्यत्वात् । ब्रह्म तु समस्तत्वान्न देशपरिच्छेदेन गन्तव्यम् । यदि हि देशपरिच्छिन्नं ब्रह्म स्यान्मूर्तद्रव्यवदाद्यन्तवदन्याश्रितं सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात् । न त्वेवंविधं ब्रह्म भवितुमर्हति । अतस्तत्प्राप्तिश्च नैव देशपरिच्छिन्ना भवितुं युक्ता । अपि चाविद्यादिसंसारबन्धापनयनमेव मोक्षमिच्छन्ति ब्रह्मविदो न[3] तु कार्यभूतम् ।।६।।

पदं पादन्यासप्रतिबिम्बं न दृश्येताभावादेवेत्यर्थः । अध्वस्विति । [4]संसाराध्वनां पारयिष्णवः पारयितुं समापयितुमिच्छन्तीति समाप्तिकामा अनध्वगा भवन्तीत्यर्थः । तर्कतोऽपीहैव मोक्षो वक्तव्य इत्याह—देशपरिच्छिन्न हीत्यादीना ।।६।।

काल कहे गये हैं वे अपरान्तकाल माने जाते हैं। उनकी अपेक्षा मोक्षाभिलाषियों के संसारावसान में देह-परित्यागकाल को परान्तकाल कहा गया है। ऐसे परान्तकाल में पूर्वोक्त सभी तत्त्ववेत्ता सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। यद्यपि ब्रह्मलोक एक है, फिर भी साधकों की अनेकता के कारण एक ब्रह्मलोक ही अनेक जैसा दीखता है और प्राप्त भी होता है । साथ ही ब्रह्मलोक पद में कर्मधारय समास माना है, षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं माना । इसलिये ब्रह्म को ही ब्रह्मलोक कहते हैं; न कि ब्रह्मलोक ब्रह्म से भिन्न है। ऐसी स्थिति में 'ब्रह्मलोकेषु' इस पद में बहुवचन साधकों की अनेकता के कारण से दिया गया है। अतः 'ब्रह्मलोकेषु' इस पद का अर्थ 'ब्रह्म में' करना चाहिये। अमरण धर्म ब्रह्म जिन्हें जीवन काल में ही आत्मरूप से प्रतीत होने लग गया वे जीवित ही "परामृताः" यानी ब्रह्मभूत कहे जाते हैं, ऐसे तत्त्ववेत्ता दीपक निर्वाण के समान और घटाकाश का महाकाश में विलीन होने के समान सभी ओर से निवृत्ति को प्राप्त कर जाते हैं। अर्थात् वे सब के सब देशान्तर गन्तव्य की अपेक्षा नहीं करते; किन्तु घटाकाश का महाकाश में विलीन के समान उपाधि के हटते ही निर्विशेष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाते हैं यानी विदेह कैवल्य को प्राप्त कर जाते हैं । 'जैसे आकाश में पक्षियों के पदचिह्न एवं जल में जलचरों के पद चिह्न नहीं दिखाई देते वैसे ही ब्रह्मतत्त्व-ज्ञानी की गति समझ में नहीं आती'। 'संसार से पार जाने की इच्छा वाले आप्तकाम पुरुष संसार मार्ग में नहीं चलते' इस प्रकार श्रुति और स्मृति ने भी देश से परिच्छिन्न गति को संसार विषयक ही माना है, क्योंकि देश परिच्छिन्न लोकादिकी सिद्धि परिच्छिन्न साधनों से ही होती है। ब्रह्मवेत्ता सर्वरूप होने के कारण देश परिच्छिन्न नहीं है। अतएव उसकी प्राप्ति के लिये देश परिच्छेद पूर्वक गति नहीं होती, और यदि ब्रह्मदेश से परिच्छिन्न हो तो मूर्त्तद्रव्य के समान आदि-अंतवाला अविनाशी हो जायेगा । सावयव वस्तु अपने किसी अन्य अवयव के आश्रित रहा करती है एवं कृति जन्य पदार्थ अनित्य होता है, किन्तु ब्रह्म को ऐसा नहीं कह सकते। अतः उसकी प्राप्ति देश परिच्छन्न कहना युक्ति-युक्त नहीं है। इसीलिये

---

१. गतिः फलम् । २. संसारविषयैवेति—संसारान्तर्गतैवेत्यर्थः । ३. तदपि नात्मातिरिक्तमित्याशयेनाह—नत्वित्यादि । ४. संसाराध्वनामिति । षष्ठ्यर्थसप्तम्यभिप्रायम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥७॥

[(देह के आरम्भक प्राणादि) पन्द्रह कलायें अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों की अधिष्ठता सभी देवगण अपने प्रति देवता आदित्यादि में लीन हो जाते हैं। उसके संचिदादि कर्म और विज्ञानमय आत्मा ये सभी अविनाशी परमात्म देव में एकता को प्राप्त कर लेते हैं। (मानो घटस्थ जलगत आदित्य प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य विम्ब को प्राप्त हो गये हों) ॥७॥]

किंच मोक्षकाले या देहारम्भिकाः कलाः प्राणाद्यास्ताः स्वां स्वां प्रतिष्ठां गताः स्वं स्वं कारणं गता भवन्तीत्यर्थः। प्रतिष्ठा इति द्वितीयाबहुवचनम्। पञ्चदश [1]पञ्चदशसंख्याका या अन्त्यप्रश्नपरिपठिताः प्रसिद्धा देवाश्च देहाश्रयाश्चक्षुरादिकरणस्थाः सर्वे प्रति देवतास्वा[2]दित्यादिषु गता भवन्तीत्यर्थः। यानि च मुमुक्षुणा कृतानि कर्माण्यप्रवृत्तफलानि

[3]स्वाः प्रतिष्ठाः प्रति गता भवन्तीति [4]भूतांशानां [5]भौतिकानां च महाभूतेषु लयो दर्शितः। अन्त्यप्रश्नेति। ब्राह्मणग्रन्थे षष्ठप्रश्ने प्राणाद्या याः कलाः पठिता इत्यर्थः। [6]मायामयमहाभूतानामंशावष्टब्धैर्जीवाविद्यामयभूतसूक्ष्मैः [7]प्रातिस्विकैरदृष्टसहकृतैः प्रातिस्विकाः प्राणादय आरभ्यन्ते। ते च [8]कर्माक्षिप्तै र्देवैः [9]सूर्यादिभिरधिष्ठीयन्ते। कर्मणो भोगेनावसाने ते देवाः [10]स्वस्थानं गच्छन्ति। [11]यच्च प्रातिस्विकं स्वाविद्याकार्यं तच्च [12]सर्वं ब्रह्मैव संपद्यत इत्याह—यानि चेत्यादिना ॥७॥

अविद्यादि संसार बंधन की निवृत्ति को ही ब्रह्मज्ञानी मोक्ष कहते हैं। कार्य रूप किसी लोक की प्राप्ति को मोक्ष नहीं कहते हैं ॥६॥

मोक्षकाल में प्राणादि जो देह के आरंभक कलायें हैं, वे सभी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा यानी कारण में विलीन हो जाती हैं। 'प्रतिष्ठा' इस पद में द्वितीया विभक्ति का बहुवचन समझना चाहिये। प्रश्न उपनिषद् के षष्ठ प्रश्न में जो पन्द्रह संख्यावाली कलायें प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का ग्रहण पंचदश कला, इस वाक्य से

१. अनन्तं वै नामेति श्रुतेर्मुक्तस्यापि वामदेवादेर्नामानुवृत्तेस्तद्व्यतिरिक्ता इत्याशयेनाह—पञ्चदशेति। २. प्रतिष्ठाभूतादेवताः प्रतिदेवताः ताश्च सूर्यादयस्ततो हि प्रतिष्ठन्ते शक्त्यंशा इत्याशयेनाह—आदित्यादिष्विति।
३. नन्वाद्यान्त्यवाक्याभ्यां द्विरुक्तो लयः कथमित्याशङ्क्याद्येन सान्वयोऽन्त्येन तु निरन्वयो नाश उच्यत इति वाक्यविषयं विविनक्ति—स्वा इत्यादिना। ४. भूतांशानामिति जीवाविद्यामयभूतसूक्ष्मावष्टम्भकानां मायामयमहाभूतांशानामित्यर्थः। ५. भौतिकानामिति अवष्टम्भकभूतांशकार्यभागानामित्यर्थः।
६. नह्यधिकसत्ताकमनालम्ब्यन्यूनसत्ताकमवतिष्ठते न ह्यैन्द्रजालिको लोष्टपाषाणादिकिञ्चिदीश्वरसृष्टमनादायैव किञ्चित्सृजतीति दृष्टं स्वाप्नश्च प्रपञ्चो व्यवहारसिद्धमनोऽवष्टब्ध एवावभासत इत्यभिप्रेत्याह—मायामयेत्यादि।
७. प्रातिस्विकैरिति। प्रतिजीवमविद्याभेदोऽभ्युपगतो भवति। ८. कर्माक्षिप्तैः कर्माऽऽनीतैस्तदावर्जितैरिति यावत्।
९. सूर्यादिभिरिति तच्छक्त्यंशैरिति यावत्। १०. स्वस्थानमिति यत आवर्जितास्तदित्यर्थः। ११. यच्च प्रातिस्विकं स्वाविद्येत्यादि—एतेन विद्यया प्रातिस्विक्यविद्यैव निवर्तते न तु माया येनेतरेषां प्रपञ्चोपलम्भो न स्यादिति ध्वन्यते। न चैवं मुक्तोपसृप्यमेव ब्रह्म चेत्समायं तस्य तर्हि सा किं मुक्तिरिति शङ्कितव्यं ब्रह्मण्यतात्त्विकमायाया अविद्यावतैव दृश्यत्वेनाविद्यदृशा समायत्वेपि सविद्यानां निर्मायत्वात्। सान्वयलयोक्तिस्तु पुरस्ताद्व्यवहारिदृशैवेत्यवधेयम्। १२. सर्वं नाम्नः स्वेतरव्यवहर्त्रविद्याकार्यत्वात्तदवशेष इति ध्येयम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रवृत्तफलानामुपभोगेनैव क्षीयमाणत्वाद्विज्ञानमयश्चाऽऽत्माऽविद्याकृत[1]बुद्ध्याद्युपाधिमात्म-[2]त्वेन मत्वा जलादिषु [3]सूर्यादिप्रतिबिम्बवदिह प्रविष्टो देहभेदेषु [4]कर्मणां तत्फलार्थत्वात्सह[5] तेनैव विज्ञानमयेनाऽऽत्मना। [6]अतो विज्ञानमयो [7]विज्ञानप्रायः। त एते कर्माणि विज्ञानमयश्चाऽऽत्मोपाध्यपनये सति परेऽव्ययेऽनन्तेऽक्षये ब्रह्मण्याकाशकल्पेऽजेऽजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेबाह्येऽद्वये शिवे शान्ते सर्व एकी भवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्येकत्वमापद्यन्ते जलाद्याधारापनय इव सूर्यादिप्रतिबिम्बाः सूर्ये घटाद्यपनय इवाऽऽकाशे घटाद्याकाशाः ॥७॥

किया गया है। और देह के आश्रित नेत्र आदि इन्द्रियों में स्थित जो सभी देव हैं वे अपने समष्टि आदित्यादि में विलीन हो जाते हैं। और मुमुक्षुओं के द्वारा किये गये सभी संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म का तो भोग से ही नाश होता है, एवं अविद्याकृत बुद्धि आदि उपाधियों को अपने आत्मरूप से मानकर जलादि में जैसे सूर्य का प्रतिबिंब प्रविष्ट होता है, वैसे ही देह में आत्मा प्रविष्ट है। उस विज्ञानमय आत्मा के साथ ही परमात्मा का प्रवेश देह विशेष में बतलाया गया। सर्व सामान्य देह में केवल कर्म-फल का भोग होता है और मनुष्य देह में भोग के साथ नूतन कर्म भी होते रहते हैं। यही अन्य शरीर की अपेक्षा मनुष्य देह में विशेषता है। इस पुरुष को विज्ञानमय इसलिये कहा गया है कि इसमें ज्ञान की बहुलता है। वे सभी कर्म और विज्ञानमय आत्मा उपाधि के हटते ही देशकाल वस्तुकृत अंत से रहित, आकाश के सदृश अजन्मा, अजर, अन्तरबाह्यशून्य, अमृत, भय रहित, व्यवधान शून्य, अद्वितीय, शान्त, कल्याण स्वरूप, अक्षय परमात्मा में एकीभूत हो जाते हैं, अर्थात् अविशेष भाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे जल के आधार घटादि के नष्ट होते ही जलगत सूर्यादि के प्रतिबिंब सूर्य में मिल जाते हैं। और जैसे घटादि उपाधि के नष्ट होते ही घटादि से अविच्छिन्न आकाश महाकाश में मिल जाते हैं; ठीक वैसे ही पूर्वोक्त पंचदश कला, सभी देवता, कर्म और जीवात्मा परमात्मा के साथ अभेद-भाव प्राप्त हो जाते हैं ॥७॥

और जैसे निरन्तर बहने वाली गंगादि नदियाँ समुद्र को प्राप्त कर अपने नाम रूप का परित्याग कर समुद्र में अभिन्न हो जाती हैं; वैसे ही तत्त्ववेत्ता अविद्याकृत नामरूपादि संपूर्ण संसार से मुक्त हो दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है। जो दिव्य पुरुष पूर्वोक्त अक्षर ब्रह्म से पर और जिसका लक्षण पहले बतला आये हैं ऐसे परात्पर दिव्य पुरुष को तत्त्वज्ञानी सहज में प्राप्त कर लेता है ॥८॥

शंका:—अच्छे कार्यों में अनेक विघ्न आते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। अतः अविद्यादि क्लेशों में किसी क्लेश द्वारा अथवा देवादियों के द्वारा विघ्न डालने पर ब्रह्मज्ञानी भी मरकर अन्य गति को प्राप्त करता है ब्रह्म को नहीं, एसी संभावना हो सकती है?

समाधान:- ऐसा कहना ठीक नहीं। ब्रह्मविद्या के द्वारा ही संपूर्ण विघ्नों का नाश हो जाता है।

---

१. बुद्ध्याद्युपाधिमिति साभासबुद्ध्यादिर्गृह्यते बुद्ध्यादिरुपाधिर्निमित्तं यस्येति तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्याश्रयणात्।
२. स एव विज्ञानमय साक्षिणस्ततोऽविवेकमाह—आत्मत्वेन मत्वेति। ३. स्वप्रतिबिम्बाक्राक्रान्ततोयतादात्म्यादमुं प्रविष्टः सूर्यादिरिवेति दृष्टान्तमाह—सूर्यादीत्यादिना। ४. प्रवेशनिबन्धनं बध्नाति-कर्मणामिति तस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वादिति यावत्। ५. साक्षिणः स्वतः प्रवेशभोक्तृत्वे वारयति सह तेनैवेति साभासबुद्ध्यादिना सहेत्यर्थः। तद्वारैवप्रविष्ट इति यावत्। ६. अत इति बुद्ध्याद्युपाधितादात्म्यादित्यर्थः। ७. प्राचुर्ये मयट्। प्राचुर्यं चेह प्राधान्यमित्याशयेन व्याचष्टे विज्ञानप्राय इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९॥

[जैसे गंगा आदि नादियाँ निरन्तर बहती हुईं समुद्र में पहुँचने पर अपने नाम रूप को त्याग कर अविशेष भाव को प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानी नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है ॥८॥ लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस विद्वान् के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह इष्ट वियोगजनित संताप को जीवित अवस्था में ही पारकर जाता है। धर्माधर्म रूप पाप को भी पारकर लेता है, एवं आत्मा और अनात्मा के अध्यास रूपी हृदय ग्रंथियों से छूटकर अमर हो जाता है ॥९॥]

किंच यथा नद्यो गङ्गाद्याः स्यन्दमाना गच्छन्त्यः समुद्रे समुद्रं प्राप्यास्तमदर्शनमविशेषात्मभावं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूपं च नामरूपे[1] विहाय हित्वा तथाऽविद्याकृतनामरूपाद्विमुक्तः सन्विद्वान्परादक्षरात्पूर्वोक्तात्परं दिव्यं पुरुषं यथोक्तलक्षणमुपैत्युपगच्छति[2] ॥८॥

ननु श्रेयस्यनेके विघ्नाः प्रसिद्धा[3] अतः क्लेशानामन्यतमेनान्येन[4] वा देवादिना[5] च विघ्नितो ब्रह्मविदप्यन्यां गतिं मृतो गच्छति न ब्रह्मैव। न। विद्ययैव[6] सर्वप्रतिबन्धस्यापनीतत्वात्। अविद्याप्रतिबन्धमात्रो हि मोक्षो नान्यः प्रतिबन्धः। नित्यत्वादात्मभूतत्वाच्च[7][8]। तस्मात्स यः कश्चिद्ध वै लोके तत्परमं ब्रह्म वेद साक्षादहमेवास्मीति स नान्यां गतिं गच्छति। देवैरपि तस्य ब्रह्मप्राप्तिं[9] प्रति विघ्नो न शक्यते कर्तुम्। आत्मा ह्येषां स[10]

॥८॥ ॥९॥

मोक्ष का प्रतिबंधक केवल अविद्या ही है, अन्य प्रतिबंधक नहीं हैं, क्योंकि मोक्ष नित्य तथा आत्मरूप है। इसलिये वह जो कोई भी ब्रह्मज्ञानी इस लोक में साक्षात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार से उस परब्रह्म को जान लेता है वह अन्य गति को प्राप्त नही करता। देवता भी उसे ब्रह्म प्राप्ति में विघ्न नहीं कर सकते। क्योंकि वह तत्त्ववेत्ता इन देवताओं की भी आत्मा है। अतः ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। इतना ही नहीं; बल्कि इस ब्रह्मज्ञानी के वंश में कोई अब्रह्मवित् पैदा नहीं होता और अनेक इष्ट

---

१. नामरूपेति—तत्र नाम्न्यभिमानविच्छेद एव तत्त्याग इत्यवधेयम्। मु.उ.२.१.भाष्ये। २. यथोक्तलक्षणमिति-दिव्यो ह्यमूर्त इत्यादावुक्तलक्षणमित्यर्थः।

३. प्रसिद्धा इति। तथा च प्रसिद्धिः—श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपीति। ४. क्लेशानामिति आविद्याऽस्मितादीनामित्यर्थः। ५. देवादीनामिति। एषां तत्र प्रियं यदेतन्मनुष्या विधुरिति श्रुतेरिति भावः। ६. विद्यापनेयसर्वप्रतिबन्धं स्फुटयति—अविद्येत्यादिना। ७. नित्यत्वादुत्पत्त्यभावेनोत्पत्तौ प्रतिबन्धाभावः। ८. आत्मभूतत्वेन च नित्यप्राप्तत्वात् प्राप्तौ तदभाव इति भावः। ९. विद्योदयं प्रत्येव देवादिविघ्ना इत्याशयेनाह—ब्रह्मप्राप्तिं प्रतीति। १०. श्रुतिमाह—आत्मा ह्येषां सभवतीति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत इत्यादिः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

[यही बात आगे की ऋचा में कही गई है, जो क्रियावान् श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ स्वयं श्रद्धा से युक्त हो एकर्षि नामक अग्नि में हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने (अथर्ववेदियों का प्रसिद्ध शिर पर अग्नि धारण करना रूप) शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये दूसरे से नहीं ॥१०॥]

भवति । तस्माद्ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैव भवति । किंच नास्य विदुषोऽब्रह्मवित्कुले[1] भवति । किंच तरति शोकमनेकेष्टवैकल्य[2]निमित्तं मानसं संतापं जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति । तरति पाप्मानं धर्माधर्माख्यं गुहाग्रन्थिभ्यो हृदयाविद्याग्रन्थिभ्यो[3] विमुक्तः सन्नमृतो भवतीत्युक्तमेव भिद्यते[4] हृदयग्रन्थिरित्यादि ॥९॥

अथेदानीं ब्रह्मविद्यासंप्रदानविध्युपप्रदर्शनेनोपसंहारः क्रियते । तदेतद्विद्यासंप्रदानविधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितम् । क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानयुक्ताः[5] । श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्म बुभुत्सवः स्वयमेकर्षिमेकर्षिनामानमग्निं जुह्वते जुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्दधानाः सन्तो ये तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानामेतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयाच्छिरोव्रतं शिरस्यग्निधारणलक्षणम् । यथाऽऽथर्वणानां[6] वेदव्रतं[7] प्रसिद्धम् । यैस्तु यैश्च तच्चीर्णं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव च ॥१०॥

एतद्ग्रन्थद्वारकविद्याप्रदानेऽयं विधिराथर्वणिकानामिति प्रकृतपरामर्शकादेतच्छब्दादवगम्यते 'ग्रन्थद्वारेण विद्यायाः प्रकृतत्वसंभवान्न सर्वत्र' ब्रह्मविद्या[9]संप्रदानमिति[10] सूचयन्नाह—एतां ब्रह्मविद्यां वदेतेति ॥१०॥

वस्तुओं के वियोग से होने वाले मानस ताप को वह जीवित दशा में ही पार कर जाता है। पुण्य-पाप रूप जन्म के हेतुभूत पाप को भी नष्ट कर डालता है। हृदयस्थ अविद्या ग्रंथि से छूटा हुआ वह जीवन-मुक्त पुरुष अमरत्व एवं विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। यही बात 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मंत्र से कही जा चुकी है ॥९॥

अब ब्रह्मविद्या प्रदान करने तथा ग्रहण करने की विधि उपदर्शन द्वारा उपसंहार किया जाता

---

१. कुले शिष्यादिवंशे पुत्रादिवंशे चेत्यर्थः । २. वैकल्यं वियोगः । ३. अविद्याग्रन्थिभ्योऽविद्यावासनाप्रचयेभ्यः । ४. मु. उ. २-२-८ । ५. यथोक्तकर्मेति । निष्कामकर्मविवक्षितम् । ६. सम्प्रदायज्ञतयाऽऽह—यथेत्यादि । एतेन शिरसा गुर्वाज्ञाधारणमेव शिरोव्रतमित्यादिप्रलपन्तो बाह्याः पराहता वेदितव्याः । ७. वेदव्रतम्—शिरस्याग्निधारणात्मकमेव वेदाध्ययमाङ्गं व्रतम् । ८. विद्या हि वाक्योत्थवृत्तिर्न च सा प्रकृतेति कथमेतच्छब्दपरामृश्येत्याशङ्क्याह—ग्रन्थेति । ९. सर्वत्रेति—सर्वोपनिषदीयेत्यर्थः । १०. सम्प्रदानमिति—एतद्विधानमपेक्षत इति शेषः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः ३ ॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

[उस इस अक्षर पुरुष सत्य को अंगिरा नामक ऋषि ने पूर्वकाल में (विधिपूर्वक अपने समीप आये हुए शौनक जी से) कहा था। जिसने शिरोव्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया वह इस विद्या का अध्ययन नहीं कर सकता है। परमर्षियों को नमस्कार है, परमर्षियों को नमस्कार है, द्विरुक्ति आदरर्थ है ॥११॥]

॥ इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

तदेतदक्षरं पुरुषं[1] सत्यमृषिरङ्गिरा नाम पुरा पूर्वं शौनकाय विधिवदुपसन्नाय पृष्टवत उवाच। तद्वदन्योऽपि तथैव श्रेयोर्थिने मुमुक्षवे मोक्षार्थं विधिवदुपसन्नाय ब्रूयादित्यर्थः। नैतद्ग्रन्थरूपमचीर्णव्रतोऽचरितव्रतोऽप्यधीते[2] न पठति। चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय ॥११॥

है। वेदमंत्र द्वारा उस विद्या के संप्रदान का विधान प्रकाशित किया गया है अर्थात् इस मुण्डक उपनिषत् में कही गयी ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये कुछ विशेष साधन अपेक्षित हैं। उसे मंत्र द्वारा कहा गया है। जो शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से युक्त क्रियावान् हैं, जिन्होंने अंग सहित वेदों का अध्ययन कर रखा है, एवं अपर ब्रह्म में जिनकी निष्ठा है, और परब्रह्म को जानना चाहते हैं 'ऐसे श्रद्धालु पुरुष स्वयं एकर्षिनाम अग्नि में हवन करते हैं'। उस विशुद्ध अन्तःकरण वाले ब्रह्मविद्या के पात्र साधक को ही इस मुण्डकोक्त ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। साथ ही शिर पर अग्नि का धारण करना रूप शिरोव्रत जिन्होंने किया है। आथर्वणिकों के लिये उक्त शिरोव्रत वेदाध्ययन के लिये प्रसिद्ध है। ऐसे शिरोव्रत का शास्त्र विधि से जिन्होंनें अनुष्ठान किया, उन्हीं को मुण्डकोक्त ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये।

इस मंत्र में कहे गये शिरोव्रत व्याख्यान से मुण्डक इस नाम का व्याख्यान भी समझ लेना चाहिये अर्थात् मुण्ड का अर्थ शिर होता है, उस पर अग्नि धारण करके इसका अभ्यास किये जाने के कारण ही इसे मुण्डक कहते हैं। अतः किसी-किसी व्याख्यानकार ने मुण्डक का अर्थ जो किया है कि इस विद्या को पढ़ने के लिये शिर का मुण्डन कराना आवश्यक है अथवा इसके पढ़ने वाले को अन्त में शिर मुड़ाना ही पड़ता है। यह कथन अनर्गल, प्रलाप और निराधार है। इसीलिये इस उपनिषत् की दीपिका नामक टीका में स्पष्ट रूप से लिख दिया कि 'शिर पर अग्निधारण करना व्रत के कारण से ही इस ग्रंथ का नाम मुण्डक पड़ गया ॥१०॥

---

१. पुरुषमुवाचेत्यन्वयः। २. माप्यधीत इति पाठान्तरम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृता भवतीति । समाप्ता ब्रह्मविद्या सा येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः पारम्पर्यक्रमेण संप्राप्ता तेभ्यो नमः परमऋषिभ्यः । परमं ब्रह्म [1]साक्षाद्दृष्टवन्तो ये ब्रह्मादयो[2]ऽवगतवन्तश्च ते परमर्षयस्तेभ्यो भूयोऽपि नमः । द्विर्वचनमत्यादरार्थं मुण्डकसमाप्त्यर्थं च ॥११॥

इति तृतीयमुण्डकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतावाथर्वणमुण्डकोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दज्ञानविरचितं मुण्डकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥

उसी इस सत्य अक्षर पुरुष का उपदेश बहुत प्राचीन काल में विधिपूर्वक शिष्य भाव से आकर प्रश्न करने वाले शौनक ऋषि से अंगिरा ऋषि ने किया था, ठीक वैसे ही आज अन्य भी तत्त्वज्ञानी उसी प्रकार कल्याण कामी मोक्ष के लिये विधि पूर्वक गुरु की शरण में आये हुए मुमुक्षु को बतलावें । यह इसका तात्पर्य है । जिसने पूर्वोक्त शिरोव्रत का अनुष्ठान नहीं किया वह इस ग्रंथ का अध्ययन भी नहीं कर सकता, क्योंकि शिरोव्रत अनुष्ठान से संस्कृत हुई विद्या ही फल देनें में उपयुक्त होती है । क्रमशः ब्रह्मा से लेकर शौनक पर्यन्त आयी हुई जो ब्रह्मविद्या है वह समाप्त हुई । इस विद्या की परंपरा में आये हुये ब्रह्मादि जिन सभी तत्त्ववेत्ताओं ने उस परतत्त्व ब्रह्म का साक्षात् दर्शन किया है, वे सब परम ऋषि हैं । ऐसी ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक परम ऋषियों को बारंबार नमस्कार है दोबार 'नमः परमऋषिभ्यः' इसका उच्चारण आदर के लिये और मुण्डकोपनिषत् की समाप्ति बतलाने के लिये किया गया है ॥११॥

इस प्रकार अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् की श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचित
शाङ्करभाष्य की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यकैलासपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि
कृत भाष्यार्थदीपिका नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।

॥ श्री शङ्करः प्रीयताम् ॥

---

१. साक्षाद्दृष्टवन्त इति यथाग्नि वाय्विन्द्रास्तथा च श्रुतिस्ते ह्येतन्नेदिष्ठं पस्पृशुरिति । २. अवगतवन्तश्च प्रत्यक्तयेत्यर्थः । यद्वा यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति श्रुतेरहमिति चात्मत्वेन साक्षाद्ब्रह्मसमानत्वेऽपि यथा नेतरेषां ब्रह्मत्वेन तदवगतिर्न तथा येषां ब्रह्मादीनामित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—अवगतवन्तश्चेति ।

स्वबोधशुद्धिकामेन विष्णुदेवेन भिक्षुणा ।
अधीत्याचार्यपादेभ्यष्टिप्पणं शुभमङ्कितम् ॥

इति श्रीशाङ्करभाष्योपेतमुण्डकोपनिषदः
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पति–
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता
गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीसमाप्तिङ्गता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant 2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection